शासन के सिद्धान्त

शासन के सिद्धान्त

डॉ. इकबाल नारायण, एम.ए., पी-एच.डी.

(पूर्व विभागाध्यक्ष राजनीति शास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय एवं कुलपति, राजस्थान, बनारस हिन्दू एवं उत्तर-पूर्वी पर्वतीय विश्वविद्यालय तथा सदस्य सचिव, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली)

वरिष्ठ सदस्य, विकास अध्ययन संस्थान, जयपुर

अनुक्रमणिका

1
संविधान

''संविधान उस जीवन पद्धति का प्रतीक होता है, जो किसी राज्य द्वारा अपने लिये अपनाई जाती है।''
—अरस्तू

दैनिक-जीवन में संविधान के अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'कान्स्टीट्यूशन' का प्रयोग हम मनुष्य के शरीर के ढाँचे और उसकी बनावट के लिए करते हैं। जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति निर्बल कान्स्टीट्यूशन का है अथवा अमुक व्यक्ति का कान्स्टीट्यूशन स्वस्थ है, तो हमारे कथन का तात्पर्य शरीर के ढाँचे, उसकी बनावट तथा उसके गठन से ही होता है। जिस प्रकार साधारण बोलचाल में कान्स्टीट्यूशन का अर्थ शरीर के ढाँचे और गठन से होता है, उसी प्रकार राजनीति-विज्ञान में कान्स्टीट्यूशन से तात्पर्य राज्य के ढाँचे तथा संगठन से होता है। इस प्रकार संविधान का तात्पर्य राज्य के ढाँचे, बनावट तथा संगठन से होता है। अधिक संयत भाषा में संविधान उन लिखित एवं अलिखित नियमों के संग्रह को कहा जाता है, जिनके द्वारा एक ओर राज्य का स्वरूप, गठन, कार्यक्षेत्र और अधिकार निर्धारित किये जाते हैं तथा दूसरी ओर नागरिकों के अधिकारों और कर्त्तव्यों तथा राज्य एवं नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या की जाती है। यह वह आधारभूत ढाँचा होता है, जिस पर राज्य का स्वरूप और शक्ति तथा नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्य निर्भर रहते हैं।

संविधान की परिभाषा

संविधान क्या होता है, और उसकी परिभाषा क्या है, इस विषय में राजनीति-विज्ञान के विभिन्न विचारकों ने विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं तथा विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। **गैटिल** के अनुसार, ''वे मौलिक सिद्धान्त जिनके द्वारा किसी राज्य का स्वरूप निर्धारित होता है, उसका संविधान कहलाते हैं। इनमें राज्य के संगठन की विधि, सरकार के विभिन्न अंगों में उसकी प्रभु-शक्ति का वितरण, सरकार के कार्यों का क्षेत्र तथा सम्पादन की विधि तथा सरकार और जिस पर सरकार की शक्ति का प्रयोग किया जाता है, उस जनता का

पारस्परिक सम्बन्ध सम्मिलित होता है। संविधान राज्य का निर्माण नहीं करता किन्तु वह उसके अस्तित्व का बाह्य स्वरूप होता है।''[1] **गिलक्राइस्ट** का कथन है कि ''संविधान उन लिखित या अलिखित नियमों अथवा कानूनों का समूह होता है, जिनके द्वारा सरकार का संगठन, सरकार की शक्तियों का विभिन्न अंगों में वितरण और इन शक्तियों के प्रयोग के सामान्य सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं।''[2] **हरमन फाइनर** ने लिखा है कि संविधान ''आधारभूत राजनीतिक संस्थाओं की व्यवस्था होती है।''[3] प्रोफेसर **डायसी** के अनुसार, ''वे सब कानून संविधान में सम्मिलित होते हैं, जिनका प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राज्य में प्रभुत्व-शक्ति के वितरण अथवा उसके प्रयोग पर पड़ता है।''[4] **वुल्से** के कथनानुसार, ''उन नियमों का समूह संविधान कहलाता है, जिनके अनुसार सरकार की शक्ति, शासित के अधिकार और दोनों के सम्बन्धों का समायोजन होता है।''[5] **लास्की** के शब्दों में, ''नियमों का वह भाग संविधान कहलाता है जिसके द्वारा यह निर्धारित होता है कि (1) ऐसे नियम कैसे बनाये जाएँ, (2) किस प्रकार वह बदले जायें, तथा (3) उन्हें कौन बनाये।''[6] **ब्राइस** के शब्दों में संविधान ''ऐसे निश्चित नियमों का एक संग्रह होता है,

---

1. "The fundamental principles that determine the form of a State are called its Constitution. These include the method by which the State is organised, the distribution of its sovereign power among the various organs of government, the scope and manner of exercise of governmental functions and relations of the government to the people over whom its authority is exercised. The Constitution does not create the State, but is outward formation of State existence."
—Gettle, *Introduction to Political Science*, p. 244.
2. "The Constitution of a State is that body of rules or laws, written or unwritten, which determines the organisation of government, the distribution of power to the various organs of government and the general principles on which these powers are to be exercised."
—Gilchrist, *Principles of Political Science*, p. 226
3. Constitution is a "System of fundamental political institutions."
—Finer, *Theory and Practice of Modern Governments*, Vol. I, p. 181.
4. "All rules which directly or indirectly effect the distribution or the exercise of the sovereign power in the State make up the Constitution of the State." —Dicey—Quoted by Ilyas Ahmed, *The Machinery of Government*, p.71.
5. "The collection of the principles according to which the powers of government, the rights of the governed, and the relations between the two are adjusted is called a Constitution." —Woolsey—Quoted by Ilyas Ahmed, *The Machinery of Government*, p. 71.
6. "................. And that portion of the rules which settles (1) how such rules are to be make, (2) the manner in which they are to be changed, (3) who are to make them, is called the Constitution of the State."
—Laski—Quoted by Ilyas Ahmed, *The Machinery of Government*, p. 71.

जिनमें सरकार की कार्यविधि प्रतिपादित होती है, और जिनके द्वारा उसका संचालन होता है।''[1] **चार्ल्स बर्गेण्ड** का कहना है कि ''संविधान एक आधारभूत कानून होता है, जिसके द्वारा किसी राज्य की सरकार संगठित की जाती है और जिसके अनुसार व्यक्तियों अथवा नैतिक नियमों का पालन करने वाले मनुष्यों तथा समाज के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित किये जाते हैं।''[2]

संविधान की उपर्युक्त परिभाषाओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान द्वारा राज्य की सरकार का स्वरूप तथा उसका संगठन निर्धारित किया जाता है। दूसरे शब्दों में, संविधान का कार्य यह निश्चित करना होता है कि अमुक राज्य की सरकार किस प्रकार की है, उसके कौन-कौनसे विविध अंग हैं, उनकी क्या-क्या शक्ति तथा कार्यक्षेत्र हैं तथा उनका क्या पारस्परिक सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त संविधान द्वारा यह भी निश्चित होता है कि शासन एवं शासितों का क्या सम्बन्ध है तथा इसके निर्धारण के लिए संविधान द्वारा सरकार की शक्ति तथा व्यक्ति के अधिकार निश्चित किये जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि **''संविधान राजकीय आचरण का विधान होता है, जो यह निर्धारण करता है कि राज्य में विविध अंगों का क्या आचरण हो। उसका सम्बन्ध राज्य की सरकार के स्वरूप, संगठन, शक्ति, विविध अंगों, उनके अधिकारों एवं कर्त्तव्यों और शासक एवं शासितों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा उनके अधिकारों एवं कर्त्तव्य की व्यवस्था से होता है।''**

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि संविधान लिखित (written) तथा अलिखित (unwritten) दोनों ही प्रकार का हो सकता है। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन में बहुत-से कानून जिनका सम्बन्ध सरकार की शक्ति एवं कार्यक्षेत्र से है, अलिखित हैं और वे परम्पराओं और प्रथाओं के रूप में हैं। इस प्रकार संविधान के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी विशेष स्थान अथवा समय पर बनाया गया हो अथवा किसी विशेष आलेख के रूप में हो। किसी स्थान अथवा समय विशेष पर बनाया हुआ न होकर वह विकसित भी हो सकता है। जैसा प्रोफेसर **स्ट्रॉङ्ग** का कथन है, ''संविधान एक विचारपूर्ण लिखित रचना हो सकती है; वह एक ऐसे आलेख के रूप में हो सकता है, जो समय और विकास के अनुसार स्वयं परिवर्तित या संशोधित किया जा सकता हो अथवा वह ऐसे पृथक कानूनों का समूह हो सकता है, जिन्हें संविधान के कानूनों के रूप में स्वीकृति दी गई हो अथवा पुनः ऐसा भी

---

1. "A constitution is .... "a set of established rules embodying and directing the practice of government." --Bryce—Quoted by Ilyas Ahmed, *The Machinery of Government*, p. 71.
2. "A Constitution is the fundamental law according to which the government of a State is organised and agreeably to which the relations of individuals or moral persons to the community are determined."
—Charles Borgeand, *The Origin of Written Constitution*. Vol. VII, p. 613.

हो सकता है कि संविधान का आधार एक-दो मौलिक कानूनों के रूप में निश्चित हो तथा शेष कानून अपनी स्वीकृति के लिए प्रथाओं की शक्ति पर निर्भर हों।"[1]

संविधानों का वर्गीकरण

संविधानों का वर्गीकरण राजनीति-विज्ञान के विद्वान अनेक प्रकार से करते हैं। कुछ लेखक उनका वर्गीकरण उत्पत्ति अथवा निर्माण के आधार पर करते हैं। इस दृष्टिकोण से यदि किन्हीं राज्यों की शासन-विधि धीरे-धीरे विकसित होती है और उसी विकास के अनुसार संविधान का स्वरूप विकसित होता जाता है, तो ऐसे राज्यों के संविधान को विकसित (Evolved or Comulative) कहा जाता है। इसके विपरीत, जिन राज्यों के संविधान एक समय बनाये जाते हैं, तो उन्हें विहित अथवा निर्मित (Enacted) कहा जाता है। एक अन्य प्रकार का वर्गीकरण कानूनों तथा प्रथाओं के अनुपात के अस्तित्व के आधार पर किया जाता है। इस दृष्टिकोण से किन्हीं राज्यों के संविधानों में यदि कानूनों का अनुपान प्रथाओं की अपेक्षा अधिक होता है और यदि वे अधिकतर कानूनों पर आधारित होते हैं, तो उन्हें लिखित (written) संविधान कहा जाता है। इसके विपरीत, किन्हीं राज्यों के संविधान में जब प्रथाओं का अनुपात कानूनों की अपेक्षा अधिक होता है तथा उनका आधार अधिकतर प्रथाएँ एवं परम्पराएँ होती हैं, तो ऐसे संविधानों को अलिखित (unwritten) संविधान कहा जाता है। एक तीसरे प्रकार का वर्गीकरण संविधानों के संशोधन की सरलता अथवा कठिनता की दृष्टि से किया जाता है और इस दृष्टिकोण के अनुसार यदि संविधान में संशोधन राज्य की व्यवस्थापिका के साधारण कानूनों द्वारा न होकर विशेष प्रक्रिया द्वारा होने की व्यवस्था हो तो ऐसे संविधान को अचल अथवा दुष्परिवर्तनीय (Rigid) संविधान कहते हैं। यदि संविधान में संशोधन राज्य की साधारण व्यवस्थापन विधि द्वारा हो सकता हो तथा संशोधन-सम्बन्धी विधेयक अन्य साधारण विधेयकों की तरह ही पारित हो सकते हों, तो ऐसे संविधान को लचीला या सुपरिवर्तनीय (Flexible) संविधान कहते हैं।

वर्गीकरण के उक्त तीनों प्रकार संविधान की प्रकृति पर आधारित हैं। संविधानों का वर्गीकरण शासन के रूप के आधार पर भी किया जाता है तथा इस आधार पर संविधान एकात्मक, संघात्मक, संसदीय व अध्यक्षीय चार प्रकार के होते हैं। संविधानों के उक्त वर्गीकरण को हम इस प्रकार से दिखा सकते हैं—

---

1. "The Constitution may be a deliberate creation on paper, it may be found in one document which itself is altered or amended as time and growth demand; or it may be a bundle of separate laws given special authority as the laws of the Constitution. Or again, it may be that the Constitution is fixed in one or two fundamental laws while the rest of it depends for its authority upon the force of the custom."

Strong. *Modern Constitution;* p. 10.
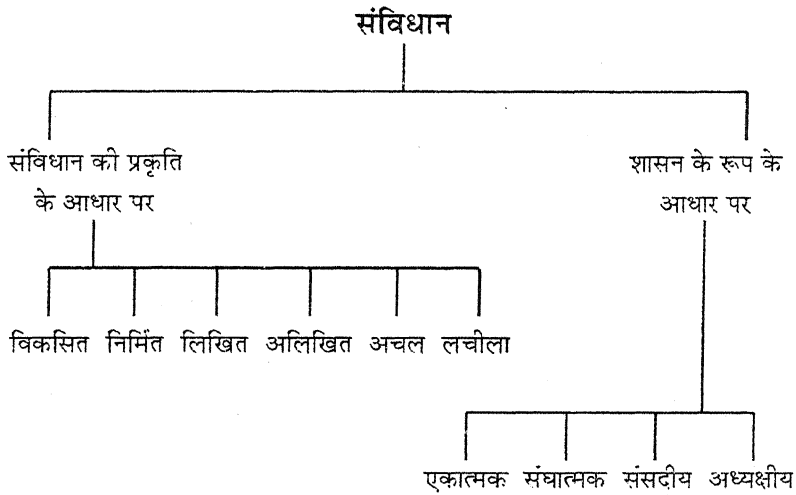
शासन के रूप के आधार पर संविधान के जो प्रकार होते हैं, उनका अध्ययन हम शासन के प्रकारों के प्रकरण में करेंगे। यहाँ हमें संविधान के केवल उन प्रकारों पर विचार करना है, जो उसकी प्रकृति पर आधारित हैं।

विकसित एवं निर्मित संविधान

विकसित संविधान—विकसित संविधान वे होते हैं, जो समय के साथ विकसित होते हैं। जिन राज्यों की शासन-विधि धीरे-धीरे विकसित होती है और उस विकास के अनुसार संविधान का स्वरूप भी धीरे-धीरे विकसित होता जाता है, तो ऐसे संविधान विकसित संविधान कहलाते हैं। इस प्रकार ये संविधान किसी संप्रभु सम्राट या विधान सभा द्वारा किसी एक समय पर नहीं बनाये जाते, अपितु ये समय, परिस्थिति तथा राजनीतिक चेतना के अनुसार विकसित होते हैं। दूसरे शब्दों में, विकसित संविधान को हम इतिहास का उत्पादन कह सकते हैं। ग्रेट ब्रिटेन का संविधान इसका उत्तम उदाहरण है। वहाँ राजा, मन्त्रि-परिषद्, पार्लियामेण्ट अथवा अन्य राजनीतिक संस्थाओं की शक्ति और उनके अधिकार-क्षेत्र आदि लेखबद्ध नहीं हैं तथा न उनसे सम्बन्धित नियमों का एक समय निर्माण किया गया है फिर भी वहाँ धीरे-धीरे कुछ ऐसी प्रथाएँ एवं परम्पराएँ विकसित हो गई हैं, जिनके अनुसार शासन का संचालन होता है। इस प्रकार वहाँ का संविधान ऐतिहासिक विकास का परिणाम है, अत: वह विकसित संविधान कहा जाता है।

निर्मित संविधान—इसके विपरीत निर्मित संविधान वे होते हैं जिन्हें किसी निश्चित समय पर किसी राजा या विशेष विधानसभा द्वारा बनाया जाता है। भारत के संविधान को हम निर्मित संविधान का उदाहरण मान सकते हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि निर्मित

संविधानों का विकास नहीं होता। विकसित संविधानों की उत्पत्ति ही यदि विकास में होती है, तो निर्मित संविधानों का विकास उनके निर्माण के बाद होता है।

लिखित एवं अलिखित संविधान

लिखित संविधान—लिखित संविधान वे होते हैं, जो पूर्णतया अथवा अधिकांश रूप से लेखबद्ध होते हैं। लिखित संविधान किसी एक संवैधानिक कानून के रूप में हो सकता है अथवा वह अनेक ऐसे कानूनों के रूप में हो सकता है, जिनमें शासन-विधि का विशद प्रतिपादन किया गया हो। सरकार का क्या स्वरूप हो, शासन के विभिन्न विभागों के क्या अधिकार एवं कर्त्तव्य हों, उनके पारस्परिक सम्बन्ध क्या हों, उनकी रचना कैसे हो तथा नागरिक के क्या अधिकार तथा क्या कर्त्तव्य हों, आदि सब बातों का पूरा समावेश लिखित संविधान में होता है। इसके अतिरिक्त. लिखित संविधान में वह व्यवस्था भी सम्मिलित होती है, जिसके द्वारा संविधान में संशोधन किये जा सकते हैं। साधारणत: लिखित संविधानों अथवा संवैधानिक कानूनों का निर्माण किसी निश्चित समय पर या तो किसी संविधान-सभा द्वारा होता है या कोई संसद अपने अधिकार-क्षेत्र के राज्य के लिए इन्हें बनाती है अथवा किसी राजा अथवा शासक के आदेश से इन्हें विहित (Enact) किया जाता है।

अलिखित संविधान—इसके विपरीत, अलिखित संविधान वे होते हैं, जो पूर्णतया अथवा अधिकांशतया अलिखित होते हैं और जिनमें परम्परागत प्रथाओं, परम्पराओं तथा समय-समय पर न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों का महत्त्व अधिक होता है। ऐसे संविधान वाले राज्यों में सरकार का स्वरूप, शासन के विविध अंग, उनका पारस्परिक सम्बन्ध, उनके अधिकार एवं कर्तव्य, उनका निर्माण तथा नागरिकों के अधिकार एवं कर्तव्य आदि की व्यवस्था लेखबद्ध नहीं होती, अपितु वह व्यवस्था उन प्रथाओं एवं परम्पराओं पर आधारित होती है, जो वहाँ धीरे-धीरे विकसित हुई होती हैं। ऐसे संविधानों में संशोधन का प्रश्न अत्यन्त महत्त्वहीन होता है और परिस्थितियों के अनुसार विकसित प्रथाओं के अनुसार वे स्वयं संशोधित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे संविधान किसी निश्चित समय पर न तो किसी संविधान-सभा द्वारा बनाये जाते हैं और न किसी शासकीय आदेश के अनुसार वे विहित किये जाते हैं, अपितु वे ऐतिहासिक विकास का परिणाम होते हैं।

लिखित और अलिखित संविधानों का भेद—जैसा ऊपर कहा गया है, लिखित संविधान कानूनों के रूप में लिपिबद्ध होते हैं तथा अलिखित संविधान रिवाजों, परम्पराओं व प्रथाओं के रूप में होते हैं। इससे यह तात्पर्य लगाया जा सकता है कि लिखित संविधान पूर्णत: लिखित कानूनों, चार्टरों तथा प्रपत्रों आदि के रूप में होता है तथा अलिखित संविधान में कुछ भी लिखित नहीं होता। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। दोनों प्रकार के संविधानों में वास्तविक भेद तो केवल इतना है कि लिखित संविधानों में लिखित कानूनों की मात्रा अधिक और प्रथाओं तथा परम्पराओं की मात्रा कम होती है, जबकि अलिखित संविधानों में लिखित कानूनों की अपेक्षा प्रथाओं और परम्पराओं का अनुपात अधिक होता है। वस्तुत: कोई भी लिखित संविधान ऐसा नहीं है जिसमें प्रथाओं आदि का समावेश नहीं होता और

कोई भी अलिखित संविधान ऐसा नहीं है जिसमें लिखित कानूनों का समावेश नहीं होता। अनेक लिखित संविधानों में बहुत-सी अलिखित बातें पायी जाती हैं और अनेक अलिखित संविधानों में बहुत-सी लिखित बातें पायी जाती हैं।

उदाहरण के लिए, हम अमरीका तथा इंग्लैण्ड के संविधानों को ले सकते हैं, जिन्हें क्रमश: लिखित एवं अलिखित संविधान समझा जाता है। अमरीका के संविधान का निर्माण लगभग दो सौ वर्ष से भी पहले हुआ था। जिस रूप में उसका निर्माण हुआ था, तबका उसका रूप अत्यन्त संक्षिप्त है और वह पूर्णत: सूत्र रूप में है। यद्यपि मुख्य रूप से देश का विधान वही समझा जाता है, परन्तु यह समझना कि अमरीका की सम्पूर्ण शासन-विधि उसी के अनुकूल चलती आ रही है, भारी भूल होगी। वस्तुत: वहाँ भी धीरे-धीरे अनेक ऐसी प्रथाएँ और परम्पराएँ विकसित हो गयी हैं, जो संविधान की तरह ही भावना-विधि का स्वरूप निर्धारित करती हैं। इसके अतिरिक्त न्यायालयों के अनेक ऐसे निर्णय भी हो चुके हैं, जो वहाँ के लिखित संविधान के अंग न होते हुए भी संवैधानिक कानून की ही स्थिति रखते हैं। अत: अमरीका के संविधान को हम पूर्णत: लिखित संविधान नहीं कह सकते।

इसी प्रकार अलिखित संविधान के उदाहरणस्वरूप हम इंग्लैण्ड के संविधान को ले सकते हैं। उसके विषय में यह कहा जाता है कि वह प्रथाओं एवं परम्पराओं पर आधारित हैं। किन्तु वहाँ भी हम देखते हैं कि शासन से सम्बन्धित जो अनेक बातें वहाँ प्रथाओं एवं परम्पराओं के अनुसार चली आ रही थीं, वे अब वहाँ की संसद द्वारा स्वीकृत लेखबद्ध संवैधानिक कानूनों के रूप में आ चुकी हैं। इसके अतिरिक्त संसद द्वारा पारित अनेक ऐसे कानून भी अस्तित्व में आ चुके हैं, जो वहाँ के संविधान के अंग-रूप समझे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, संसद के सदनों की अवधि, उनका पारस्परिक सम्बन्ध, मताधिकार, निर्वाचन-मण्डल तथा प्रतिनिधित्व आदि से सम्बन्धित जो कानून ब्रिटिश संसद ने स्वीकार किये हैं, उनके द्वारा वहाँ के अलिखित एवं प्रथाओं पर आधारित संविधान का एक महत्त्वपूर्ण भाग लिखित रूप में परिवर्तित हो गया है। अत: यह स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड के संविधान को हम शुद्ध अर्थ में अलिखित संविधान नहीं कह सकते।

इस प्रकार कोई भी संविधान पूर्णत: लिखित अथवा अलिखित नहीं कहा जा सकता और जिस दृष्टि से लिखित तथा अलिखित का भेद किया जाता है, वह वस्तुत: अवास्तविक है और यही कारण है कि लिखित संविधान से हमारा तात्पर्य अधिकांश रूप में लिखित संविधान से तथा अलिखित संविधान से हमारा तात्पर्य अधिकांश रूप में अलिखित संविधान से होता है।

लिखित संविधान के गुण—यद्यपि कोई संविधान न तो पूर्णत: लिखित हो सकता है और न अलिखित, तथापि आधुनिक युग में वांछनीय यही समझा जाता है। लिखित संविधान के कुछ गुण होते हैं और उनसे कुछ ऐसे लाभ प्राप्त हैं, जो अलिखित संविधान होने पर प्राप्य नहीं होते। लिखित संविधान के गुणों की विवेचना निम्न प्रकार की जा सकती है—

(1) लिखित संविधान में जो शासन-विधि विहित की जाती है अथवा राजनीतिक जीवन का जो रूप किसी राज्य विशेष के लिए निश्चित किया जाता है, वह अत्यन्त

विचारपूर्वक किया जाता है, अत: उसमें उस राजनीतिक जीवन से अधिक स्थायित्व रहता है, जिसका आधार केवल प्रथाएँ और परम्पराएँ होती हैं। लिखित संविधान होने से इस बात की सम्भावना कम रहती है कि सामयिक आवेश में आकर राजनीतिक जीवन में अनावश्यक उथल-पुथल की जा सके, क्योंकि लिखित संविधान में परिवर्तन साधारणत: अत्यन्त सरलता से नहीं किये जा सकते हैं।

(2) लिखित संविधान होने से शासकों के अत्याचारों और स्वेच्छाचार से जनता के अधिकारों की सुरक्षा बनी रहती है, क्योंकि यह पूर्णरूप से लेखबद्ध होता है कि जनता के क्या अधिकार तथा कर्त्तव्य हैं तथा शासन के क्या अधिकार एवं कर्त्तव्य हैं। शासन तथा शासित दोनों ही की मर्यादा लिखित संविधान होने से निश्चित रहती है और उनके द्वारा मर्यादा-उल्लंघन की सम्भावना नहीं रहती।

(3) संघात्मक राज्यों के लिए तो लिखित संविधान की वांछनीयता और भी अधिक होती है। संघ में सम्मिलित इकाइयों का संवर्ग में क्या स्थान है अथवा उनका पारस्परिक तथा संघ के साथ क्या सम्बन्ध है, इन सबका निश्चित निरूपण लिखित संविधान में ही सरलतापूर्वक सम्भव हो सकता है। इसके अतिरिक्त संघ तथा इकाइयों की शासन-विधि तथा उनकी सरकारों के स्वरूप आदि का निश्चित विवरण लिखित संविधान में ही अधिक उचित ढंग से दिया जा सकता है।

लिखित संविधान के दोष—लिखित संविधान में उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी उसके कुछ महत्त्वपूर्ण दोष भी होते हैं, जिनके कारण उसे अवांछनीय समझा जाता है और जिन्हें हमें स्मरण रखना चाहिए। उन दोषों का विवेचन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(1) लिखित संविधान में किसी राज्य विशेष के राजनीतिक जीवन का निर्धारण अत्यन्त विचारपूर्वक किया जाता है। फिर भी किसी समय विशेष पर कितना ही विचारपूर्वक किया हुआ निश्चय सदा के लिए उपयुक्त बना रह सकता है, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। अत: लिखित संविधान की वांछनीयता राजनीतिक जीवन के विकास की दृष्टि से बिना किसी आपत्ति के स्वीकार नहीं की जा सकती, क्योंकि यदि लिखित संविधान समय की माँग के साथ परिवितित नहीं हो सकता, तो उसका परिणाम क्रान्ति का सूत्रपात हो सकता है। **मेकॉले** के ये शब्द कि "क्रान्तियों का एक बड़ा कारण यह है कि राष्ट्र आगे बढ़ते हैं तथा संविधान एक ही स्थान पर बने रहते हैं" लिखित संविधान की इसी कमी की ओर संकेत करते हैं।

(2) लिखित संविधान कभी-कभी राज्य के जीवन की प्रगति में बाधक भी सिद्ध होता है। कभी-कभी संविधान के आलेख के सहारे लोग राज्य की उन्नति एवं समृद्धि के लिए आवश्यक परिवर्तनों को स्वीकार करने के लिए भी तैयार नहीं होते हैं।

अलिखित संविधान के गुण—कुछ गुणों के कारण अलिखित संविधान भी वांछनीय समझे जाते हैं, जिनका विवेचन अग्र प्रकार से किया जा सकता है—

(1) प्रगति मानव-जीवन की विशेपता है। उसका राजनीतिक जीवन भी प्रगतिशील होता है। अलिखित संविधान राजनीतिक जीवन की प्रगतिशीलता के लिए अधिक उपयुक्त होता है, क्योंकि संविधान अलिखित होने के कारण राजनीतिक जीवन के विकास के साथ-साथ शासन-विधि स्वयं परिवर्तित होती जाती है।

(2) अलिखित संविधान समय एवं परिस्थितियों के अनुसार बदला जा सकता है। संविधान अलिखित होने से लोग संविधान की उपेक्षा करके क्रान्ति करने की बाध्यता से बचे रहते हैं और राजनीतिक जीवन विध्वंसक उथल-पुथल से सुरक्षित बना रहता है, क्योंकि अलिखित संविधान होने के कारण जनमत के अनुसार शासन-विधि सरलता से परिवर्तित की जा सकती है।

अलिखित संविधान के दोष—अलिखित संविधान के उपर्युक्त गुणों के साथ-साथ उसके कुछ दोष भी हैं जिन्हें हम निम्न प्रकार रख सकते हैं—

(1) अलिखित संविधान अस्थिर तथा अनिश्चित राजनीतिक जीवन को प्रोत्साहन देते हैं, क्योंकि संविधान अलिखित होने से लोगों को इस बात के लिए बढ़ावा मिलता है कि वे राजनीतिक जीवन की गतिविधि को जब चाहें जैसा बना लें।

(2) इसके अतिरिक्त अलिखित संविधान न्यायालयों के हाथ के खिलौने होते हैं और संविधान के अलिखित होने से न्यायालयों के निर्णय ही राजनीतिक जीवन के आधार बन जाते हैं।

(3) अलिखित संविधान जनतन्त्रात्मक राज्यों के लिए भी अनुपयुक्त होते हैं, क्योंकि साधारण जनता उन कानूनों को अधिक मान्यता देती है, जो विधिवत् निर्मित होने के पश्चात् लेखबद्ध कर दिये जाते हैं और उन्हें वह कम मान्यता देती है, जो केवल प्रथाओं के रूप में तथा अलिखित होते हैं।

(4) संघात्मक राज्यों के लिए तो अलिखित संविधान सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं, क्योंकि ऐसी विभिन्न इकाइयों द्वारा निर्मित संघ जिनके राजनीतिक जीवन तक भिन्न प्रकार के हो सकते हैं, अलिखित संविधान के सहारे नहीं चल सकते।

अचल एवं लचीले संविधान

अचल संविधान—अचल संविधान साधारणतः वे संविधान होते हैं, जिनमें संशोधन के लिए एक विशेष प्रक्रिया की व्यवस्था होती है। उन राज्यों के संविधानों को हम अचल अथवा दुष्परिवर्तनीय कहते हैं, जिनमें संवैधानिक तथा साधारण कानून में मौलिक भेद समझा जाता है, जिनमें संशोधन का अधिकार राज्य की संसद अथवा विधानसभा को अपने साधारण रूप में प्राप्त नहीं होता, जिनमें संविधान में संशोधन करने के लिए संसद अथवा विधानसभा से एक उच्चतर संस्था की आवश्यकता होती है तथा जिनमें साधारण कानून के पारित होने वाली प्रक्रिया से ही संवैधानिक संशोधन सम्बन्धी कानून पारित नहीं हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, हम अमरीका के संविधान को ले सकते

हैं। वहाँ अमरीकन काँग्रेस को यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि वह संविधान में संशोधन कर सके अथवा उसके प्रतिकूल कोई कानून पारित कर सके। भारत के संविधान को भी हम इस श्रेणी में रख सकते हैं, क्योंकि इसके संविधान के संशोधन का अधिकार संसद को अपने उसी स्वरूप में प्राप्त नहीं है, जिसमें वह साधारण कानून पारित कर सकती है तथा संवैधानिक कानून के लिए यह आवश्यक है कि वे संसद के दोनों सदनों की बहुसम्मति या उपस्थित सदस्यों की दो-तिहाई सहमति द्वारा स्वीकृत हों। यही नहीं संघ की इकाइयों से सम्बन्धित संविधान की धाराओं के संशोधन सम्बन्धी कानून के लिए तो यह भी आवश्यक है कि बहुसंख्यक इकाइयाँ भी उसके पक्ष में हों। इस प्रकार जिन राज्यों में संविधान के संशोधन के लिए एक विशेष प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है, उन राज्यों के संविधान को हम अचल संविधान कहते हैं।

लचीले संविधान—इसके विपरीत लचीले संविधान साधारणतः वे होते हैं, जिनमें संशोधन साधारण विधि-निर्माण की प्रक्रिया द्वारा ही किये जा सकते हैं। उन राज्यों के संविधान को हम लचीला कह सकते हैं, जिनमें संविधान और साधारण कानून में कोई विशेष भेद नहीं किया जाता, जिनमें संविधान में संशोधन सम्बन्धी कानून भी उसी सरलता से पारित किये जा सकते हैं, जिस सरलता से साधारण कानून पारित किये जा सकते हैं तथा जिनमें राज्य की संसद या विधान सभा को अपने साधारण रूप में संविधान में संशोधन करने वाले कानून पारित करने का अधिकार प्राप्त होता है। लचीले संविधान के उदाहरणस्वरूप हम इंग्लैण्ड के संविधान को ले सकते हैं, जहाँ देश की संसद उसी प्रक्रिया द्वारा संसद के सदनों की व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियों से सम्बन्धित विधेयकों (जिनका सम्बन्ध संविधान से होता है) को पारित कर सकती है, जिस प्रक्रिया द्वारा वह एक श्रम सम्बन्धी विधेयक पारित करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन राज्यों में व्यवस्थापिका संस्था एक ही प्रक्रिया द्वारा साधारण कानून तथा संवैधानिक कानून समान रूप से पारित कर सकती है, उन राज्यों के संविधान को हम लचीला संविधान कहते हैं।

अचल और लचीले संविधानों का भेद—दोनों प्रकार के संविधानों की उक्त विशेषताओं से हम देखते हैं कि उनमें निम्न अन्तर होता है—

(1) अचल संविधानों में संविधान में संशोधन करने का अधिकार या तो संसद की अपेक्षा किसी उच्चतर संस्था को प्राप्त होता है या वह उस संशोधन को अपने किसी रूप विशेष में (दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक द्वारा या किसी निश्चित मत-संख्या द्वारा) ही स्वीकार कर सकती है। इसके विपरीत, लचीले संविधान में परिवर्तन करने का अधिकार संसद अथवा व्यवस्थापिका सभा को होता है और वह अपने उसी रूप में संवैधानिक कानून भी स्वीकृत कर सकती है, जिस रूप में वह साधारण कानून पारित करती है।

(2) दोनों प्रकार के संविधानों में संवैधानिक कानून तथा साधारण कानून की स्थिति में अन्तर होता है। अचल संविधानों में संवैधानिक कानून की स्थिति साधारण कानून की अपेक्षा उच्चतर समझी जाती है, क्योंकि एक तो संवैधानिक कानूनों को पास करने के

लिए साधारण कानूनों की अपेक्षा अधिक जटिल प्रक्रिया की व्यवस्था होती है तथा दूसरे उसके प्रतिकूल कोई साधारण कानून पास नहीं किये जा सकते। लचीले संविधानों में दोनों प्रकार के कानूनों की स्थिति प्रायः समान होती है, क्योंकि दोनों को पास करने की व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं होता है।

(3) इसके अतिरिक्त एक अन्य अन्तर जो दोनों प्रकार के संविधानों में देखा जाता है, वह यह होता है कि अचल संविधान प्रायः लिखित एवं निर्मित होते हैं, जबकि लचीले संविधान अधिकतर अलिखित एवं विकसित होते हैं। यह स्मरणीय है कि अलिखित संविधान अचल तथा लिखित संविधान लचीले भी हो सकते हैं।

अचल संविधान के गुण—जिन गुणों के कारण अचल संविधान वांछनीय समझे जाते हैं, उन्हें हम निम्न प्रकार रख सकते हैं—

(1) अचल संविधान होने से राज्य की शासन-विधि तथा उसके राजनीतिक जीवन में स्थिरता बनी रहती है और सामयिक आवेशों तथा दलगत राजनीति से उत्पन्न जिस राजनीतिक उथल-पुथल की सम्भावना संविधान लचीला होने की दशा में रहती है, वह सम्भावना संविधान अचल होने की दशा में नहीं रहती।

(2) संविधान अचल होने से शासन के मनमानेपन से सुरक्षा होती रहती है और शासन के विरुद्ध जनता के अधिकारों की रक्षा भी बनी रहती है, क्योंकि शासन और जनता दोनों के अधिकारों की व्यवस्था का संशोधन सरलतापूर्वक किसी की मनमानी के अनुसार नहीं किया जा सकता।

(3) इसी प्रकार संविधान अचल होने से शासन के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध भी स्थिर बने रहते हैं और उनमें आपसी तनाव और खींचातानी की सम्भावना कम रहती है।

अचल संविधान के दोष—उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी कुछ दोषों के कारण अचल संविधान अवांछनीय समझा जाता है, जिन्हें हम निम्न प्रकार रख सकते हैं—

(1) अचल संविधान राज्य की प्रगति में बाधक होते हैं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि किसी राज्य का राजनीतिक जीवन सदा एकसा नहीं रह सकता और उसमें सदा परिवर्तन होता रहता है। अतः किसी राज्य के संविधान के लिए यह आवश्यक है कि वह परिवर्तनशील राजनीतिक जीवन के अनुकूल परिवर्तनशील हो। चूँकि अचल संविधान साधारणतः सरलतापूर्वक परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील नहीं होता, अतः वह अवांछनीय समझा जाता है।

(2) अचल संविधान की अपरिवर्तनशीलता कभी-कभी क्रान्तियों का कारण भी बन जाती है, क्योंकि जब संविधान राजनीतिक जीवन के परिवर्तनों को समय की माँग के साथ स्वीकार नहीं करता, तो बाध्य होकर उन परिवर्तनों को कार्यरूप देने के लिए जनता को क्रान्ति का सहारा लेना पड़ता है।

लचीले संविधान के गुण—कुछ गुणों के कारण लचीले संविधान भी वांछनीय समझे जाते हैं, जिनका विवेचन हम निम्न प्रकार कर सकते हैं—

(1) लचीले संविधान परिवर्तनशील होते हैं। उनमें बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल विकास की सम्भावना रहती है तथा संशोधन विधि के सरल होने के कारण उन्हें सरलता से परिस्थितियों के अनुकूल बदला जा सकता है। अत: राजनीतिक जीवन की प्रगति की दृष्टि से उन्हें वांछनीय समझा जाता है। उदाहरण के लिए, हम ग्रेट ब्रिटेन के पिछले 1500 वर्ष के इतिहास को ले सकते हैं, जिसमें संविधान के लचीलेपन के कारण वहाँ का राजनीतिक जीवन बिना विशेष अशान्ति से प्रगति की ओर उन्मुख होता चला आया है। **फ्रीमेन** के शब्दों में वहाँ "विदेशी विजयों और आन्तरिक विद्रोह के होते हुए भी जनता के राष्ट्रीय जीवन की परम्परा 1400 वर्षों से अटूट रही है। किसी भी समय भूत और वर्तमान की कड़ी पूर्णत: नहीं टूटी है, किसी भी समय किसी आवेशपूर्ण सिद्धान्त के वशीभूत होकर ब्रिटिश लोग पूर्णत: नवीन संविधान बनाने के लिए नहीं बैठे हैं। हमारे विकास का प्रत्येक चरण पिछले चरण का स्वाभाविक परिणाम रहा है, हमारे कानून और संविधान का प्रत्येक परिवर्तन एक नयी चीज लाने के लिए नहीं हुआ है, प्रत्युत उसके द्वारा, जो कुछ प्राचीन था, उसी का विकास और उसी की उन्नति हुई है।"[1]

(2) लचीले संविधान में विद्रोह तथा क्रान्तियों की भयंकरता से राज्य की रक्षा बनी रहती है, क्योंकि समय तथा परिस्थितियों की माँग के अनुसार लचीले संविधान सरलतापूर्वक संशोधित किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, इंग्लैण्ड में पिछली शताब्दी में राजसत्ता कुलीन श्रेणी के हाथ से निकलकर जनता के हाथों में आयी, किन्तु इसके लिए वहाँ फ्राँस जैसी किसी क्रान्ति की आवश्यकता नहीं हुई। धीरे-धीरे हाउस ऑफ लॉर्ड्स की शक्ति कम हुई और हाउस ऑफ कॉमन्स की शक्ति बढ़ी और राजशक्ति कुलीन श्रेणी के हाथ से निकलकर जनसाधारण में आ गई। यह सब वहाँ के संविधान के लचीलेपन के कारण ही हुआ, अन्यथा बिना अशान्ति के ऐसा परिवर्तन होना सम्भव नहीं था।

(3) लचीला संविधान राजनीतिक जीवन का सर्वकालीन एवं सच्चा प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि निर्माण के पश्चात् राजनीतिक जीवन के परिवर्तन उसमें सरलतापूर्वक स्थान पाते रहते हैं।

---

1. "The continued national life of the people, notwithstanding foreign conquests and internal revolutions, has remained unbroken for fourteen hundred years. At no moment has the tie between the present and the past been wholly torn as under; at no moment have Englishmen set down to put together a wholly new Constitution, in obedience to some dazzling theory. Each step in our growth has been the natural consequence of some earlier step; each change in our law and Constitution has been, not the bringing in of anything wholly new, but the development and improvement of something that was already old."
—Freeman, *English Constitution*, p.19.

(4) लचीले संविधान की एक अन्य महत्त्वपूर्ण अच्छाई परिस्थिति-अनुकूलता है, क्योंकि लचीलेपन के कारण राज्य का संविधान सभी प्रकार की परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता रखता है। यदि संविधान लचीला होता है तो युद्ध आदि जैसी संकटकालीन अवस्थाओं के लिए सरलता और शीघ्रतापूर्वक परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन किये जा सकते हैं और राज्य उन संवैधानिक बाधाओं से बच जाता है, जिनका सामना अचल संविधान वाले राज्यों को करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, सन् 1914-18 के विश्वयुद्ध के समय इंग्लैण्ड में जब विश्वयुद्ध का संकट आया था, वहाँ की संसद ने अपना कार्यकाल बढ़ा लिया था और विश्वपरिषद् को युद्ध-संचालन के लिए विशेष अधिकार दे दिये थे। ऐसी ही व्यवस्थाएँ सन् 1936-45 के महायुद्ध के समय भी वहाँ की गयी थीं, जिससे युद्धकालीन संकट का सामना सरलतापूर्वक किया जा सका। वहाँ यह सब संविधान के लचीलेपन के कारण हो सका, जो अमरीका में संविधान की अचलता के कारण नहीं हो सकता था। **ब्राइस** ने लचीले संविधान के इसी गुण का समर्थन किया है। उन्होंने कहा है कि "लचीले संविधान संकटकालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए बिना ढाँचा तोड़े हुए फैलाये या मोड़े जा सकते हैं और जब संकट व्यतीत हो जाता है, तो फिर वे अपने पुराने रूप में उस पेड़ की भाँति वापस चले आते हैं, जिसकी बाहर की शाखाओं को गाड़ी निकालने के लिए एक ओर खींच दिया गया हो।"[1]

लचीले संविधान के दोष—उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी लचीले संविधान अनेक दृष्टियों से हानिकारक भी होते हैं। जिन आधारों पर लचीले संविधान हानिकारक तथा परिणामत: अवांछनीय समझते जाते हैं, उन्हें हम निम्न प्रकार रख सकते हैं—

(1) लचीले संविधान वाले राज्यों में राजनीतिक जीवन में अस्थिरता बनी रहती है, क्योंकि संविधान में सरलतापूर्वक संशोधन होने की व्यवस्था के कारण राजनीतिक जीवन सरलतापूर्वक दलगत राजनीति तथा क्षणिक आवेशों का शिकार हो जाता है। ऐसी दशा में संविधान, जो सम्पूर्ण जनता की भावनाओं का प्रतीक होता है, केवल शक्तिशाली राजनीतिक दलों और नेताओं के हाथों का खिलौना बन सकता है।

(2) संविधान का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्देश्य शासक और शासित के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की मर्यादा स्थापित करना होता है तथा संविधान दोनों को इस बात के लिए बाध्य करता है कि वे संविधान द्वारा प्रतिपादित मर्यादा का उल्लंघन न करें। अत: यदि संविधान लचीला होता है और उसमें संशोधन अत्यन्त सरलतापूर्वक किये जा सकते हैं, तो शासक और शासित के अधिकारों और कर्त्तव्यों की उस मर्यादा का स्थापित रहना असम्भव हो जाता है, जिसको बनाये रखने के लिए संविधान का निर्माण किया जाता है।

---

1. Flexible Constitution "can be stretched-or bent so as to emergencies without breaking their framework and when the emergency has passed, they slip back into their old form like a tree whose outer branches have been pulled aside to let a vehicle pass."

—Bryce, *Studies in History and Jurisprudence*, Vol. I. p. 186.

(3) परिस्थिति-अनुकूलता लचीले संविधान की एक अच्छाई मानी जाती है, परन्तु उसकी यही अच्छाई कभी-कभी राज्य में शासकीय अधिनायकतन्त्र की स्थापना का कारण भी हो सकती है। बहुमत का विश्वासपात्र शासक-वर्ग संकटकाल में ही नहीं शान्तिकाल में भी बहुमत का लाभ उठाकर संविधान के लचीलेपन के कारण उसमें ऐसे परिवर्तन कर सकता है, जो सम्पूर्ण जनता तथा समष्टि रूप से राज्य के हित के लिए हानिकारक है।

आदर्श संविधान

संविधान क्या होता है, उसके कितने प्रकार होते हैं तथा उसकी क्या अच्छाई-बुराई होती है, इस सबके विवेचन के पश्चात् यह आवश्यक है कि अब हम यह देखें कि संविधान का आदर्श स्वरूप क्या हो सकता है। संविधान सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन में हमने देखा कि विकसित, अलिखित अथवा लचीले संविधानों में एक ओर यदि परिस्थिति-अनुकूलता की अच्छाई पाई जाती है, तो दूसरी ओर उनमें राजनीतिक जीवन की अस्थिरता की बुराई पायी जाती है। इसी प्रकार निर्मित, लिखित अथवा अचल संविधानों में एक ओर यदि राजनीतिक जीवन की स्थिरता की अच्छाई पाई जाती है, तो दूसरी ओर उनमें राज्य की प्रगति में बाधा होने की सम्भावना की बुराई पायी जाती है। ऐसी दशा में यह निश्चय करना कि आदर्श संविधान कैसा होना चाहिए, यद्यपि अत्यन्त कठिन कार्य है, तथापि वर्तमान समय की यह प्रवृत्ति है कि संविधान लिखित हों और वे अत्यन्त लचीले न हों अर्थात् उनमें परिवर्तन एवं संशोधन करने की प्रक्रिया अत्यन्त सरल न हो। आजकल प्राय: सर्वत्र यह उपयोगी समझा जाता है कि संविधान लेखबद्ध हो और शासन-विधि केवल प्रथाओं एवं परम्पराओं पर ही पूर्णत: आश्रित न रहने दी जाए। इसके अतिरिक्त यह भी प्राय: आवश्यक एवं उपयोगी समझा जाता है कि संविधान तथा साधारण कानून की स्थिति एक-सी न रहे—प्रथम की स्थिति द्वितीय से ऊँची रहे और पहले प्रकार के कानूनों के निर्माण की प्रक्रिया दूसरे प्रकार के कानूनों की निर्माण प्रक्रिया से भिन्न हो। पर साथ ही यह भी अनुचित समझा जाता है कि संविधान को इतना अचल एवं दुष्परिवर्तनीय बना दिया जाए कि वह राज्य की प्रगति में बाधक सिद्ध हो। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक प्रवृत्ति के अनुसार आदर्श संविधान वे ही कहे जा सकते हैं, जो प्राय: लिखित हों और न पूर्णत: अचल और न पूर्णत: लचीले हों।

आदर्श संविधान के आवश्यक अंग

आदर्श संविधान कैसा होना चाहिए, इसके विवेचन के पश्चात्, उसके साधारणत: कौन-कौनसे अंग होते हैं, इनका उल्लेख भी अति आवश्यक है। आदर्श संविधान के साधारणत: निम्न अंग होते हैं—

शासन व्यवस्था—संविधान का सबसे मुख्य अंग शासन सम्बन्धी व्यवस्था का होता है और वह शासन के स्वरूप, सरकार के संगठन तथा उसके अंगों के कार्यों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों से सम्बन्धित होता है। इसके अन्तर्गत यह उल्लिखित होता है

कि शासन का स्वरूप किस प्रकार का होगा, सरकार का संगठन किस प्रकार का होगा, उसके कौन-कौन से अंग होंगे तथा उसके क्या कार्य एवं शक्तियाँ होंगी तथा उनके क्या पारस्परिक सम्बन्ध होंगे। दूसरे शब्दों में, इस अंग में राज्य के शासन-विभाग (Executive), व्यवस्थापन-विभाग (Legislature) तथा न्याय-विभाग (Judiciary) के संगठन की प्रक्रिया, उनके कार्यों तथा अधिकारों आदि का उल्लेख होता है।

संशोधन-व्यवस्था—महत्त्व की दृष्टि से संविधान का दूसरा अंग संशोधन-व्यवस्था का होता है। इसके अन्तर्गत यह निश्चित कर दिया जाता है कि संविधान में संशोधन किस प्रकार किये जायें और उस प्रक्रिया का विस्तृत उल्लेख होता है, जिसके द्वारा संविधान के संशोधनों से सम्बन्धित कानून पारित किये जाने चाहिए।

नागरिकों के मौलिक अधिकारों की व्यवस्था—संविधान का एक अन्य अंग नागरिकों के मौलिक अधिकारों की व्यवस्था का होता है। इसके अन्तर्गत यह उल्लिखित होता है कि राज्य में नागरिकता का अधिकार किन्हें प्राप्त हो तथा नागरिकों के मौलिक अधिकार क्या हों, जिनका अतिक्रमण करना शासन के लिए वर्जित होता है। आधुनिक लोकतन्त्र के युग में संविधान के इस अंग का महत्त्व भी अत्यधिक माना जाता है।

राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों की व्यवस्था—आधुनिक युग में राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तों की व्यवस्था को भी संविधान का एक आवश्यक अंग माना जाता है। इसके अन्तर्गत उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है, जिनके अनुसार राज्य की नीति का निर्धारण होना चाहिए। ये सिद्धान्त साधारणतः राज्य के राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं तथा चूँकि आजकल राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के अनेक प्रकार तथा उनसे सम्बन्धित अनेक वाद प्रचलित हैं, यह अत्यन्त आवश्यक है कि संविधान में उन निदेशक सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख हो, जिनके अनुसार राज्य की इससे सम्बन्धित नीति का निर्धारण होना चाहिए।

इकाइयों की शासन-व्यवस्था—संघात्मक राज्यों के संविधानों में संघ की इकाइयों की शासन-व्यवस्था उसके अधिकारों एवं कर्त्तव्यों तथा संघ एवं इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था को भी संविधान का एक आवश्यक अंग माना जाता है।

संकटकालीन व्यवस्था—संकटकालीन दशा के लिए विशेष व्यवस्था की आवश्यकता अब सर्वत्र समझी जाती है। अतः आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार इससे सम्बन्धित व्यवस्था को भी संविधान का अत्यन्त आवश्यक अंग माना जाता है। भारत के संविधान में इस प्रकार की व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि संकटकालीन दशा में शासन का संचालन कैसे किया जायेगा।

उपर्युक्त साधारणतः संविधान के आवश्यक अंग होते हैं, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि उनके सम्बन्ध में जो कुछ एक बार निश्चय कर लिया गया अथवा लेखबद्ध कर लिया गया, वही सदा संविधान में बना रहता है। राज्य जैसी प्रगतिशील संस्था से सम्बन्धित होने के कारण संविधान भी प्रगतिशील होता है और उसका विकास

निरन्तर होता रहता है। संविधान में जो कुछ लेखबद्ध होता है, उसके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य में सदा कुछ ऐसी **प्रथाएँ और परम्पराएँ** विकसित होती रहती हैं, जिनका शासन विधि के रूप के निर्धारण में बड़ा महत्त्व होता है और उन्हें संविधान का अंग ही समझा जाता है। इसके अतिरिक्त संविधान की धाराओं के अभिप्राय की व्याख्या से सम्बन्धित **न्यायालयों के अनेक ऐसे निर्णय** होते हैं, जो संविधान के आवश्यक अंग बन जाते हैं और जिनके द्वारा संविधान सदा विकसित होता रहता है। अन्त में **संवैधानिक संशोधन** भी जो संविधान में प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार समय-समय पर होते रहते हैं, संविधान के आवश्यक अंग होते हैं, जिनसे संविधान का रूप सदा परिवर्तित एवं विकसित होता रहता है। इस प्रकार प्रथाएँ और परम्पराएँ, न्यायालयों के निर्णय तथा संवैधानिक संशोधन भी संविधान के अंग होते हैं, तथा वे निरन्तर संविधान का रूप बदलते तथा उसको विकसित करते रहते हैं।

SELECT READINGS

Borgeand : *Adoption and Amendment of Constitution.*
Bryce : *Studies in History and Jurisprudence.*
Burgess : *Political Science and Constitutional Law.*
Dicey : *The Law of the Constitution.*
Finer : *The Theory and Practice of Modern Government.*
Freeman : *English Constitution.*
Garner : *Political Science and Government.*
Gettell : *Introduction to Political Science.*
Gilchrist : *Principles of Political Science.*

❑❑❑

2

शासन के अंग और उनका पारस्परिक सम्बन्ध

''सरकार से हमारा तात्पर्य उन सब व्यक्तियों, संस्थाओं और साधनों से होता है, जिनके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है तथा उसे क्रियान्वित किया जाता है।''
—सौल्टाऊ

शासन या सरकार राज्य का एक अत्यन्त आवश्यक तत्त्व होता है। राज्य एक अमूर्त्त भाव है। वह स्वयमेव कार्य नहीं कर सकता। वह सरकार के द्वारा कार्य करता है, जो उसका मूर्त रूप होती है। सरकार राज्य का यन्त्र और उसका प्रतीक होती है। वह एक ऐसी संस्था होती है जो राज्य की ओर से कानून बनाने, उन्हें क्रियान्वित कराने तथा जो उनका पालन न करे, उन्हें उचित दण्ड दिलाने के लिए उत्तरदायी है। दूसरे शब्दों में सरकार की शक्ति क्रिया रूप में विभक्त हो जाती है और उसे हम व्यवस्थापन-विभाग, कार्यपालिका-विभाग तथा न्याय-विभाग नामक तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। यद्यपि साधारणतः प्रचलित रीति यही है कि सरकार को उक्त तीन भागों में ही बाँटा जाना चाहिए—प्रथम, व्यवस्थापन विभाग जो राज्य की इच्छा को विधान, कानूनों एवं नीति के रूप में अभिव्यक्ति करता है, द्वितीय, कार्यपालिका जो कानूनों के माध्यम द्वारा राज्य की अभिव्यक्त इच्छा को कार्य रूप में परिणत करता है। इस मत के अनुसार कार्यपालिका-विभाग के तीन अंग—मन्त्रिपरिषद्, सरकारी कर्मचारीगण, तथा न्यायकर्त्तागण—माने जाते हैं और न्याय-विभाग कार्यपालिका-विभाग के ही अन्तर्गत आ जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस दृष्टि से न्याय-विभाग कार्यपालिका-विभाग का ही एक अंग हो जाता है, किन्तु आधुनिक युग में, विशेषतः लोकतन्त्रवाद के युग में, न्याय-विभाग को जो महत्त्व प्राप्त है, उसके कारण राजनीति-विज्ञान के अधिकतर विद्वान सरकार की शक्ति और कार्य को तीन भागों—व्यवस्थापन-विभाग, कार्यपालिका-विभाग [illegible] न्याय-विभाग—में ही विभाजित करते हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम तीनों विभागों का पृथक-पृथक अध्ययन करेंगे।

व्यवस्थापिका (Legislature)

व्यवस्थापिका सरकार का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग होता है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो कार्यपालिका तथा न्यायपालिका दोनों से इसका महत्त्व अधिक है, क्योंकि व्यवस्थापिका ही उन कानूनों का निर्माण करती है, जिनके अनुसार कार्यपालिका शासन करती है तथा न्यायपालिका न्याय करती है। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि व्यवस्थापिका का महत्त्व किसी देश में प्रचलित शासन के प्रकार पर निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश में निरंकुश राजा का शासन हो तो वहाँ की व्यवस्थापिका शासन के हाथ की कठपुतली मात्र ही हो सकती है। ऐसे देश में उसकी स्वयं की कोई महत्ता नहीं हो सकती। वह अधिक से अधिक एक परामर्शदात्री संस्था हो सकती है। इसी प्रकार एक ऐसे देश में जहाँ अध्यक्षात्मक लोकतन्त्रवादी शासन प्रणाली (Presidential Democratic Government) प्रचलित हो, व्यवस्थापिका की शक्तियाँ तथा उसके कार्य निश्चित एवं मर्यादित होते हैं और कार्यपालिका पर उसका कोई प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं होता; जबकि संसदात्मक लोकतन्त्रवादी शासन प्रणाली (Parliamentary democratic government) वाले देश में व्यवस्थापिका का नियन्त्रण कार्यपालिका पर सीधा होता है और उसका स्थान, सरकार के सब विभागों में सबसे उच्च होता है।

व्यवस्थापिका के कार्य—आधुनिक व्यवस्थापिका के कार्य प्रायः निम्न प्रकार के होते हैं—

कानून-निर्माण सम्बन्धी—व्यवस्थापिका का सबसे मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण कार्य कानून बनाना होता है। अपने इस कार्य के सम्पादन में वह आवश्यकता एवं परिस्थितियों के अनुसार कानून बनाती है, उनमें संशोधन करती है तथा उन्हें समाप्त करती है। यह सब करने के लिए उसे भारी विचार-विनिमय करना पड़ता है। वह कानूनों का मसविदा बनाती है, फिर साधारणतः उनके तीन वाचन करती है, कभी-कभी विशिष्ट विचार के लिए कानूनों को प्रवर-समितियों को सुपुर्द करती है, तथा लोकमत जानने के लिए कानूनों को जनता में प्रसारित करती है।

अर्थ-सम्बन्धी—आधुनिक व्यवस्थापिका का कार्य कानून बनाने तक ही सीमित नहीं होता अपितु वह राष्ट्रीय वित्त का भी नियन्त्रण करती है। धन जनता का होता है, अतः यह स्वाभाविक है कि व्यवस्थापिका में बैठे हुए जनता के प्रतिनिधि राष्ट्रीय वित्त पर नियन्त्रण रखें। अपने इस कार्य के सम्पादन में व्यवस्थापिका नवीन कर लगाती है, अनावश्यक करों को समाप्त करती है तथा समस्त राजकीय व्ययों को स्वीकृति प्रदान करती है।

प्रशासन-सम्बन्धी—व्यवस्थापिका यद्यपि कहीं भी प्रशासन में सीधा भाग नहीं लेती, तथापि देश के प्रशासन पर उसका महत्त्वपूर्ण नियन्त्रण रहता है। उन देशों में जहाँ संसदात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित है, व्यवस्थापिका कार्यपालिका के कार्य पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखती है; वहाँ मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका के सदस्यों में से चुना जाता है और वह उसके प्रति उत्तरदायी होता है। मन्त्रिमण्डल केवल तभी तक अपने पद पर रह सकता है, जब

तक उसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त हो। व्यवस्थापिका कार्यपालिका के कार्यों का नियन्त्रण प्रश्नों, स्थगन-प्रस्तावों, अविश्वास अथवा निन्दा के प्रस्तावों जैसी विधियों से करती है और इस प्रकार कार्यपालिका को लोकमत के अनुसार चलने पर बाध्य करती रहती है। संसदात्मक शासन-प्रणाली वाले देशों में तो व्यवस्थापिका को कार्यपालिका के कार्यों के नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त होता ही है, अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में भी व्यवस्थापिका का नियन्त्रण किसी न किसी रूप में कार्यपालिका पर बना रहता है। उदाहरणस्वरूप, हम अमेरिका की कांग्रेस को ले सकते हैं, जहाँ पर राष्ट्रपति द्वारा संघ शासन में महत्त्वपूर्ण प्रशासकीय नियुक्तियों तथा संधियों आदि के लिए सीनेट की स्वीकृति लेना आवश्यक होता है।

न्याय सम्बन्धी—अनेक देशों में व्यवस्थापिका न्याय-सम्बन्धी कार्य भी करती है। उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति पर लगाए गए महाभियोग का निर्णय सीनेट करती है। भारतीय गणराज्य के संविधान में भी यह व्यवस्था है कि राष्ट्रपति पर लगाए गए महाभियोग का निर्णय संसद द्वारा होता है। ब्रिटेन में तो हाउस ऑफ लॉर्ड्स को और भी अधिक न्याय-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं और वह देश की अपील सम्बन्धी अन्तिम न्यायालय है।

निर्वाचन-सम्बन्धी—अनेक देशों की व्यवस्थापिकाएँ निर्वाचन सम्बन्धी अनेक कार्य भी करती हैं। उदाहरणार्थ, स्विट्जरलैण्ड में वहाँ की पार्लियामेण्ट, मन्त्रि-परिषद्, न्यायाधीशों तथा प्रधान सेनापति का चुनाव करती है। भारत में भी राष्ट्रपति का चुनाव संघ की संसद के निर्वाचित सदस्यों तथा राज्यों की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा किया जाता है।

व्यवस्थापिका का संगठन—व्यवस्थापिका का संगठन दो प्रकार का होता है। एक प्रकार की व्यवस्थापिकाएँ वे होती हैं, जिनमें केवल एक सदन होता है और जिन्हें एकसदनीय (Uni-cameral) कहा जाता है तथा दूसरे प्रकार की व्यवस्थापिकाएँ वे होती हैं, जिनमें दो सदन होते हैं और जिन्हें द्विसदनीय (Bi-cameral) कहा जाता है। प्रारम्भ में, जब लोकतन्त्र शासन का सूत्रपात हुआ था, अधिकतर देशों में एकसदनीय व्यवस्थापिकाएँ थीं; किन्तु अब केवल कुछ छोटे-छोटे देशों को छोड़कर प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण देशों में द्विसदनीय व्यवस्थापिकाएँ विद्यमान हैं। व्यवस्थापिकाएँ एकसदनीय होनी चाहिए अथवा द्विसदनीय, यह विषय अत्यन्त विवादग्रस्त रहा है और इस विषय में राजनीति-वैज्ञानिकों के विभिन्न मत हैं। अत: आगे की पंक्तियों में हम दोनों पद्धतियों के गुण-दोषों पर विस्तृत रूप से विचार करेंगे।

एकसदनात्मक पद्धति—एकसदनात्मक पद्धति (Uni-cameral system) के पक्ष में जो युक्तियाँ दी जाती हैं, वे निम्न प्रकार हैं—

(i) व्यवस्थापिका में एक सदन होने से सबसे बड़ा लाभ यह है कि व्यवस्थापन कार्य में एकता तथा एकरूपता रहती है। सम्पूर्ण राज्य के व्यवस्थापक एक स्थान पर बैठकर पूर्ण विचार-विनिमय के पश्चात् जो निर्णय करते हैं, वह राज्य की एकता का प्रतीक होता है। अत: राष्ट्र की एकता के हित में व्यवस्थापिका में एक सदन होना चाहिए। अठारहवीं

शताब्दी के फ्रेंच क्रान्तिकारियों तथा राजनीतिक विचारकों का तो यहाँ तक कहना था कि दो-तीन सदनों के अस्तित्व का अर्थ दो या तीन प्रभुत्वों का अस्तित्व होता है।[1] **सेईस** (Sieyes) के शब्दों में "कानून जनता की इच्छा होती है; किसी विषय के सम्बन्ध में एक समय में जनता की दो भिन्न इच्छाएँ नहीं हो सकतीं; अतः व्यवस्थापिका सभा जो जनता का प्रतिनिधित्व करती है, आवश्यक रूप से एक होनी चाहिए। जहाँ कहीं भी दो सदन होंगे, मतभेद एवं विरोध अवश्यम्भावी होंगे तथा जनता की इच्छा अकर्मण्यता का शिकार बन जाएगी।"[2] इसी प्रकार लार्ड ब्राइस ने भी एकसदनात्मक पद्धति का समर्थन किया है और कहा है कि "यदि द्वितीय सदन प्रथम का विरोध करता है तो अहितकर है और वह उसके साथ सहयोग करता है, तो वह अनावश्यक है।"[3] इस प्रकार इन युक्तियों के आधार पर यह कहा जाता है कि व्यवस्थापन की एकता तथा एकरूपता के हित में व्यवस्थापिका एकसदनीय होनी चाहिए।

(2) चूँकि द्विसदनीय व्यवस्थापिका होने का अर्थ दोनों सदनों में परस्पर विरोध एवं प्रतियोगिता के अस्तित्व होना होता है, अतः व्यवस्थापिका एकसदनीय होनी चाहिए। अमेरिका का प्रसिद्ध नेता बेन्जामिन फ्रेंकलिन, जो एकसदनीय व्यवस्थापिका का प्रबल पक्षपाती था, दो सदनों के विरोध के परिणाम के विषय में कहा करता था कि द्विसदनीय व्यवस्थापिका ठीक उसी प्रकार की होती है जिस प्रकार की वह गाड़ी, जिसमें दोनों ओर घोड़े जोत दिये गए हों और वे अपनी-अपनी ओर गाड़ी को खींचें तथा परिणाम यह हो कि उसकी प्रगति किधर की भी न हो सके। अतः व्यवस्थापन-कार्य के सुचारु संचालन के लिए यह आवश्यक है कि व्यवस्थापिका एकसदनीय हो।

एकसदनात्मक पद्धति के विपक्ष में भी कुछ युक्तियाँ दी जाती हैं, जो इस प्रकार हैं—

(1) एकसदनीय व्यवस्थापिका में व्यवस्थापन-कार्य शीघ्रतापूर्वक तथा परिणामस्वरूप अविचारपूर्ण होता है। यह राष्ट्र के सामूहिक हित की दृष्टि से हानिकारक हो सकता है।

(2) एकसदनीय व्यवस्थापिका में जो भी सदन होता है, उसकी व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियाँ असीमित एवं अनियन्त्रित होती हैं। यह जानकर कि उसकी शक्ति पर अन्य कोई सदन किसी प्रकार का नियन्त्रण करने वाला नहीं है, जो सदन अस्तित्व में होता

---

1. Duguit : *Manual te droit Constitutional*, p. 344.
2. "The law is the will of the people : the people cannot at the same time have two different wills on the same subject; therefore, the legislative body which represents the people ought to be essentially one. Where there are two chambers discord and division will be inevitable and the will of the people will be paralysed by inaction."

—Seiyes Quoted by Garner : *Political Science and Government*, p. 603.

3. "If a second chamber dissents from the first it is mischievous if it agrees with it, it is superfluous."

—Bryce : *Modern Democracies*, Vol. II, p. 399.

है, वह अपनी शक्तियों का प्रयोग उतने उत्तरदायित्व की भावना के साथ नहीं करता जितना कि तब करता है, जब कोई अन्य सदन उसके कार्यों का सिंहावलोकन करने, आलोचना करने और नियन्त्रण करने के लिए होता है। अत: केवल एकसदनीय व्यवस्थापिका उसी प्रकार उद्दण्ड अथवा भ्रष्ट हो सकती है, जिस प्रकार निरंकुश शासक। जैसा **लैकी** (Lecky) ने कहा है, "किसी निरंकुश शासनकर्त्ता की भाँति वह (एकसदनीय व्यवस्थापिका) भी अनियन्त्रित शक्ति की प्राप्ति से उत्पन्न लालचों से भ्रष्ट हो सकती है और कम दायित्व की भावना और कम विचार-सहित कार्य कर सकती है।"[1]

द्विसदनात्मक पद्धति—द्विसदनात्मक पद्धति (Bi-cameral System) के पक्ष में जो युक्तियाँ दी जाती हैं, वे निम्न प्रकार हैं—

(1) द्विसदनीय व्यवस्थापिका में जल्दबाजी तथा अविचारपूर्ण व्यवस्थापन नहीं होता। संसदों अथवा विधान-सभाओं में कानूनों के विषय में बहुधा गम्भीर मतभेद होते हैं। फलत: कभी-कभी उसके सदस्य आवेश या दलगत राजनीति में पड़कर ऐसी व्यवस्थाएँ करने को तैयार हो जाते हैं, जो बाद में शान्तिपूर्वक विचार करने पर अनावश्यक एवं अहितकर सिद्ध होती हैं। ऐसी दशा में यदि एकसदनीय व्यवस्थापिका हुई, तो एक सदन में बहुमत वाला दल जैसे चाहे वैसे कानून पास कर लेता है, जो आवेश और जल्दबाजी के कारण देश के हित में नहीं होते। ऐसी स्थिति में व्यवस्थापिका में दूसरा सदन होने से किसी कानून के मसविदे के पेश होने से उसके अन्तिम रूप से पास होने तक पर्याप्त समय लग जाता है, जिससे उस कानून पर शान्तिपूर्वक विचार सम्भव हो जाता है। यही कारण है, कि जैसा **लेकी** ने कहा है, "नियन्त्रक, संशोधन एवं बाधक प्रभाव के लिए द्वितीय सदन की आवश्यकता ने प्राय: एक सर्वमान्य सिद्धान्त का स्थान ले लिया है।"[2] इसी प्रकार अत्यन्त क्रान्तिकारी व्यवस्थाएँ जिनसे लाभ के स्थान पर देश की हानि होने की अधिक सम्भावना होती है, द्विसदनीय व्यवस्था में नियन्त्रित हो जाती है अथवा उनमें आवश्यक परिवर्तन हो जाता है, क्योंकि ऐसी व्यवस्था में विलम्ब के तत्त्व के कारण उस पर शान्तिपूर्वक विचार सम्भव हो जाता है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि एक राय की अपेक्षा दो रायें सदा अच्छी होती हैं, अत: यदि व्यवस्थापन के लिए द्विसदनात्मक व्यवस्था रखी जाए, तो अच्छी ही है। ब्लुंशली के इस कथन से कि "दो आँखों की अपेक्षा चार आँखें सदा अच्छा देखती हैं, विशेषत: जब किसी विषय पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना आवश्यक हो।"[3] द्विसदनात्मक व्यवस्था की उपादेयता ही सिद्ध होती है।

---

1. "It is as susceptible as an individual despot to the temptations that grow out of the possession of an uncontrolled power, and it is likely to act with much less sense of responsibility and much less real deliberation."
—Lecky : *Democracy and Liberty*, Vol. I, p. 299.
2. "The necessity of a second chamber to exercise a controlling modifying and retarding influence has acquired almost the position of an axiom."
—*Ibid*, p. 300.
3. Bluntschli : Allgemeines Sta urecht. p. 6.

(2) द्विसदनीय व्यवस्थापिका की व्यवस्था का एक लाभ यह होता है कि उससे व्यवस्थापिका के सदस्यों की अहम्मन्यता तथा स्वेच्छाचारिता पर अंकुश रहता है। राजशक्ति की प्रभुता प्राय: मनुष्यों को घमण्डी, महत्त्वाकांक्षी तथा स्वेच्छाचारी बना देती है। व्यवस्थापिका के सदस्य यद्यपि जनता द्वारा निर्वाचित उसके प्रतिनिधि होते हैं, तथापि एक बार निर्वाचित होने के पश्चात् स्वभावत: वे निरंकुशता की ओर बढ़ने लगते हैं और ऐसे कानूनों का निर्माण करने के लिए तैयार हो जाते हैं, जो जनता के हित के स्थान पर केवल उन्हीं का हित-साधन करते हों। ऐसी दशा में द्विसदनीय अवस्था में ही यह सम्भव होता है कि दोनों एक दूसरे पर अंकुश रखें। यदि कोई बात एक सदन में स्वीकृत हो जाती है, तो दूसरा सदन उस पर विचार करके उसमें संशोधन की माँग कर सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरे सदन की उपस्थिति ही पहले सदन को इस बात के लिए सचेत रखती है कि वह केवल ऐसे कानून ही पास करे जो जन-हित पर आधारित हों और जो दूसरे सदन में भी स्वीकृत हो जाएं। इस प्रकार, व्यवस्थापिका के सदस्य अत्याचारी, भ्रष्ट एवं स्वेच्छाचारी न होने पायें इसके लिए दो सदनों का होना आवश्यक है। स्टोरी ने कहा भी है व्यवस्थापिका के अत्याचारों से बचने का यही उपाय है कि "उसके कार्यों का विभाजन कर दिया जाए, स्वार्थ के विरुद्ध स्वार्थ, महत्त्वाकांक्षा के विरुद्ध महत्त्वाकांक्षा तथा एक सदन के गठबन्धन एवं प्रभुत्व की इच्छा के विरुद्ध दूसरे सदन का वैसा ही गठबन्धन एवं प्रभुत्व खड़ा कर दिया जाए।"[1]

(3) व्यवस्थापिका की द्विसदनीय व्यवस्था का एक अन्य लाभ यह होता है कि इसके कारण जनता का प्रतिनिधित्व उत्तम होता है। लोकतन्त्र की पद्धति में निर्वाचन द्वारा व्यवस्थापिका का निर्माण होने के कारण अधिकतर उन्हीं लोगों को स्थान मिल पाता है, जो किन्हीं शक्तिशाली दलों से सम्बन्धित होते हैं। चूँकि दूसरे सदनों में ऐसी व्यवस्था सम्भव होती है, जिनमें विशेष वर्गों, अल्पसंख्यकों एवं विद्या, ज्ञान और अनुभव की दृष्टि में योग्य व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व सुरक्षित किया जा सके, द्विसदनीय व्यवस्था प्रतिनिधित्व की दृष्टि से उत्तम समझी जाती है। इसके अतिरिक्त दो सदनों की व्यवस्था देश के अनेक प्रकार के तत्त्वों को प्रतिनिधित्व देने के लिए भी की जा सकती है, जैसा हमें आस्ट्रेलिया के विक्टोरिया राज्य में देखने को मिलता है, जहाँ पहले सदन में यदि मुख्यत: किसान और मजदूरों का प्रतिनिधित्व है, तो दूसरा सदन केवल जागीरदार एवं पूँजीपतियों के प्रतिनिधियों का है। किन्हीं राज्यों में मनोनयन अथवा अन्य विधियों से विद्या, ज्ञान अथवा अनुभव की दृष्टि से योग्य व्यक्तियों को दूसरे सदन का सदस्य बनाया जाता है।

(4) संघात्मक राज्यों के लिए द्विसदनीय व्यवस्थापिका की व्यवस्था पूर्णत: उपयुक्त होती है, क्योंकि इस व्यवस्था में समष्टि रूप में संघ की जनता का प्रतिनिधित्व यदि संघ

1. The only effective barrier against oppression is to "separate its operations, to balance interest against interest, ambition against ambition, the combinations and spirit of dominion of one body against the like combinations and spirit of another."

—Story : *Commentaries,* p. 855.

की संसद के पहले सदन में हो सकता है, तो पृथक रूप से राज्यों का प्रतिनिधित्व उसके दूसरे सदन में हो सकता हो। पहले सदन में संघ की सम्पूर्ण जनता के प्रतिनिधित्व में यदि राष्ट्रीय चेतना की रक्षा होती है, तो दूसरे सदन में राज्यों के पृथक प्रतिनिधित्व से स्थानीय स्वायत्तता की भावना की रक्षा हो जाती है। इस प्रकार द्विसदनीय व्यवस्थापिका की व्यवस्था द्वारा संघ में राष्ट्रीयता तथा स्थानीय स्वायत्तता दोनों का सुन्दर समन्वय हो जाता है।

(5) द्विसदनीय व्यवस्थापिका की व्यवस्था का एक अन्य लाभ यह होता है कि उससे व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य का विभाजन सम्भव हो सकता है। लोकतन्त्रवाद के आधुनिक युग में व्यवस्थापिका का कार्य इतना विभिन्न प्रकार का तथा अधिक होता है कि बिना विशेष प्रयत्नों के उसे समाप्त करना भी कठिन होता है। दूसरा सदन उस बढ़े हुए कार्य में हाथ बढ़ा सकता है और कम से कम वे विधेयक जो विवादग्रस्त नहीं होते, उस सदन में भी पहले प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिससे वहाँ विचार होने के पश्चात् पहले सदन का कार्य हल्का हो जाता है।

उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर द्विसदनीय व्यवस्थापिका की व्यवस्था का समर्थन किया जाता है, किन्तु अनेक विचारक द्विसदनीय व्यवस्थापिका की व्यवस्था का विरोध करते हैं और यह प्रतिपादन करते हैं कि एकसदनात्मक पद्धति द्विसदनात्मक पद्धति से अच्छी होती है। द्विसदनीय व्यवस्थापिका का विरोध निम्न आधारों पर किया जाता है—

(1) द्विसदनीय व्यवस्थापिका में द्वितीय सदन का अस्तित्व अनावश्यक रहता है, क्योंकि उससे व्यवस्थापिका के आकार में अनावश्यक वृद्धि होती है। प्रजातन्त्र की आवाज एक होनी चाहिए और दो सदनों द्वारा जैसा साधारणतया होता है, उसे दो आवाजों से नहीं बोलना चाहिए। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रजातन्त्र के व्यवस्थापन-विभाग में एकता हो, जिससे विविध विषयों पर जनता की एक आवाज हो सके।

(2) यह कहा जा सकता है कि आवेश तथा जल्दबाजी में होने वाले व्यवस्थापन को रोकने के लिए द्विसदनीय व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। साधारणत: कोई भी कानून व्यवस्थापिका द्वारा अविचारपूर्ण ढंग से तथा जल्दबाजी में पास नहीं किये जाते, अपितु प्राय: सभी विधेयकों पर कानून बनाने से पहले पूर्ण विचार होता है। प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन होने की प्रथा ही लगभग सभी राज्यों में नहीं है, अपितु आवश्यकतानुसार विधेयकों को विशिष्ट समितियों को देने, उन्हें लोकमत के लिए प्रसारित करने आदि की व्यवस्था भी सर्वत्र विद्यमान है। अत: ऐसी दशा में इस आधार पर द्विसदनीय व्यवस्था रखना कि उसके कारण जल्दबाजी का व्यवस्थापन नहीं होने पाएगा, असंगत है। इसी प्रकार के विचार प्रोफेसर लास्की ने व्यक्त किये हैं। उनका कहना है कि "आधुनिक युग में व्यवस्थापन यकायक .... कानून की पुस्तक पर नहीं आ जाता। प्राय: प्रत्येक विधेयक विचार एवं विश्लेषण की लम्बी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कानून बनता

है, अतः जल्दबाजी के व्यवस्थापन को रोकने की दृष्टि से दूसरे सदन का महत्त्व राजनीति की वर्तमान दशा में अत्यन्त कम हो गया है।"[1]

(3) द्विसदनीय व्यवस्था के पक्ष में एक युक्ति यह दी जाती है कि यह व्यवस्था संघात्मक राज्यों के लिए अत्यन्त उपयोगी है, जहाँ संघ की इकाइयों तथा अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए दूसरे सदन में उपयुक्त स्थान मिल जाता है। व्यवस्था के विरोधियों का कहना है कि व्यवहार में दूसरा सदन संघ की इकाइयों तथा अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व नहीं देता, अपितु वहाँ भी जब तक नामजदगी का प्रयोग न किया जाए, प्रायः उन्हीं राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व होता है, जिनका प्रतिनिधित्व पहले सदन में होता है। संघ की इकाइयों अथवा अल्पसंख्यकों के अधिकारों एवं स्वतन्त्रता की सुरक्षा तो वस्तुतः वैधानिक संरक्षणों तथा न्यायपालिका द्वारा हो सकती है, दूसरे सदन के अस्तित्व द्वारा नहीं। इस दृष्टि से भी द्विसदनीय व्यवस्थापिका की व्यवस्था अनावश्यक है।

(4) दूसरे सदन के संगठन की दृष्टि से भी द्विसदनीय व्यवस्था की आलोचना की जाती है, क्योंकि दूसरे सदन का निर्माण किस आधार पर किया जाए, यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन है। उदाहरणार्थ, दूसरे सदन का संगठन यदि उत्तराधिकार के आधार पर किया जाए, जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन के हाउस ऑफ लॉर्ड्स में होता है तो ऐसा करना लोकतन्त्र के सर्वथा विरुद्ध है। यदि नामजदगी के आधार पर उसका निर्माण किया जाए, जैसा कनाडा के सीनेट में किया जाता है, तो उसका कोई आदर नहीं होता। इसी प्रकार यदि निर्वाचन द्वारा दूसरे सदन का निर्माण किया जाए तो वह पहले सदन के समान ही होता है और प्रायः उसी मत की अभिव्यक्ति करता है जिसकी पहला सदन करता है। दोनों सदनों की शक्तियों की दृष्टि से भी द्विसदनीय व्यवस्था आलोचनीय है, क्योंकि यदि दोनों सदनों की शक्तियाँ असमान हों, तो कम शक्तिशाली सदन दूसरे पर कोई सक्रिय नियन्त्रण नहीं कर सकता और यदि दोनों की शक्तियाँ समान हों, तो परस्पर विरोध की सम्भावनाएँ अधिक हो जाती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सब प्रकार से सन्तोषजनक एवं आदर्श दूसरा सदन बनाना एक कठिन समस्या है और इस प्रकार लोग अब एकसदनीय व्यवस्था को ही अधिक उचित समझते हैं।

(5) व्यय की दृष्टि से भी द्विसदनीय व्यवस्था का विरोध किया जाता है और यह कहा जाता है कि चूँकि व्यवस्थापन-कार्य एक सदन द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है, दूसरे सदन का रखना राज्य के धन का अपव्यय करना है।

---

1. "Legislation does not .... suddenly find its way to the Statute Book, Almost every measure that is enacted becomes law as a result of a long process of discussion and analysis so that the importance of Second Chamber as exercising check on hasty legislation is greatly lessened by the modern conditions of politics."

—Laski : *Grammar of Politics,* p. 330ff.

व्यवस्थापिकाओं के सदनों की रचना—व्यवस्थापिका में एक सदन होना चाहिए अथवा दो, यह देखने के पश्चात् अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि साधारणत: दोनों सदनों की रचना आजकल किस प्रकार की जाती है। जहाँ तक प्रथम सदन का प्रश्न है, सर्वत्र उसकी रचना ऐसे सदस्यों द्वारा होती है, जिन्हें राज्य की जनता निर्वाचित करती है। दूसरे सदनों की रचना में अवश्य स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ, ग्रेट-ब्रिटेन में द्वितीय सदन की रचना उन सदस्यों से होती है, जो वंशानुक्रम से उसके सदस्य होते चले आते हैं। किन्हीं राज्यों में ऐसी व्यवस्था है कि द्वितीय सदन के सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। ऐसी व्यवस्था जापान, इटली तथा कनाडा आदि अनेक राज्यों में रही है। एक ओर द्वितीय सदन अधिकतर मनोनीत होते हैं, तो दूसरी ओर किन्हीं राज्यों में वे पूर्णत: निर्वाचित होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राजील तथा आस्ट्रेलिया आदि राज्य के द्वितीय सदन इसके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त कुछ राज्यों में पूर्ण मनोनयन तथा पूर्ण निर्वाचन के मध्य का मार्ग अपनाया गया है और वहाँ द्वितीय सदन के सदस्य आंशिक रूप में मनोनीत तथा आंशिक रूप से निर्वाचित होते हैं। भारतीय संघ में द्वितीय सदन की रचना इसी सिद्धान्त के आधार पर की जाती है। इसके अतिरिक्त निर्वाचन के लिए भी किन्हीं राज्यों में प्रत्यक्ष विधि तथा किन्हीं में परोक्ष विधि प्रयोग में लाई जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधारणत: प्रथम सदन की रचना तो निर्वाचन द्वारा होती है, किन्तु द्वितीय सदन के लिए भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है।

व्यवस्थापिकाओं का कार्य-काल तथा उनके सदस्यों का वेतन—व्यवस्थापिका-सभाओं का कार्य-काल कितना रखा जाए यह प्रश्न भी विवादग्रस्त रहा है और इस सम्बन्ध में कोई सर्वमान्य निर्णय नहीं दिया जा सकता। फिर भी इस सम्बन्ध में साधारणत: यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है कि कार्यावधि न अधिक लम्बी और न अत्यन्त अल्प रखी जानी चाहिए। लम्बी कार्यावधि रखने से सदस्यों में निर्वाचकों के प्रति विश्वासपात्र बने रहने की प्रवृत्ति का ह्रास होता है और एक बार निर्वाचन होने पर वे अधिक समय तक पद पर बने रहने की स्थिति के कारण मनमानी करने की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि कार्य-काल अत्यन्त अल्प रखा जाता है, तो जिस कार्यक्रम को लेकर सदस्य राजनीतिक दलों के रूप में निर्वाचित होकर व्यवस्थापिका-सभाओं में जाते हैं, उन्हें वे समय के कम होने के कारण पूरा करने में असमर्थ रहते हैं। अत: यह आवश्यक समझा जाता है कि कार्य-काल न अधिक हो और न कम, अपितु ऐसा होना चाहिए कि व्यवस्थापिका के सदस्य निर्वाचकों का विश्वास बनाये रखने के लिए भी चिन्तित रहें और साथ ही अपने कार्यक्रम को भी कार्यरूप देने का उन्हें उचित अवसर प्राप्त हो सके।

व्यवस्थापिका के सदस्यों को उनके कार्य के लिए वेतन या भत्ता दिया जाए या नहीं, यह प्रश्न भी अत्यन्त विवादग्रस्त रहा है। यूरोप के देशों में पहले यह प्रथा थी कि व्यवस्थापिका के सदस्यों को अपना कार्य अवैतनिक रूप से करना चाहिए। जिस समय व्यवस्थापक लोग साधारणत: धनिक वर्ग के होते थे, यह विचार ठीक ही था। किन्तु अब,

जब व्यवस्थापिका के सदस्य सर्वसाधारण लोग भी होते हैं, यह आवश्यक समझा जाता है कि उन्हें उनके कार्य के लिए उचित पारिश्रमिक दिया जाए जिससे वे अपनी आजीविका की चिन्ता से मुक्त होकर व्यवस्थापन-सम्बन्धी कार्य कर सकें। फिर भी वेतन या भत्ता देने के सिद्धान्त का एक दोष भी है और वह यह है कि इसके कारण व्यवस्थापन कार्य एक पेशा बन जाता है और सदस्यों में वह सार्वजनिक सेवा का भाव नहीं रहता, जिसकी इस कार्य के लिए अत्यन्त आवश्यकता है। व्यवस्थापिका का सदस्य होना जब जीविकोपार्जन का एक अच्छा साधन बन जाता है, तो अनेक लोग राजनीति में भाग लेकर व्यवस्थापिका सभाओं की सदस्यता के लिए इसी उद्देश्य से खड़े होते हैं कि उससे अच्छी आय होगी और निर्वाचित होने पर सेवा-भाव के कारण नहीं वरन् आय के लोभ से कार्य करते हैं। इस दृष्टि से उचित यही है कि विधायक लोगों को वेतन अवश्य दिया जाए, किन्तु वह केवल इतना ही हो जितना अत्यावश्यक हो तथा वह इतना न हो कि लोग वैभव का जीवन बिताने के लिए विधायक होने का उद्योग करें।

कार्यपालिका (Executive)

सरकार का दूसरा प्रमुख अंग कार्यपालिका होता है। इस विभाग की महत्ता प्राचीन काल से ही चली आ रही है। पहले कार्य-रूप में सरकार की सभी शक्तियाँ शासन-विभाग में ही निहित होती थी और इस प्रकार का कार्य-विभाजन नहीं था, जैसा आजकल पाया जाता है। आधुनिक काल में भी कार्यपालिका की महत्ता कम नहीं है, क्योंकि व्यवहार-रूप में राज्य के समस्त विभागों का उत्तरदायित्व इस पर ही होता है। व्यवस्थापिका जो कानून बनाती है, उन्हें बहुधा कार्यपालिका ही प्रस्तावित करती है, राज्य वित्त का प्रायः उसी व्यवस्था के अनुसार व्यय होता है, जिसे कार्यपालिका प्रस्तावित करती है, यद्यपि व्यवस्थापिका उसकी नियमित स्वीकृति अवश्य करती है। न्यायपालिका की व्यवस्था का भी अन्तिम उत्तरदायित्व कार्यपालिका पर ही होता है। यही कारण है कि सरकार के इसी अंग को प्रायः साधारण बोलचाल में सरकार कहा जाता है।

कार्यपालिका की परिभाषा—कार्यपालिका सरकार का वह अंग है, जो राज्य की उस इच्छा को कार्य-रूप देती है, जो व्यवस्थापिका द्वारा कानून के रूप में व्यक्त होती है। व्यापक रूप से कार्यपालिका का तात्पर्य उन सभी राज-कर्मचारियों से होता है, जिनका सम्बन्ध राज्य के प्रशासन से होता है और इस प्रकार कार्यपालिका में राष्ट्रपति से लेकर साधारण पटवारी अथवा चौकीदार तक आ जाते हैं, परन्तु सरकार के एक अंग के रूप में विचार करते समय कार्यपालिका से हमारा तात्पर्य राज्य के प्रधान तथा उनके मन्त्रियों से ही होता है। उदाहरणार्थ, भारत में, राष्ट्रपति तथा उसके मन्त्रिमण्डल को, ग्रेट ब्रिटेन में राजा तथा उसके मन्त्रिमण्डल को तथा अमेरिका में राष्ट्रपति तथा उसके मन्त्रिमण्डल को हम कार्यपालिका (Executive) के नाम से पुकारते हैं।

कार्यपालिका के कार्य—जैसा ऊपर कहा गया है, कार्यपालिका का कार्य राज्य की उस इच्छा को कार्य-रूप देना है, जो व्यवस्थापिका द्वारा कानून के रूप में व्यक्त की

जाती है। इस सम्बन्ध में जो कार्य कार्यपालिका को करने पड़ते हैं, उन्हें हम निम्न प्रकार रख सकते हैं—

राजनय सम्बन्धी कार्य—एक राज्य के दूसरे राज्य के साथ कुछ सम्बन्ध होते हैं, उनमें परस्पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यवहार होता है, सन्धियाँ होती हैं, युद्ध होते हैं, व्यापारिक समझौते होते हैं, राजदूतों का आदान-प्रदान होता है। इन सबसे सम्बन्धित कार्यों का सम्पादन कार्यपालिका द्वारा होता है, यद्यपि ये सब कार्य राज्य के अध्यक्ष के नाम से होते हैं, तथापि इनसे सम्बन्धित कार्य का भार वस्तुतः मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य पर रहता है तथा उसका स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि व्यवहार रूप में राजनय-सम्बन्धी उक्त कार्यों को कार्यपालिका किसी सीमा तक स्वतन्त्रतापूर्वक करती है, तथापि अपने अन्य प्रकार के कार्यों की तरह इस प्रकार के कार्यों में भी वह व्यवस्थापिका के अधीन है और इस प्रकार की व्यवस्था होती है कि कार्यपालिका के राजनय सम्बन्धी कार्यों का सिंहावलोकन किसी न किसी रूप में व्यवस्थापिका द्वारा अवश्य होता रहे।

प्रशासन सम्बन्धी कार्य—कार्यपालिका के अन्य प्रकार के कार्य प्रशासन सम्बन्धी कार्य होते हैं तथा इनका सम्बन्ध राज्य के कानूनों को क्रियान्वित करने की व्यवस्था से होता है। इस सम्बन्ध में कार्यपालिका द्वारा कानूनों को कार्य-रूप देने के लिए कर्मचारियों की नियुक्ति की व्यवस्था, उसके लिए उचित आदेशों की व्यवस्था, और यह देख-रेख की जाती है कि प्रशासनिक-कार्यों का संचालन ठीक प्रकार से हो। इसमें सन्देह नहीं कि सभी राज्यों में स्थायी राज-कर्मचारियों की स्थिति, अधिकार एवं कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में निश्चित नियम बने होते हैं और उनके अनुसार कार्य करते हुए उन्हें पर्याप्त शक्ति और अधिकार प्राप्त रहते हैं, तथापि चूँकि उन नियमों का स्रोत कार्यपालिका ही है तथा उनमें वह संशोधन एवं परिवर्तन कर सकती है, अन्ततोगत्वा राजकर्मचारी कार्यपालिका के ही अधीनस्थ होते हैं। इसलिए कार्यपालिका इस स्थिति में होती है कि वह राजकर्मचारियों को प्रशासन-सम्बन्धी आवश्यक आदेश दे सके, उन्हें उन आदेशों को मानने के लिए बाध्य कर सके तथा इस प्रकार व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत कानूनों को, उनके माध्यम द्वारा, कार्यरूप दे सके।

व्यवस्थापन (Legislation) **सम्बन्धी कार्य**—व्यवस्थापन से सम्बन्धित अनेक कार्य भी कार्यपालिका द्वारा होते हैं। संसदीय पद्धति वाले राज्यों में मन्त्रिपरिषद् संसद का अधिवेशन बुलाती है, उसका सत्रावसान करती है तथा उसका विघटन करती है। इसके अतिरिक्त वह अनेक कानूनों के विधेयक तैयार करती है और उन्हें व्यवस्थापिका के समक्ष प्रस्तुत करती है। वही राजकीय बजट तैयार करके व्यवस्थापिका के समक्ष स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों की अन्तिम स्वीकृति प्रमुख कार्यपालिका (Chief Executive) ही करती है। अध्यक्षीय शासन-प्रणाली वाले राज्यों में भी राष्ट्रपति को व्यवस्थापन सम्बन्धी कुछ विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं।

एक अन्य प्रकार का व्यवस्थापन-सम्बन्धी कार्य भी कार्यपालिका द्वारा होता है तथा वह है अध्यादेशों (Ordinances) का जारी करना। अनेक अवसर ऐसे आते हैं जब

या तो व्यवस्थापिका की बैठक न होने के कारण अथवा किसी संकटकालीन अवस्था की उपस्थिति के कारण कार्यपालिका को शासन-संचालन के लिए अध्यादेश जारी करने पड़ते हैं। किन्हीं राज्यों में ऐसी व्यवस्था भी रखी गई है कि बाह्य आक्रमण, युद्ध, आन्तरिक विद्रोह अथवा अन्य किसी कारणवश यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाए कि संविधान के अनुसार शासन-संचालन सम्भव न हो, तो ऐसी दशा में राज्य का अध्यक्ष संकटकाल की घोषणा कर सकता है तथा व्यवस्थापन का कार्य स्वयम् ऐसे अध्यादेशों के माध्यम से कर सकता है, जिनकी मान्यता संसद द्वारा स्वीकृत कानूनों के समान ही होती है।

सुरक्षा-सम्बन्धी कार्य—कार्यपालिका राज्य की सुरक्षा के लिए भी उत्तरदायी है और अपने इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए वह राज्य में जल, थल तथा वायु सेना और पुलिस रखती है तथा उसके प्रयोग के लिए शस्त्रास्त्र आदि का उचित प्रबन्ध करती है। राज्य बाह्य आक्रमणों से बचा रहे और उसमें आन्तरिक शान्ति व व्यवस्था बनी रहे, इसका उचित प्रबन्ध करना तथा इस सम्बन्ध में सैनिक एवं पुलिस कर्मचारियों की नियुक्ति, उनको आदेश देने तथा मनवाने का अधिकार कार्यपालिका को प्राप्त होता है। यद्यपि, युद्ध घोषित करने का अनियन्त्रित एवं पूर्ण अधिकार इसे साधारणतः प्राप्त नहीं होता तथा इसका निर्णय अधिकतर राज्यों में व्यवस्थापिकाएँ करती हैं, तथापि युद्ध की घोषणा होने के पश्चात् इस सम्बन्ध में कार्यपालिका का अधिकार इससे असाधारण रूप से बढ़ जाता है और सामयिक रूप से संवैधानिक कानून तथा नागरिकता के अधिकारों को भी स्थगित कर दिया जाता है फौजी कानून (Martial Law) जारी कर दिये जाते हैं।

न्याय-सम्बन्धी कार्य—कार्यपालिका का कुछ कार्य न्याय-सम्बन्धी भी है। उसका इस सम्बन्ध में यह कार्य होता है कि न्याय की उपयुक्त व्यवस्था करे, जिससे कानूनों का उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड मिल सके। इसके लिए कार्यपालिका द्वारा न्यायाधिकारियों की नियुक्ति होती है। इसके अतिरिक्त कार्यपालिका के न्याय सम्बन्धी कार्य का एक और भी स्वरूप होता है। राज्य का अध्यक्ष किसी दण्डित व्यक्ति के प्रति दया प्रदर्शित करके उसके दण्ड को कम या समाप्त कर सकता है तथा विशेष अवसरों पर अभियुक्तों को सर्वक्षमा (General amnesty) प्रदान कर सकता है। मनुष्यता की दृष्टि से कार्यपालिका के इस कार्य का बड़ा महत्त्व है।

कार्यपालिका का संगठन—राज्य की कार्यपालिका का संगठन किस प्रकार किया जाए, यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसा पहले कहा गया है, कार्यपालिका का प्रयोजन यह होता है कि व्यवस्थापन-विभाग द्वारा अभिव्यक्त राज्य की इच्छा को कार्य-रूप में परिणत करे। कार्यपालिका का संगठन किस प्रकार हो, इस कथन का निर्णय करने के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसका संगठन इस प्रकार का हो कि वह अपने प्रयोजन—राज्य की इच्छा को कार्य-रूप में परिणित करने—में समर्थ हो। कार्यपालिका इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए समर्थ हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि इसका संगठन ऐसा हो कि वह शासन-सम्बन्धी सब मामलों पर अविलम्ब निर्णय कर सके, वह उनके विषय में दुविधा में न रहे और जो समस्याएँ उसके समक्ष उपस्थित हों, उनका वह तुरन्त और साहस

के साथ समाधान कर सके। शासन सम्बन्धी समस्याओं के उचित तथा तुरन्त निर्णय की आवश्यकता की दृष्टि से कार्यपालिका में एकता होना आवश्यक है (चाहे उसका संगठन किसी प्रकार का हो) और यह तभी सम्भव हो सकता है जब शासन की शक्ति वस्तुत: एक स्थान पर केन्द्रित हो। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से लोग सामूहिक रूप से किसी प्रश्न पर अच्छी तरह से विचार कर सकते हैं, विवाद द्वारा उसके विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात कर सकते हैं, तथापि जब किसी विषय से सम्बन्धित निर्णय को कार्य-रूप देने का समय आता है, तो यह निर्विवाद है कि एक व्यक्ति अनेक व्यक्तियों से सदा अच्छा होता है। यही कारण है कि शासन (जिसका प्रयोजन राज्य की इच्छा को कार्य रूप देना होता है) का अन्तिम उत्तरदायित्व केवल एक व्यक्ति के हाथ में रहना आवश्यक है। यदि शासन का उत्तरदायित्व अथवा उससे सम्बन्धित शक्ति अनेक व्यक्तियों में निहित होगी, तो उनमें मतभेद रहेंगे, एकता अथवा एकरूपता का अभाव रहेगा, अनेक का उत्तरदायित्व किसी का उत्तरदायित्व न होगा, अविलम्ब निर्णय होने में बाधा पड़ेगी तथा परिणामत: कार्यपालिका में वह कार्यक्षमता नहीं आने पायेगी, जिसकी उसे अत्यन्त आवश्यकता होती है। यह ठीक है कि कोई शासक अकेला सम्पूर्ण शासन का कार्य नहीं चला सकता। शासन इतना विस्तृत तथा विभिन्न प्रकार का होता है कि उसका संभालना एक व्यक्ति के लिए व्यावहारिक रूप में असम्भव होता है तथा इस कारण उसे अनेक सहायकों की आवश्यकता होती है। तथापि शासन का जो प्रयोजन होता है, उसे क्षमतापूर्वक एवं कुशलता से पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि शासन का अन्तिम उत्तरदायित्व एक स्थान पर तथा एक व्यक्ति के हाथों में केन्द्रीभूत हो।

कार्यपालिका की एकता के उक्त सिद्धान्त को सदा से मान्यता प्राप्त रही है, चाहे कार्यपालिका के संगठन का रूप कुछ भी क्यों न रहा हो। प्राचीनकाल में राजतन्त्र के युग में तो कार्यपालिका-शक्ति क्या, सभी प्रकार की शक्तियाँ एक व्यक्ति के हाथ में रहती ही थीं। आजकल लोकतन्त्र के युग में भी शासन-प्रणाली में कार्यपालिका दो प्रकार की होती है—अध्यक्षात्मक (Presidential) तथा संसदात्मक (Parliamentary) तथा दोनों प्रकार की कार्यपालिकाओं में शासन का अन्तिम उत्तरदायित्व एक व्यक्ति के हाथ में रहता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में अध्यक्ष का निर्वाचन होता है और वह अपने मन्त्रिमण्डल की नियुक्ति स्वयं करता है, जो उसके प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है। इस प्रकार अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में मन्त्रिमण्डल के सदस्य कार्यपालिका के विभिन्न अंगों को संभालते हैं, किन्तु उनके अपने कार्यों के लिए अध्यक्ष के प्रति उत्तरदायित्व की व्यवस्था के कारण शासन--कार्य का अन्तिम उत्तरदायित्व एक व्यक्ति अर्थात् अध्यक्ष के हाथों में होता है। इसी प्रकार संसदात्मक शासन-प्रणाली में प्रधानमन्त्री संसद के बहुमत दल का नेता होता है तथा साधारणत: उसी के विश्वास के सदस्य उसके मन्त्रिमण्डल के सदस्य नियुक्त किये जाते हैं। इस व्यवस्था में भी यद्यपि शासन के विभिन्न अंग विभिन्न मन्त्रियों के सुपुर्द होते हैं, तथापि मन्त्रिमण्डल के संगठन, उसके विषय-विभाजन, उसके पुनर्गठन तथा उसके विघटन आदि का अधिकार पूर्णत: प्रधानमन्त्री को प्राप्त होने के कारण शासन कार्य का अन्तिम

उत्तरदायित्व एक व्यक्ति अथवा प्रधानमन्त्री को प्राप्त होने के कारण शासन कार्य का अन्तिम उत्तरदायित्व एक व्यक्ति अथवा प्रधानमन्त्री के हाथों में रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान समय में प्राय: सभी लोकतन्त्रात्मक राज्यों में शासन-शक्ति की एकता तथा एकरूपता को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है और इस सिद्धान्त को पूर्णत: स्वीकार किया जाता है कि यद्यपि शासन की सुविधा के लिए शासन-कार्य अनेक भागों में विभक्त किया जा सकता है, तथापि शासन के सम्बन्ध में अन्तिम उत्तरदायित्व एक ही व्यक्ति में निहित होना चाहिए।

कार्यपालिका का कार्यकाल—कार्यपालिका का कार्य-काल कितना होता है, यह बात राज्य में प्रचलित शासन की पद्धति पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ जिस राज्य में राजतन्त्र हो, वहाँ शासक का कार्य-काल अनिश्चित रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य जितनी भी पद्धतियाँ हैं, उन सबमें शासक-वर्ग का कार्य-काल निश्चित होता है। अध्यक्षात्मक शासन-पद्धति में शासक अर्थात् राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिए होता है और उसी अवधि के लिए वह अपनी मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति भी कर सकता है। इस प्रकार की शासन पद्धति में व्यवस्थापिका के कार्य-काल तथा कार्यपालिका के कार्य-काल में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु संसदीय पद्धति वाले राज्यों में शासक-वर्ग अर्थात् कार्यपालिका का कार्य-काल साधारणत: व्यवस्थापन-विभाग के एक या दोनों सदनों के कार्य-काल के समान होता है; यद्यपि कार्यपालिका तभी तक अपने स्थान पर रह सकती है, जब तक उसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त रहे। ऐसे राज्यों में जहाँ तक राज्य के अध्यक्ष के कार्य-काल का प्रश्न है, वह एक निश्चित समय के लिए निर्वाचित होता है और उसके पूरे होने से पहले वह केवल महाभियोग (Impeachment) द्वारा ही अपने पद से हटाया जा सकता है।

कार्यपालिका के कार्य-काल के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि कार्य-काल पर्याप्त होना चाहिए, यद्यपि उसका पद पर बने रहना सदा-जनहित साधन पर निर्भर रहता है। जिन राज्यों में शासन का संचालन राष्ट्रपति के हाथ में हो, वहाँ उसका कार्य-काल इतना अवश्य होना चाहिए कि वह अपने विचारों और नीतियों को कार्य-रूप में परिणत कर सके। संसदीय शासन-पद्धति वाले राज्यों में कार्यपालिका का कार्य-काल विश्वास-प्राप्ति के साथ व्यवस्थापिका के साथ चलता है। अत: इस प्रकार की पद्धति वाले राज्यों में भी व्यवस्थापिका का और उसके परिणामस्वरूप कार्यपालिका का कार्य-काल इतना पर्याप्त होना चाहिए कि व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित नीतियों को अच्छी तरह कार्य-रूप दिया जा सके।

शासक-वर्ग की नियुक्ति—शासक-वर्ग की नियुक्ति की विधि भी विभिन्न प्रकार की शासन पद्धतियों में विभिन्न प्रकार की होती है। जिस राज्य में एकतन्त्रीय शासन होता है, वहाँ राजा वंशक्रमानुगत होता है। ऐसे राज्यों में भी वंश-क्रम सम्बन्धी नियम पृथक्-पृथक् होते हैं। लोकतन्त्रीय राज्यों में शासक-वर्ग की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती है। अध्यक्षीय (Presidential) तथा संसदीय (Parliamentary) पद्धति में नियुक्ति की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। अध्यक्षीय प्रणाली में राज्यों में अध्यक्ष निर्वाचित होता है और वह अपने

शासक-मण्डल के सदस्यों की नियुक्ति स्वयं करता है। संसदीय प्रणाली में साधारणतः बहुमत वाले दल का नेता अध्यक्ष के निमन्त्रण पर व्यवस्थापिका के सदस्यों में से मन्त्रिमण्डल बनाता है और इस प्रकार इस पद्धति में पूर्ण शासक मण्डल निर्वाचित सदस्यों का होता है।

प्रशासक-वर्ग (लोक सेवा)—अब तक के विवेचन में हमने देखा है कि कार्यपालिका जिससे हमारा तात्पर्य राज्य के अध्यक्ष (राजा अथवा राष्ट्रपति) तथा उसके मन्त्रिमण्डल से होता है, व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित नीतियों तथा उसके द्वारा किये गये निर्णयों को कार्य-रूप में परिणत करती है उसके सदस्य इससे सम्बन्धित व्यावहारिक कार्य स्वयं नहीं कर सकते और इसके लिए उन्हें उन स्थायी राजपदाधिकारियों और राजकर्मचारियों पर निर्भर होना पड़ता है जो लोक-सेवा (Civil Service) के सदस्य होते हैं। वस्तुतः राज्य का वास्तविक प्रशासन इन कर्मचारियों के ही हाथों में होता है और प्रत्येक राज्य की शासन शृंखला में इनका स्थान अत्यन्त महत्त्व का होता है। शासक-वर्ग अर्थात् कार्यपालिका के सदस्यों तथा प्रशासक-वर्ग अर्थात् लोक-सेवा के सदस्यों की स्थिति में मौलिक भेद होता है। मन्त्रियों अथवा राष्ट्रपति के पद पर जो लोग नियुक्त होते हैं उनके लिए कोई निश्चित योग्यता सम्बन्धी मर्यादा नहीं होती। इन स्थानों पर ऐसे कोई भी व्यक्ति नियुक्त हो सकते हैं, जिन्हें जनता का विश्वास प्राप्त हो, चाहे शिक्षा अथवा प्रशासन-सम्बन्धी योग्यता उनमें विशेष न हो। किन्तु प्रशासक वर्ग के लिए यह बात नहीं है। उनके लिए यह आवश्यक होता है कि उनकी निश्चित योग्यता हो। इसके लिए उन्हें निश्चित परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता है जो प्रायः सर्वत्र लोक-सेवा आयोगों द्वारा आयोजित की जाती है। इसके अतिरिक्त कार्यपालिका सदस्य एक ही समय पर जीवन भर के लिए अपने पद पर नियुक्त नहीं किये जाते। उनका कार्य-काल थोड़े समय का होता है। वे तब तक अपने पद पर कार्य करते रह सकते हैं, जब तक उन्हें जनता का विश्वास प्राप्त रहे। प्रशासक वर्ग के विषय में यह बात नहीं होती। उनकी नियुक्ति परीक्षा-फल के आधार पर साधारणतः युवावस्था में की जाती है और राज्य के स्थायी कर्मचारी के रूप में वे आजीवन राज्य की सेवा करते हैं। शासक-वर्ग का सम्बन्ध राजनीति से अति घनिष्ठ होता है, जबकि प्रशासक-वर्ग का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। राज्य का शासन किसी भी राजनीतिक दल के हाथ में क्यों न हो, प्रशासक वर्ग का कार्य है कि वे सत्तारूढ़ राजनीतिक दल के शासन सम्बन्धी आदेशों का पालन करते रहें।

प्रशासक वर्ग के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यद्यपि ये लोग शासक-वर्ग के सदस्यों के आदेशों के अन्तर्गत कार्य करते हैं, तथापि शासन-शृंखला में इनका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान होता है और इनके कार्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। शासन विभाग के मन्त्री द्वारा नीति निर्धारित होने के पश्चात् किसी भी कार्य को इन्हीं प्रशासक-वर्ग के सदस्यों द्वारा सम्पादित किया जाता है, जिसकी शृंखला विभाग के सचिव (Secretary) से प्रारम्भ होती है। यद्यपि राज्य में प्रशासन की दृष्टि से प्रशासक वर्ग के प्रत्येक सदस्य का महत्त्व होता है, तथापि चोटी के प्रशासकों का स्थान राज्य के प्रशासन में अति महत्त्वपूर्ण होता है। वे ही लोग अपने-अपने विभाग के मन्त्रियों को विभाग के शासन-प्रबन्ध के विषय में ऐसे परामर्श देते

हैं जिनके बिना कदाचित मन्त्री लोगों का काम सहज नहीं चल सकता। ये लोग व्यवस्थापन और न्याय-सम्बन्धी अनेक कार्य भी करते हैं। मन्त्रियों की ओर से जो राजकीय विधेयक पेश किये जाते हैं अथवा जो बजट प्रस्तुत किया जाता है, उन्हें वस्तुतः ये ही लोग तैयार करते हैं। प्रशासन सम्बन्धी अनेक प्रकार के नियमों का भी निर्माण ये लोग ही करते हैं। इन्हीं लोगों द्वारा अपने अधीन कर्मचारियों की अपील आदि पर निर्णय भी किये जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य में प्रशासक वर्ग के कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं तथा राज्य का व्यवस्थापन-विभाग जहाँ केवल कानून पारित कर सकता है अथवा नीति-निर्धारण कर सकता है या शासन-विभाग अथवा कार्यपालिका उन्हें कार्यान्वित करने से सम्बन्धित आदेश दे सकती है, वहाँ राज्य के वास्तविक शासन-प्रबन्ध को सम्भालने का महत्त्वपूर्ण कार्य प्रशासक-वर्ग का ही होता है।

न्यायपालिका (Judiciary)

सरकार का तीसरा प्रमुख अंग न्यायपालिका है। व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका सम्बन्धी उक्त विवेचन में जैसा हमने देखा, व्यवस्थापिका सरकार का वह अंग होता है जो राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति कानूनों के रूप में करता है तथा कार्यपालिका राज्य का वह अंग होता है जो व्यवस्थापिका द्वारा कानूनों के रूप में अभिव्यक्ति राज्य की इच्छाओं को कार्य-रूप देता है। इसी प्रकार न्यायपालिका सरकार का वह अंग होता है जो आवश्यकतानुसार इन कानूनों के अर्थ की व्याख्या करता है तथा यदि कोई व्यक्ति इनका उल्लंघन करता है, तो उसे उचित दण्ड देता है। एक व्यवस्थित न्यायपालिका का अस्तित्व किसी राज्य के व्यवस्थित जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। किसी राज्य में कानूनों की कितनी ही अच्छी व्यवस्था क्यों न हो, उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने के लिए जब तक एक पृथक् तथा स्वतन्त्र न्याय-विभाग नहीं होता, उसका पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। राजकीय कानूनों का पालन सर्वत्र ठीक ढंग से हो रहा है और यदि कोई उल्लंघन करता है तो उसे उचित दण्ड मिले, इसके लिए एक निर्भीक तथा निष्पक्ष न्यायपालिका का होना अति आवश्यक है। आधुनिक युग में तो न्यायपालिका का महत्त्व और भी बढ़ गया है, क्योंकि अब यह विभाग केवल व्यक्तियों के पारस्परिक मुकदमों का ही निर्णय नहीं करता, वरन् उन विवादों का भी निर्णय करता है जो राज्य तथा व्यक्तियों अथवा राज्यों और राज्यों के मध्य उठ खड़े होते हैं। वस्तुतः जैसा **लॉर्ड ब्राइस** ने कहा है, "न्यायपालिका राज्य के लिए एक आवश्यकता नहीं है, अपितु उसकी क्षमता से बढ़कर सरकार की उत्तमता की कोई कसौटी ही नहीं है।"[1]

न्यायपालिका के कार्य—आधुनिक न्यायपालिका के कार्यों को हम संक्षेप में निम्न प्रकार रख सकते हैं—

अभियोगों के निर्णय का कार्य—न्यायपालिका का सबसे प्रमुख कार्य यह है कि वह कानूनों के अनुसार व्यक्तियों के आपसी झगड़ों का निर्णय करती है। व्यक्तियों के

1. Bryce : Modern Democracies, Vol. II, p. 384.

पारस्परिक झगड़े—दीवानी, फौजदारी एवं माल सम्बन्धी—अनेक प्रकार के होते हैं और न्यायालय इन सब प्रकार के झगड़ों का निर्णय कानून के अनुसार करते हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि न्यायालयों को ऐसे मामलों में कानूनों की अच्छाई-बुराई से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वे नहीं देखते कि अमुक कानून न्यायपूर्ण है अथवा अन्यायपूर्ण है या वह जनहितकारी है अथवा जनता के हित के विरुद्ध है। उनका तो कार्य केवल यह होता है कि अपने समक्ष आये हुए मुकदमों का निर्णय वे वर्तमान कानूनों के अनुसार करें।

कानूनों की व्याख्या का कार्य—मुकदमों के सिलसिले में उन्हें कानूनों की व्याख्या करनी पड़ती है और इस प्रकार वे अनेक कानूनों के अभिप्राय का स्पष्टीकरण करते हैं तथा न्यायालयों द्वारा इस प्रकार की गई व्याख्याओं की स्थिति कानूनों के ही समान होती है।

औचित्य के सिद्धान्त पर निर्णय का कार्य—यद्यपि प्रत्येक राज्य में कानूनों का क्षेत्र व्यापकतम होता है, तथापि ऐसे भी अनेक मुकदमे अथवा विवाद उपस्थित हो जाते हैं जिनमें कोई वर्तमान कानून लागू नहीं हो सकता और परिणामत: उनका निर्णय वर्तमान कानूनों के अनुसार नहीं किया जा सकता। ऐसी दशा में न्यायालय औचित्य (Equity) तथा स्वाभाविक न्याय के सिद्धान्त के आधार पर अनेक निर्णय देते हैं। इन निर्णयों का बड़ा महत्त्व होता है क्योंकि ऐसे ही निर्णयों के आधार पर कानून की परम्परा स्थापित हो जाती है और राज्य में कानून का एक ऐसे प्रकार का विकास होता है जिसे केस-लॉ (Case-law) अथवा न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून कहा जाता है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं अधिकारों की रक्षा का कार्य—न्यायपालिका व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उनके अधिकारों की रक्षा का कार्य भी करती है। साधारणत: व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उसके अधिकारों को दो ओर से भय रहता है—अन्य व्यक्तियों की ओर से और राज्य की ओर से। व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उसके अधिकारों को अन्य व्यक्तियों की ओर से भय इसलिए होता है कि सब व्यक्तिगत सब तरह से समान नहीं होते और किसी प्रकार से सबल व्यक्ति निर्बल व्यक्तियों की स्वतन्त्रता तथा उसके अधिकारों के प्रयोग में बाधा उपस्थित कर सकते हैं। दूसरी ओर राज्य भी शक्ति सम्पन्न संस्था होने के कारण कभी-कभी व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा उसके अधिकारों के प्रयोग में बाधक बन जाता है। न्यायपालिका का यह कार्य है कि इन दोनों प्रकार की बाधाओं से व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों के प्रयोग को अक्षुण्ण रखे। व्यक्ति के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता अपहरण तथा अधिकारों के प्रयोग में बाधा उपस्थित करने के लिए तो व्यक्ति न्यायपालिका से न्याय प्राप्त कर ही सकता है, वह राज्य के विरुद्ध भी अपनी स्वतन्त्रता के अपहरण तथा अधिकारों के प्रयोग में बाधा उपस्थित किये जाने पर न्याय-विभाग से संरक्षण प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में व्यक्ति राज्य अथवा सम्बन्धित राज्य-कर्मचारी के विरुद्ध उसके लिए मुकदमा चला सकता है और न्यायालय व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों के प्रयोग में बाधा उपस्थित करने वाले किसी भी शासकीय कार्य पर रोक लगा सकता है।

संविधान के संरक्षण का कार्य—इसके अतिरिक्त न्यायपालिका संविधान की पवित्रता तथा उसमें प्रतिपादित व्यवस्था की भी रक्षा करती है। यदि किसी राज्य में संविधान लेखबद्ध होता है और संवैधानिक कानून तथा साधारण कानून की स्थिति में अन्तर होता है, तो व्यवस्थापिका की कानून-निर्माण सम्बन्धी शक्ति संविधान द्वारा मर्यादित होती है एवं कोई भी कानून संविधान के विरुद्ध नहीं बनाया जा सकता। अत: यदि व्यवस्थापिका ऐसा नहीं करती और कोई ऐसे कानून बनाती है, जो संविधान के प्रतिकूल हों, तो राज्य के नागरिकों को अधिकार होता है कि उसके विरुद्ध न्यायालय से न्याय प्राप्त कर सकें तथा न्यायालय को अधिकार होता है कि व्यवस्थापिका के ऐसे कानूनों को वह अवैध घोषित कर दे। इसी प्रकार संघात्मक राज्यों में संविधान में साधारणत: यह प्रतिपादित होता है कि संघ की विभिन्न इकाइयों तथा संघ तथा इकाइयों में पारस्परिक सम्बन्ध क्या होंगे। किन्तु यदि इस सम्बन्ध के विषय में कोई विवाद या मतभेद उत्पन्न हो जाए, तो उसका निर्णय भी न्यायपालिका (सर्वोच्च न्यायालय) द्वारा ही होता है और इस प्रकार न्याय-विभाग इस दशा में भी संविधान की व्यवस्था की रक्षा करता है।

घोषणात्मक निर्णयों का कार्य—न्यायालयों के समक्ष प्रस्तुत किये गये मुकदमों में तो वे विवादग्रस्त कानूनी प्रश्नों का निर्णय करते ही हैं तथा कानूनों के अभिप्राय और उनके औचित्य के सम्बन्ध में निर्णय देते ही हैं, अनेक राज्यों में बिना किसी विशिष्ट मुकदमे के भी न्यायालय कानूनों के अभिप्राय का स्पष्टीकरण करते हैं तथा उनके औचित्य एवं अनौचित्य के सम्बन्ध में निर्णयों की घोषणा करते हैं, क्योंकि सम्बन्धित व्यक्तियों को बिना किसी विशेष मुकदमे के प्रस्तुत किये हुए भी ऐसे निर्णय अथवा स्पष्टीकरण प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त होता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यवस्थापिका-सभाएँ जाने या अनजाने ऐसे कानून बना डालती हैं, जो या तो अस्पष्ट होते हैं या अन्य किसी पूर्व-पारित कानून के विरुद्ध होते हैं। ऐसी दशा में भी न्याय-विभाग इस प्रकार के कानून के विषय में घोषणात्मक निर्णय दे सकता है और इस प्रकार दोष पूर्ण व्यवस्थापन से राज्य की रक्षा कर सकता है।

परामर्श सम्बन्धी कार्य—अनेक राज्यों में न्यायपालिका कानूनी प्रश्नों पर परामर्श भी देती हैं, जब ऐसा परामर्श राज्य के व्यवस्थापन-विभाग अथवा शासन विभाग द्वारा मांगा जाता है। उदाहरणार्थ, इंग्लैण्ड में प्रीवी कौंसिल की जुडीशियल कमेटी से सरकार प्राय: वैधानिक एवं कानूनी समस्याओं पर परामर्श लेती है तथा व्यवस्थापिका का द्वितीय सदन अर्थात् हाउस ऑफ लॉर्ड्स जब अपील के सर्वोच्च न्यायालय का काम करता है तो सदा ही न्यायाधीशों से परामर्श लेता है। कनाडा में भी सर्वोच्च न्यायालय का यह कार्य है कि वह कानूनी मामलों में राज्यपाल को परामर्श दे। इसी प्रकार की व्याख्या आस्ट्रिया, पनामा, बल्गेरिया तथा स्वीडन आदि अनेक अन्य देशों में भी विद्यमान है।

विविध कार्य—न्यायालय अन्य अनेक प्रकार के कार्यों का भी सम्पादन करते हैं। उदाहरणार्थ, वे अपने अधीन अनेक कर्मचारियों की नियुक्ति करते हैं, अल्पवयस्कों के

संरक्षकों की नियुक्ति करते हैं, सार्वजनिक सम्पत्तियों के प्रन्यासियों (Trustees) की नियुक्ति करते हैं, वसीयतनामों को पंजीकृत करते हैं, ऐसे मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति का प्रबन्ध करते हैं, जिनका कोई उत्तराधिकारी प्रबन्धक न हो तथा कुव्यवस्थित व्यापारिक संस्थाओं के प्रबन्ध की भी व्यवस्था करते हैं। इसके अतिरिक्त न्यायालय अपराधी प्रकृति के उन कार्यों का होना भी रोकते हैं जिनसे किसी को अवैध रूप से हानि होने की सम्भावना हो। इसी प्रकार न्यायालय परमादेश के प्रयोग द्वारा राजकर्मचारियों को वे काम करने के लिए बाध्य कर सकते हैं, जिन्हें वे करणीय होते हुए भी न करते हों अथवा उन्हें ऐसे काम करने से रोक सकते हैं जो उनके लिए वैध रूप से करणीय न हों। इस प्रकार न्यायपालिका का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत तथा महत्त्वपूर्ण है।

न्यायपालिका का संगठन—न्यायपालिका का संगठन अनेक प्रकार से तथा विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है। उसके संगठन के विविध प्रकारों तथा सिद्धान्तों का विवेचन हम निम्न प्रकार कर सकते हैं—

(1) न्यायपालिका के संगठन के विषय में एक सिद्धान्त, जो प्रायः सर्वत्र प्रचलित है, यह है कि उसका संगठन एक ऐसी श्रृंखला के रूप में किया जाता है जिसमें छोटे न्यायालयों के ऊपर बड़े न्यायालय होते हैं, उनके ऊपर उच्च न्यायालय होते हैं और सर्वोपरि सर्वोच्च न्यायालय होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण राज्य का, जहाँ एक सर्वोच्च न्यायालय होता है, वहाँ उसके अधीन अनेक बड़े और छोटे न्यायालय भी होते हैं। साधारणतः मुकदमे छोटे न्यायालयों में पेश होते हैं, जिनके निर्णय के विरुद्ध उनसे ऊपर के न्यायालय में अपील की जाती है। उदाहरणार्थ, भारत में दीवानी न्यायालयों के संगठन में सबसे नीचे मुन्सिफ के न्यायालय, उनके ऊपर सिविल जज के न्यायालय, उनसे ऊपर जिलाजज के न्यायालय, उनके ऊपर उच्च न्यायालय (High Courts) तथा सबके ऊपर सर्वोच्च न्यायालय हैं। इस प्रकार साधारणतः न्यायपालिका का संगठन एक पिरामिड के समान होता है जिसका आधार राज्य में फैले हुए अनेक छोटे-छोटे न्यायालय होते हैं तथा जो उनसे ऊपर के बड़े न्यायालयों तथा उच्च न्यायालयों के रूप में उठते-उठते सर्वोच्च न्यायालय रूपी शीर्ष तक पहुँच जाता है।

(2) एक अन्य सिद्धान्त जिसके अनुसार कुछ राज्यों में न्यायालयों का संगठन किया जाता है, यह है कि मुकदमे की सुनवाई का कार्य साधारणतः एक न्यायाधीश करे। उदाहरण के लिए हम भारत, ब्रिटेन तथा अमेरिका को ले सकते हैं, जहाँ उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालयों को छोड़कर अन्य निचले न्यायालयों में प्रायः ऐसा ही होता है।

(3) उपर्युक्त के विरुद्ध कुछ राज्यों में न्यायालयों के संगठन में इस सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है कि प्रायः सभी मामलों में बहुसंख्यक न्यायाधीश हों, जिनसे न्याय सन्तुलित हो सके। इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत यह है कि न्याय के संतुलन की दृष्टि से बहुसंख्यक न्यायाधीशों का होना अति आवश्यक है, क्योंकि अनेक न्यायाधीश परस्पर परामर्श द्वारा जिस निर्णय पर पहुँचते हैं, वह अधिक उचित तथा मान्य होता है। फ्रांस को हम ऐसी न्याय-व्यवस्था के उदाहरण के रूप में ले सकते हैं, जहाँ सब स्तरों के न्यायालयों में एक से अधिक न्यायाधीश कार्य करते हैं और उनकी संख्या तीन से पन्द्रह तक होती है।

(4) एक अन्य सिद्धान्त जिसके अनुसार न्याय-विभाग का संगठन किया जाता है, यह है कि न्यायालय लोगों को सुलभ तथा निकटतम हों। इसके लिए अनेक राज्यों में ऐसे अनेक न्यायालयों की व्यवस्था की जाती है, जो एक स्थान पर स्थित न रहकर अपने क्षेत्र के विभिन्न स्थानों में जाकर और वहाँ रहकर न्याय करते हैं। इससे वादी और प्रतिवादी दोनों को सुविधा होती है। न्याय का मूल्य उस दशा में कुछ कम हो जाता है, जब न्यायालय स्थिर होते हैं। भारत, ब्रिटेन तथा अमेरिका में इस प्रकार की व्यवस्था पाई जाती है।

(5) उपर्युक्त के विपरीत किन्हीं राज्यों में न्याय-विभाग का संगठन इस प्रकार किया जाता है कि न्यायाधीश किसी एक निश्चित स्थान पर कार्य करते हैं और यह वादियों तथा प्रतिवादियों का काम होता है कि वे अपने मुकदमे की सुनवाई के लिए वहाँ उपस्थित हों। फ्रांस आदि यूरोपियन देशों में केवल स्थायी न्यायालय ही होते हैं।

(6) संघात्मक राज्यों में न्याय विभाग के संगठन में साधारणत: यह सिद्धान्त प्रयोग में आता है कि संघ तथा उसकी इकाइयों के लिए अलग-अलग प्रकार के न्यायालयों की व्यवस्था हो। एक प्रकार के न्यायालय वे होते हैं जो केवल संघीय कानूनों का प्रयोग करते हैं और उनका न्यायाधिकार संघ विषयक मामलों तक ही सीमित रहता है। दूसरे प्रकार के न्यायालय वे होते हैं, जो संघ की इकाइयों के कानूनों का प्रयोग करते हैं तथा जिनका न्यायाधिकार संघ की इकाइयों के मामलों तक ही सीमित होता है। इस प्रकार की न्याय-व्यवस्था के उदाहरणस्वरूप हम अमेरिका को ले सकते हैं, जहाँ केन्द्रीय और राजकीय न्यायालय अलग-अलग होते हैं।

(7) उपर्युक्त के विपरीत कुछ संघात्मक राज्यों में न्याय-व्यवस्था इस सिद्धान्त के अनुसार की जाती है कि संघ तथा उसकी इकाइयों के लिए न्यायालयों की एक ही श्रृंखला कार्य करती है तथा सभी न्यायालय संघ तथा इकाइयों दोनों के कानूनों का प्रयोग करते हैं और उनका न्यायाधिकार इकाइयों तथा संघ क्षेत्र में समान रूप से होता है। भारत में न्यायालयों की ऐसी ही व्यवस्था पाई जाती है।

(8) एक अन्य सिद्धान्त जिसका प्रयोग न्याय-विभाग के संगठन में किया जाता है, यह कि सामान्य-जनता के पारस्परिक झगड़ों के निर्णय के लिए अलग प्रकार के न्यायालय हों तथा जनता और सरकार के मध्य मुकदमे के निर्णय के लिए अलग प्रकार के न्यायालय हों। प्रथम प्रकार के न्यायालयों को सामान्य न्यायालय (General Courts) तथा द्वितीय प्रकार के न्यायालयों को प्रशासकीय न्यायालय (Administrative Courts) कहते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था फ्रांस तथा जर्मनी आदि में पाई जाती है, जहाँ सामान्य न्यायालयों के समानान्तर सर्वत्र प्रशासकीय न्यायालय भी स्थापित हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि कुछ विधि-शास्त्रियों विशेषत: अंग्रेज विधि शास्त्रियों के मतानुसार वह व्यवस्था वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्रवाद के विरुद्ध है, क्योंकि राज्य की स्थिति भी एक व्यक्ति जैसी ही होने के कारण उसके विरुद्ध चलाये जाने वाले मुकदमें भी सामान्य न्यायालयों में ही चलने चाहिएं और उन कर्मचारियों की स्थिति, जिनके विरुद्ध अभियोग लगाया जाता है, साधारण

व्यक्तियों से भिन्न तथा ऊँची नहीं समझी जानी चाहिए। इसके विरुद्ध इस व्यवस्था के प्रतिपोषक, मुख्यत: फ्रांस के विधि-शास्त्री, इसको अत्यन्त हितकर मानते हैं तथा उनके मतानुसार प्रशासकीय न्यायालयों की इस प्रकार की व्यवस्था साधारण व्यक्तियों की हीनता तथा सरकारी कर्मचारियों की उत्कृष्टता पर आधारित नहीं है, अपितु इस व्यवस्था द्वारा न्याय में बड़ी सहायता मिलती है तथा इन न्यायालयों में शुल्क कम होने की व्यवस्था होने के कारण साधारण व्यक्ति राज्य के विरुद्ध मुकदमे सरलतापूर्वक चला सकते हैं और उनकी स्वतन्त्रता की सुरक्षा भी बनी रहती है।

(९) उपर्युक्त के विरुद्ध अनेक राज्यों में न्याय-व्यवस्था इस सिद्धान्त पर आधारित होती है कि कानून के सामने सब व्यक्ति समान हैं, चाहे उनकी स्थिति कुछ भी हो। इस प्रकार की न्याय-व्यवस्था में व्यक्तियों के पारस्परिक तथा साधारण व्यक्तियों तथा राज्य एवं राज्य-कर्मचारियों सभी के मध्य के मुकदमे एक ही प्रकार के सामान्य न्यायालयों में सुने जा सकते हैं तथा राज्य के विरुद्ध मुकदमों के लिए अलग प्रकार के न्यायालयों की व्यवस्था नहीं की जाती। भारत तथा ब्रिटेन में अधिकांशतया इसी प्रकार की व्यवस्था है।

ऊपर जिन सिद्धान्तों की विवेचना की गई है, उनके आधार पर साधारणत: न्यायपालिका का संगठन किया जाता है। फिर भी अनेक राज्यों में उनकी परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार अन्य भिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ भी पाई जाती हैं। उदाहरणत: भारत में सामान्य न्यायालय दो प्रकार के हैं, दीवानी तथा फौजदारी। इसके अतिरिक्त फौजदारी के प्रारम्भिक न्यायालय भारत में प्रशासन के अधिकारियों के सुपुर्द भी है, यद्यपि प्रशासन तथा न्याय को एक ही व्यक्ति के हाथ सौंप देने की यह व्यवस्था उचित नहीं समझी जाती है और उसे धीरे-धीरे अलग किया जा रहा है। इसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं राज्यों में सामान्य न्यायालयों के अतिरिक्त कुछ विशेष प्रकार के न्यायालयों की व्यवस्था भी की जाती है तथा सैनिक न्यायालय, व्यावसायिक न्यायालय और श्रम न्यायालय आदि को हम इनके उदाहरण के रूप में ले सकते हैं।

न्यायाधीशों की नियुक्ति—न्यायाधीशों की नियुक्ति किस प्रकार हो, यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का रहा है और समय-समय पर तथा विभिन्न राज्यों में नियुक्ति की विभिन्न पद्धतियाँ प्रयुक्त की जाती रही हैं। आजकल न्यायाधीशों की नियुक्ति साधारणत: तीन पद्धतियों के अनुसार की जाती है—(1) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन से, (2) जनता द्वारा निर्वाचन से तथा (3) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति से। आगे की पंक्तियों में हम संक्षेप में तीनों पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे—

व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन—अनेक राज्यों में न्यायाधीशों की नियुक्ति व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन के आधार पर होती है। इस प्रकार की पद्धति अमेरिका के कुछ राज्यों में तथा स्विट्जरलैण्ड में पाई जाती है। इस पद्धति का मुख्य दोष यह है कि इसके अन्तर्गत न्यायाधीश प्राय: उस दल के लोग चुने जाते हैं, जिनका व्यवस्थापिका में बहुमत होता है। परिणामस्वरूप न्यायाधीश यदि बहुमत दल के लोग न भी हों तो भी वे उस दल के समर्थक तो होते ही हैं। ऐसी दशा में न्यायाधीशों की नियुक्ति का आधार उनका कानूनी

ज्ञान, निष्पक्षता अथवा उनकी योग्यता नहीं होती, वरन् उनका आधार राजनीतिक दल के नेताओं की कृपा होती है। कहना न होगा कि ऐसी दशा में न्यायाधीशों के दल-सम्बन्ध के कारण न्याय भी दलगत हो जाता है।

जनता द्वारा निर्वाचन—कुछ राज्यों में न्यायाधीशों की नियुक्ति जनता द्वारा निर्वाचन के आधार पर होती है। इस प्रकार की पद्धति अब केवल अमेरिका के कुछ राज्यों में ही पाई जाती है। यह पद्धति उक्त पद्धति के समान ही दोषपूर्ण है क्योंकि इसके अन्तर्गत योग्य न्यायाधीशों का निर्वाचन हो सकना प्राय: असम्भव है। न्यायाधीशों का चुनाव भी प्राय: व्यवस्थापकों के चुनाव के समान ही हो जाता है और चुनाव में विजयी होने के लिए जिन उपायों का प्रयोग अनिवार्य होता है, उनका प्रयोग योग्य व्यक्तियों की सामर्थ्य से साधारणत: बाहर ही होता है। परिणाम यह होता है कि योग्य व्यक्ति नहीं वरन् राजनीतिक दलबन्दी में कुशल व्यक्ति न्यायाधीश बन जाते हैं। राजनीतिक दलबन्दी के आधार पर निर्वाचित उन व्यक्तियों के लिए जिन्हें सदा यह याद रहता है कि वे अमुक-अमुक लोगों की कृपा से न्यायाधीश बने हैं और आगे न्यायाधीश बने रहने के लिए उन्हीं की कृपा की आवश्यकता पड़ेगी, वह पूर्णत: असम्भव है कि वे निष्पक्षतापूर्वक न्याय-कार्य कर सकें।

कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति—अधिकतर राज्यों में न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा की जाती है। इस पद्धति के अन्तर्गत योग्यता के आधार पर न्यायाधीशों की नियुक्ति शासन विभाग द्वारा होती है। बड़े न्यायालय अर्थात् उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्य के अध्यक्ष, राजा या राष्ट्रपति आदि द्वारा की जाती है तथा अन्य निम्न न्यायाधिकारियों की नियुक्ति शासन-विभाग द्वारा की जाती है। इस प्रकार नियुक्त न्यायाधीश तथा न्यायाधिकारी राज्य के स्थायी कर्मचारी होते हैं तथा उनकी नियुक्ति किसी निश्चित योग्यता की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही होती है। इस पद्धति के अन्तर्गत भी चूँकि न्यायाधीशों की नियुक्ति न्याय-मन्त्री के परामर्श से राज्य का अध्यक्ष करता है, यह सम्भावना रहती है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति राजनीतिक दलबन्दी के प्रभाव से मुक्त न हो और न्यायाधीश सरकार के विरुद्ध मामलों में निष्पक्षता न बरत सकें। यदि योग्यता सम्बन्धी नियमों का पालन ठीक से होता रहे, तो तुलनात्मक दृष्टि से यह पद्धति अधिक निर्दोष सिद्ध हो सकती है।

न्यायाधीशों का कार्य-काल—न्यायाधीश अपने पद पर कितने समय तक कार्य करे, इस सम्बन्ध में साधारणत: दो प्रथाएँ प्रचलित हैं। एक प्रथा तो यह है कि न्यायाधीश किसी निश्चित अवधि के लिए नियुक्त किये जाते हैं। उसके बाद उन्हें उनके पद से अवकाश दे दिया जाता है। तब वे जैसे भी चाहे वैसे जीवन-निर्वाह करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। दूसरे प्रकार की प्रथा यह है कि न्यायाधीश नियुक्त होने के बाद उस समय तक अपने पद पर कार्य करते हैं, जब तक वे शारीरिक एवं बौद्धिक रूप से कार्य करने के योग्य बने रहते हैं। पहली प्रथा का अनुसरण बहुत कम राज्यों में होता है। दूसरी प्रथा ही अधिकतर राज्यों में प्रचलित है। प्राय: सर्वत्र न्यायाधीश स्थायी रूप से नियुक्त किये जाते हैं और वे तब तक अपने स्थान पर कार्य करते रहते हैं, जब तक कि वे शारीरिक और बौद्धिक रूप से कार्य करने

के योग्य बने रहते हैं। इस प्रथा के अधिक प्रचलन का कारण यह है कि अधिक समय तक कार्य करने के कारण एक ओर तो न्यायाधीश अपने कार्य का अनुभव प्राप्त करके अधिक कुशल बन जाते हैं तथा दूसरी ओर एक बार नियुक्त हो जाने के बाद फिर वे प्राय: जीवन भर के लिए इस बात से निश्चित हो जाते हैं कि उन्हें फिर नियुक्ति के लिए किसी की कृपा का पात्र बनना पड़ेगा। अपनी आजीविका की सुरक्षा तथा अधिक समय के अनुभव से प्राप्त कुशलता के कारण वे न्याय कार्य अधिक क्षमता, निष्पक्षता तथा निर्भीकता से करते हैं।

न्यायाधीशों का पद से हटाया जाना—अनेक परिस्थितियों में न्यायाधीशों को अपने कार्य-काल की समाप्ति से पहले भी हटाना पड़ता है और उसके लिए साधारणत: निम्न प्रक्रियाओं का प्रयोग किया जाता है—

(1) कुछ राज्यों में छोटे न्यायालयों के न्यायाधीशों को अपने पद से पृथक् करने के लिए सर्वोच्च न्यायालयों में उन पर मुकदमा चलाया जाता है और सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार उन्हें पद से हटाया जाता है। सर्वोच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के सम्बन्ध में इस प्रकार के अभियोग की सुनवाई सर्वोच्च न्यायालयों के अन्य न्यायाधीश करते हैं।

(2) किन्हीं राज्यों में, जैसाकि अमेरिका के कुछ राज्यों में है, न्यायाधीश जनता के मतों के निर्णय से पदच्युत किये जाते हैं। ऐसा साधारणत: उन्हीं राज्य में होता है, जहाँ न्यायाधीशों की नियुक्ति भी जनता द्वारा निर्वाचन से होती है। इस पद्धति का दोष यह है कि न्यायाधीश लोग अपनी आजीविका की चिन्ता से कभी भी निश्चित नहीं हो सकते और फलत: कभी भी अपना न्याय-कार्य स्वतन्त्रता एवं निष्पक्षतापूर्वक नहीं कर सकते। उन्हें सदा यह भय बना रहता है कि यदि उनके किसी निर्णय से राजनीतिक नेता बिगड़ गये, तो उन्हें अपने पद से हटना पड़ेगा।

(3) उच्च पद के न्यायाधीश को पद से पृथक् करने के विषय में अधिकतर राज्यों में यह व्यवस्था है कि उनके विरुद्ध महाभियोग लगाया जाता है और उसकी सुनवाई के पश्चात् जो निर्णय होता है, उनके अनुसार उन्हें पद से हटाया जाता है। महाभियोग के विषय में प्राय: यह व्यवस्था होती है कि व्यवस्थापिका के एक सदन द्वारा महाभियोग लगाया जाए और दूसरा अथवा दोनों सदन मिलकर उसका निर्णय करें या राज्य का व्यवस्थापिका द्वारा अन्य किसी प्रकार से उनके अपदस्थ किये जाने का निर्णय किया जावे। अमेरिका तथा भारत में उच्च व उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को व्यवस्थापिका के निर्णय द्वारा ही अपदस्थ किया जा सकता है।

सरकार के अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध

सरकार के अंगों के उपयुक्त विवेचन से हमने देखा कि राजशक्ति की अभिव्यक्ति साधारणतया तीनों रूपों में होती है। राज्य की जो कुछ इच्छा होती है, सार्वजनिक जीवन के विषय में उसकी जो नीति है, सार्वजनिक सुरक्षा तथा समाज-कल्याण के लिए राज्य जो कुछ करना चाहता है, उसकी अभिव्यक्ति व्यवस्थापिका द्वारा कानूनों के रूप में हुआ करती है। इसे हम राजशक्ति की अभिव्यक्ति का प्रथम रूप कह सकते हैं। व्यवस्थापिका द्वारा

निर्मित कानून एवं उनके द्वारा निर्धारित नीति कार्यपालिका द्वारा कार्य-रूप में लायी जाती है और उसे हम राजशक्ति की अभिव्यक्ति का दूसरा रूप कह सकते हैं। व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित तथा कार्यपालिका द्वारा कार्यान्वित कानूनों का पालन ठीक तरह से तथा उनके वास्तविक अभिप्राय के अनुसार हो रहा है, इसका निर्णय न्यायपालिका द्वारा किया जाता है। इसे हम राजशक्ति की अभिव्यक्ति का तीसरा रूप कह सकते हैं। राजशक्ति की उक्त तीनों प्रकार की अभिव्यक्तियों का सम्बन्ध सरकार के तीन अंगों—क्रमशः व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका—से होता है और इसी आधार पर सरकार को उक्त तीनों भागों में बाँटा जाता है। फिर भी उक्त तीनों विभागों का परस्पर क्या सम्बन्ध हो, यह समस्या सदा से बड़ी महत्त्वपूर्ण रही है। इस सम्बन्ध में राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का बड़ा महत्त्व है और आगामी पंक्तियों में हम उसका विस्तृत विवेचन करेंगे।

राजशक्ति के पृथक्करण का सिद्धान्त—राजशक्ति को अभिव्यक्ति तथा प्रयोग उपर्युक्त तीनों रूपों में स्वतन्त्रतापूर्वक हो, व्यवस्थापन, कार्यपालन तथा न्याय, इन तीनों से सम्बन्धित शक्तियाँ पृथक्-पृथक् हाथों में रहें, इनसे सम्बन्धित विभाग अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र हों तथा कोई भी विभाग एक-दूसरे विभाग की शक्ति तथा उसके अधिकारों में हस्तक्षेप न करे, इस सिद्धान्त को राजशक्ति के पृथक्करण का सिद्धान्त कहते हैं।

सिद्धान्त की पृष्ठ-भूमि—राजशक्ति को तीन भागों में बाँटने का विचार अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। राजनीति-विज्ञान के जनक अरस्तू ने सरकार को असेम्बली, मजिस्ट्रेट तथा जुडीशियरी नामक तीन विभागों में बाँटा था[1], उनसे आधुनिक व्यवस्थापन, शासन तथा न्याय-विभागों का ही बोध होता है। रोम के गणतन्त्र में भी शासन-कार्य का विभाजन होता था। इसकी चर्चा रोमन लेखक पोलीवियन तथा सिसरो की रचनाओं में मिलती है। चौदहवीं शताब्दी के मार्सिलिओ नामक विचारक ने भी सरकार के व्यवस्थापन और शासन विभाग में भेद का प्रतिपादन किया है।[2] सोलहवीं शताब्दी के एक लेखक जाँ बोदाँ (Jean Bodin) ने लिखा है कि राजा के हाथ में ही न्याय का कार्य होना अत्यन्त भयंकर होता है तथा न्याय-कार्य स्वतन्त्र न्यायाधिकारियों के हाथों में होना चाहिए। इससे शासन-शक्ति के विभाजन की वाँछनीयता की ओर ही संकेत मिलता है।[3] सत्रहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड की राज्य-क्रान्ति के नेताओं का मूल-मन्त्र भी यही था कि राज्यशक्ति का पृथक्करण होना चाहिए और व्यवस्थापन तथा शासन सम्बन्धी शक्तियाँ एक ही व्यक्ति के हाथों में नहीं होनी चाहिए। संविदा-सिद्धान्त के एक समर्थक जॉन लॉक ने भी राजशक्ति के पृथक्करण का प्रतिपादन किया था तथा राजशक्ति को व्यवस्थापन, शासन तथा राजनय सम्बन्धी शक्तियों में विभाजित करने का समर्थन किया था।[4]

इस प्रकार राज्य-शक्ति के विभाजन का विचार अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। किन्तु राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त के नाम से जो विचार राजनीति-विज्ञान

1. See his *Politics* Bk, IV. Chap. XIV.
2. See his *Defensor Pencis* (1324).
3. See his *De Le Republique* Bk. I. Ch. X (1576).
4. Locke : *Two Treatise on Government,* Chap. XII (1690).

में प्रसिद्ध है तथा जिसके अनुसार व्यवस्थापन, शासन तथा न्याय तीनों से सम्बन्धित शक्तियों का प्रयोग पूर्णत: स्वतन्त्र एवं भिन्न हाथों में होना चाहिए, उसका विधिवत् प्रतिपादन सर्वप्रथम फ्रांसीसी विचारक मौन्स्टेस्क्यू ने किया था। मौन्टेस्क्यू फ्रांस के राजा लुई चौदहवें का समकालीन था, जिसके समय में फ्रांस की राजनीति का सिद्धान्त यह था कि राजा की इच्छा ही कानून होती है तथा उसी का निर्णय न्याय होता है। ऐसे समय में जब फ्रांस में शासन की शक्ति एक ही व्यक्ति अर्थात् राजा के हाथ में केन्द्रित थी, मौन्टेस्क्यू इंग्लैण्ड गया। वहाँ उस समय राज्य क्रान्ति के बाद राजा की शक्ति मन्त्रिमण्डल तथा संसद की शक्ति के विकास के कारण बहुत अंशों में मर्यादित हो चुकी थी। इंग्लैण्ड की तत्कालीन शासन-व्यवस्था को देखकर वह इस निर्णय पर पहुँचा कि वहाँ राजशक्ति केवल राजा के हाथों में नहीं है, अपितु उसका पृथक्करण हो गया है तथा यही कारण है कि वहाँ की शासन व्यवस्था इतनी उत्तम है। इसी आधार पर उसने स्वदेश लौटकर अपनी पुस्तक एस्प्रिट डेज लोइज (Espirit des Lois) में राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इंग्लैण्ड के एक विधि-शास्त्री ब्लैकस्टोन ने भी अपनी पुस्तक कमेन्टरीज ऑफ दी लॉज ऑफ इंग्लैण्ड (Commentaries on the Laws of England) में राजशक्ति के पृथक्करण का प्रतिपादन किया है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि उक्त दोनों लेखकों ने राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन इंग्लैण्ड के संविधान के भ्रमपूर्ण विश्लेषण के आधार पर किया था, क्योंकि वहाँ के संविधान में राजशक्ति के पृथक्करण का प्रतिपादन न तो था, और न है। अठारहवीं शताब्दी में तो वहाँ शक्ति का पृथक्करण अत्यन्त कम था ही, आज भी वहाँ कार्यपालिका व्यवस्थापिका से पूर्णतया पृथक् नहीं है। मन्त्रिमण्डल वहाँ यदि एक ओर शासन कार्य का संचालन करता है, तो दूसरी ओर संसद की सदस्यता के कारण मन्त्रिगण व्यवस्थापन कार्य में भी पर्याप्त भाग लेते हैं। फिर भी यदि इन लेखकों ने वहाँ शक्ति का पृथक्करण देखा, तो उसका कारण यही था कि अन्य योरोपीय देशों की अपेक्षा इंग्लैण्ड की शासन-व्यवस्था में राजशक्ति का पृथक्करण अधिक था और इसलिए वहाँ की शासन-व्यवस्था के आधार पर उन्होंने राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

सिद्धान्त की व्याख्या—मौन्टेस्क्यू के अनुसार "प्रत्येक सरकार में तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं : व्यवस्थापन सम्बन्धी, शासन सम्बन्धी (जिनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर आधारित बातों से होता है), तथा (दूसरे प्रकार की) शासन सम्बन्धी (जिनका सम्बन्ध स्थानीय कानून पर आधारित बातों से होता हैं)। पहली शक्ति के अनुसार राजा अथवा शासक अस्थायी या स्थायी कानूनों का निर्माण करता है और पहिले से बने हुए कानूनों का संशोधन अथवा उनकी समाप्ति करता है। दूसरी के अनुसार वह सन्धि करता है अथवा युद्ध की घोषणा करता है, अन्य देशों को राजदूत भेजता है तथा उनके राजदूतों को अपने यहाँ स्थान देता है, सार्वजनिक सुरक्षा की स्थापना तथा आक्रमणों से रक्षा की व्याख्या करता है। तीसरी शक्ति के अनुसार वह अपराधियों को दण्ड देता है, अथवा व्यक्तियों के झगड़ों का निबटारा करता है। .... व्यवस्थापन तथा शासन सम्बन्धी, शक्तियाँ जब किसी एक व्यक्ति अथवा शासकों के समूह में निहित हो जाती हैं, तो स्वतन्त्रता का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। ऐसी दशा में इस

बात का भय रहता है कि एक राजा अथवा सभा अत्याचारी कानूनों का निर्माण कर ले और उन्हें अत्याचारपूर्ण ढंग से कार्यान्वित करे। इसी प्रकार यदि न्याय-सम्बन्धी शक्ति को व्यवस्थापन अथवा शासन सम्बन्धी शक्तियों से पृथक् नहीं किया जाता तो भी स्वतन्त्रता सम्भव नहीं होती। यदि यह (न्याय-शक्ति) व्यवस्थापन शक्ति के साथ जोड़ दी जाएगी, तो प्रजा के जीवन और उसकी स्वतन्त्रता को स्वेच्छाचारी नियन्त्रण का शिकार बनना पड़ेगा, क्योंकि उस दशा में न्यायकर्त्ता ही व्यवस्थापक होगा। यदि इसे (न्यायशक्ति को) शासन शक्ति के साथ जोड़ दिया जाएगा, तो न्यायकर्त्ता का व्यवहार हिंसक एवं अत्याचारी हो जाएगा।''[1] इस प्रकार चूँकि राज्य की शक्तियों के एकत्रीकरण से व्यक्ति की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ जाती है, मौन्टेस्क्यू ने अपनी रचना में इस बात पर अत्यधिक जोर दिया कि व्यवस्थापन, शासन तथा न्याय सम्बन्धी सभी शक्तियाँ पूर्णरूप से पृथक्-पृथक् हाथों में होनी चाहिए और किसी भी विभाग के सम्बन्धित अधिकारियों को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वे अन्य विभाग की शक्ति को हथिया सकें अथवा उसमें हस्तक्षेप कर सकें। इसी प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति इंग्लैण्ड के लेखक ब्लैकस्टोन ने की है। उसके अनुसार ''सब अत्याचारी शासनों में सर्वोच्च शक्ति अथवा कानून बनाने तथा उन्हें क्रियान्वित करने का अधिकार एक व्यक्ति अथवा एक व्यक्ति-समूह में निहित होता है तथा जब ये दोनों शक्तियाँ एकत्रित हो जाती हैं, तो सार्वजनिक स्वतन्त्रता नहीं रह सकती।''[2] इस प्रकार ब्लैकस्टोन के अनुसार भी चूंकि शक्तियों के एकत्र कर सार्वजनिक स्वतन्त्रता का हनन होता है, अत: उक्त का पूर्ण पृथक्करण होना अति आवश्यक है। शक्ति के

---

1. "In every government there are three sorts of powers : The Legislative; the Executive in respect to things dependent on the Law of Nations and the Executive in respect matters that depend on the Civil Law. By virtue of the first, the prince or magistrate, enacts estemporary or perpetual laws, or abrogates those that have been already enacted. By the second, he makes peace or war, sends or receives embassies establishes the public security, and provides against invasions. By the third, he punishes criminals or determines the dispute that arise between individuals ..... When the legislative and executive powers are united in the same person or in the same body of magistrates, there can be no liberty, because apprehension may arise, least monarch or senate should enact tyrannical laws, to execute them in a tyrannical manner. Again there is no liberty, if the judicial power be not seperated from the legislative and executive. Were it joined with the legislative the life and liberty of the subject would be expossed to arbitary control, for judge would then be the legislator. Were it joined with the executive power the judge might behave with violence and oppression."

   Montsequieu : *Espirit des Lois,* Bk, XI, Chap. VI

2. "In all tyrannical governments the supreme majesty, or the right of both making and enforcings laws is vested in the same man or one and the same body of men; and when these two are united together there is no public liberty."

   —Blackstone : *Commentaries on the Laws of England* (1965)

पृथक्करण के विषय में व्यक्त उक्त विचारों के आधार पर हम देखते हैं कि राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त के अनुसार सरकार के कार्य अथवा राजशक्ति का विभाजन तीन भागों- व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका में किया जा सकता है। चूँकि तीनों प्रकार के कार्यों से सम्बन्धित शक्तियों का एकत्रीकरण होने से सार्वजनिक स्वतन्त्रता नहीं रह पाती। अत: सार्वजनिक स्वतन्त्रता के हित में यह अत्यन्त आवश्यक है कि तीनों प्रकार के कार्यों से सम्बन्धित शक्तियाँ विभिन्न व्यक्तियों अथवा विभिन्न व्यक्ति-समूहों के हाथों में पूर्ण रूप से पृथक् रहें।

सिद्धान्त का प्रभाव—राज्यशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का प्रभाव तत्कालीन राजनीति पर अत्यधिक पड़ा। इस सिद्धान्त का सबसे प्रबल प्रभाव अमेरिका की राजनीति पर पड़ा, जहाँ के संविधान के निर्माण में इसका पूर्णरूप से पालन किया गया और इस बात की स्पष्ट घोषणा की गई कि "इस संयुक्त राज्य के शासन में व्यवस्थापन-विभाग कभी भी शासन तथा न्याय सम्बन्धी शक्तियों अथवा दोनों में से किसी एक से सम्बन्धित शक्ति का प्रयोग नहीं करेगा; शासन-विभाग कभी भी व्यवस्थापन तथा न्याय सम्बन्धी शक्तियों अथवा दोनों में से किसी एक से सम्बन्धित शक्ति का प्रयोग नहीं करेगा; इसी प्रकार न्याय-विभाग भी कभी व्यवस्थापन अथवा शासन-सम्बन्धी शक्तियों अथवा दोनों में से किसी से सम्बन्धित शक्ति का प्रयोग नहीं करेगा। ऐसा इसलिए होगा जिससे इस राज्य में कानूनों का शासन हो न कि व्यक्तियों का।"[1] संविधान में ही राजशक्ति के पृथक्करण को इतना महत्त्व नहीं दिया गया, अपितु यहाँ के सर्वोच्च न्यायालय ने भी इस सिद्धान्त की मान्यता पर बल दिया। किलबोर्न बनाम थोमसन के एक मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में लिखा कि "अमेरिका के लिखित संविधान में यह मुख्य गुण है कि इसके अनुसार राज्यों अथवा राष्ट्र से सम्बन्धित जो शक्तियाँ सरकार को दी गई हैं, वे तीन विशाल विभागों में विभक्त हैं—व्यवस्थापन, कार्यपालन और न्याय। सरकार के इन तीनों विभागों से सम्बन्धित कार्य सार्वजनिक राज्य कर्मचारियों के तीन पृथक्-पृथक् वर्गों द्वारा किये जायेंगे तथा इस प्रणाली की पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि इन तीनों विभागों के कार्यक्षेत्रों को सुनिश्चित एवं स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् रखा जाए।"[2] इसी प्रकार की मान्यता इस सिद्धान्त को मेक्सिको, अर्जेण्टाइना,

---

1. "In the government of this commonwealth the legislative department shall never exercise the executive and judicial powers or either of them; the executive shall never exercise the legislative and judicial powers or either of them; the judicial shall never exercise the legislative and executive powers or either of them to the end that there may be a government of the laws and not of men."

   —*Constitution of Messachusets* (1780)

2. "It is believed to be one of the chief merits of the American written constitutional law, that all powers entrusted to the government whether state or national, are divided into three grand departments—the executive, the legislative and judiciary; that the function appropriate to each of three branches of government shall be vested in a separate body of public servants and the perfection of the system requires that the lines which separate and divide these departments shall be broadly and clearly defined." —*Kelbotine Vs Thampson,* 103 U.S. 188.

ब्राजील, आस्ट्रेलिया तथा चिली आदि अनेक राज्यों में भी प्राप्त हुई। फ्रांस में भी जब राज्य-क्रान्ति के बाद गणतन्त्र की स्थापना हुई, तो इस सिद्धान्त को मान्यता मिली तथा 1789 के संविधान में यह स्पष्ट रूप से घोषित किया[1] कि जिस राज्य में राज्यशक्ति का पृथक्करण नहीं किया जाता, वहाँ संविधान की सत्ता नहीं समझी जा सकती। इसी सिद्धान्त के आधार पर फ्रांस में शासन विभाग को न्याय-विभाग से पृथक् तथा उसके प्रभाव से मुक्त रखने के लिए ऐसे प्रशासकीय न्यायालयों (Administrative Courts) की स्थापना की गई, जिनमें केवल सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध मुकदमों की सुनवाई हो तथा उन पर साधारण न्यायालयों का कोई दबाव न रह सके।

सिद्धान्त की आलोचना—राज्यशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त की आलोचना मुख्यत: दो आधारों पर की जाती है—प्रथम, सरकार के कार्यों के विभागों की संख्या के आधार पर; तथा द्वितीय, समस्त विभागों की शक्तियों के पूर्ण पृथक्करण की सम्भाव्यता तथा वांछनीयता के आधार पर। इन आधारों पर जिन दृष्टियों से सिद्धान्त की आलोचना की जाती है, उन्हें हम निम्न प्रकार रख सकते हैं—

(1) सिद्धान्त का यह प्रतिपादन कि राज्य-शक्ति का विभाजन तीन विभागों में होना चाहिए, अनेक विचारकों को मान्य नहीं है। कुछ विचारकों के अनुसार राज्य के कार्यों का विभाजन तीन विभागों में न होकर दो में ही होना चाहिए, क्योंकि राज्य के कार्य मुख्यत: दो ही प्रकार के होते हैं—राज्य की इच्छा का निर्माण और अभिव्यक्ति। इनमें से प्रथम कार्य व्यवस्थापन-विभाग द्वारा होता है और द्वितीय शासन विभाग द्वारा। इन विचारकों के अनुसार, इस प्रकार, राज्य-कार्य का विभाजन केवल दो विभागों—व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका—में होना चाहिए तथा न्यायपालिका को कार्यपालिका का ही एक अंग समझा जाना चाहिए, क्योंकि उसका कार्य केवल उन कानूनों का व्यक्तिगत मामलों में प्रयोग करना होता है, जिन्हें व्यवस्थापन विभाग बनाता है तथा शासन विभाग कार्यान्वित करता है। इन विचारकों के अनुसार कार्यपालिका को तीन उप-विभागों में बाँटा गया है। इन्हें हम कार्यकारिणी, प्रशासन तथा न्याय के नाम से पुकारते हैं तथा इनका कार्य क्रमश: राजकीय कानूनों को कार्य-रूप देने के लिए शासन-कार्य का निर्देशन और नियन्त्रण करना, कार्यकारिणी के नियन्त्रण में वास्तविक प्रशासन-कार्य करना तथा कानून की व्याख्या करके और कानून तोड़ने वालों को दण्ड देकर शासन-कार्य में सहायता देना होता है।

कुछ विचारकों के अनुसार राज्य-शक्ति का विभाजन दो या तीन विभागों में ही नहीं, वरन् पाँच विभागों—निर्वाचन मण्डल (Electrorate), व्यवस्थापिका (Legislative), कार्यकारिणी (Executive), प्रशासन (Administration) तथा न्याय (Judiciary)—में होना चाहिए, क्योंकि राजकीय शक्ति का प्रयोग किसी न किसी रूप में इन सभी विभागों द्वारा होता है। उनके मतानुसार अतिरिक्त दो विभागों का आधुनिक राज्यों में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि निर्वाचक लोग आधुनिक लोकतन्त्र में अनेक राज्यों में लोकनिर्णय और

1. See Declaration *des droits de L' hommeet bucit Oyen,* Art 16.

उपक्रम (Initiative) द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति करते हैं तथा प्रशासक-वर्ग कार्यकारिणी के निर्देशन और नियन्त्रण में रहते हुए वास्तविक शासन-कार्य का संचालन करते हैं। कुछ विचारकों का मत है कि जिन राज्यों में संविधान के परिवर्तन के लिए पृथक् संविधान-सभा अथवा कन्वेशन बुलाये जाने की व्यवस्था होती है; उनमें वह एक छठा विभाग भी माना जाना चाहिए। इसे हम संवैधानिक विभाग कह सकते हैं। इसका कार्य संविधान संशोधन की उचित व्यवस्था करना होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मौन्टेस्क्यू के अनुसार राज्य-शक्ति को तीन विभागों में बाँटने का जो प्रतिपादन किया गया है, वह अन्तिम नहीं है और उसके विषय में इतना मतभेद है कि कुछ लोग उस विभाजन को दो विभागों, कुछ पाँच में तथा अन्य छह विभागों में करना चाहते हैं।

(2) इसके अतिरिक्त दूसरा आधार जिस पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है, यह है कि राज्य-शक्ति का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं है। सम्भवत: किसी भी ऐसी शासन-पद्धति का अभी तक आविर्भाव नहीं हो सका है, जिसके अन्तर्गत राज्य-शक्ति का पूर्ण पृथक्करण हो सके। जिन राज्यों में यह कहा गया है कि उसके संविधान में राज्य-शक्ति का विभाजन पूर्णत: इसी सिद्धान्त पर आधारित रहेगा, उनमें भी व्यवहार-रूप से यह सम्भव नहीं हो सका कि राज्य का प्रत्येक विभाग पूर्ण रूप से पृथक् रहकर कर सके। उदाहरण के लिए हम अमेरिका के संविधान को ले सकते हैं। वहाँ का संविधान राज्य के पूर्ण पृथक्करण को आधार मानकर बनाया गया था। यद्यपि वहाँ इस बात का भरसक प्रयत्न किया गया है कि शासन का प्रत्येक विभाग पूर्ण रूप से पृथक् और स्वतन्त्र रहे, तथापि वहाँ भी राज्य-शक्ति का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं हो सका है। वहाँ की व्यवस्थापिका (काँग्रेस) को व्यवस्थापन सम्बन्धी अधिकार ही नहीं, अपितु कुछ न्याय विषयक अधिकार भी प्राप्त हैं। वहाँ के न्याय-विभाग को भी केवल न्याय-सम्बन्धी अधिकार ही नहीं, अपितु कुछ अधिकार व्यवस्थापन के सम्बन्ध में भी प्राप्त हैं। उदाहरणार्थ वहाँ की व्यवस्थापिका (काँग्रेस) को प्राप्त महाभियोग लगाने का अधिकार न्याय विषयक है, तो वहाँ के न्याय विभाग को प्राप्त कानूनों की व्याख्या करने तथा राजकीय कानूनों की वैधता पर निर्णय देने का अधिकार विधि-निर्माण से सम्बन्धित है। अनेक राज्यों में मुख्य कार्य-पालक (Chief-Executive) को क्षमादान का अधिकार मिला हुआ है, जिसका सम्बन्ध कार्यपालिका से नहीं अपितु न्यायपालिका से होता है। राज्य-क्रान्ति के बाद फ्रांस में जो संविधान बना, उसमें भी पृथक्करण के सिद्धान्त का पूर्ण पालन किया गया, किन्तु बाद में अव्यावहारिकता के कारण उसका त्याग करना पड़ा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न विभागों में राज्य-शक्ति का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं है। वस्तुत: सरकार का स्वरूप एकता का स्वरूप होता है। सुविधा के लिए उसके कार्य का तो विभाजन किया जा सकता है; पर उसकी शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण नहीं

किया जा सकता। कार्य विभाजन के होते हुए भी, सरकार में एक एकता होती है। इस कारण उसके विभिन्न विभाग पूर्ण पृथक् होकर नहीं, समायोजित होकर ही अधिक अच्छी तरह कार्य कर सकते हैं।

(3) राज्य-शक्ति का पृथक्करण असम्भव ही नहीं अपितु अवाँछनीय भी होता है। इस दृष्टि से यह सिद्धान्त भी अवांछनीय समझा जाता है। उदाहरण के लिए हम शासन तथा व्यवस्थापन-विभाग को ले सकते हैं। इनको यदि पूर्ण रूप से पृथक् कर दिया जाए, तो शासन-कार्य का संचालन ही असम्भव हो सकता है। इस बात का विशिष्ट ज्ञान कि अमुक परिस्थिति में देश के लिए कैसे कानूनों की आवश्यकता होगी अथवा राज्य में कर-व्यवस्था किस प्रकार की होनी चाहिए या बजट कैसे बनना चाहिए, उन्हीं लोगों को होता है, जो शासन-विभाग से सम्बन्धित होते हैं। यदि उन लोगों का व्यवस्थापन-विभाग से कोई भी सम्बन्ध न हो और परिणामस्वरूप व्यवस्थापन-विभाग अपनी स्वतन्त्रता की शान में शासक-वर्ग के तत्सम्बन्धी विचारों पर उचित ध्यान देने के लिए तैयार न हो, तो उपर्युक्त से सम्बन्धित आवश्यक कानूनों का निर्माण असम्भव हो जाएगा और शासन संचालन में बाधा उत्पन्न हो जाएगी। इसी प्रकार शासन तथा व्यवस्थापिका का न्यायपालिका से यदि कोई सम्बन्ध न हो, तथा उनके कार्यों का निरीक्षण न्यायपालिका द्वारा न हो, तो शासन तथा व्यवस्थापन निरंकुश एवं उच्छृखंल हो जाएंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीनों विभागों का पूर्ण पृथक्करण वांछनीय नहीं है।

यही कारण है कि प्राय: सभी प्रकार की शासन-पद्धतियों में विभागों का न केवल पूर्ण पृथक्करण नहीं होता, अपितु उनमें घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। संसदीय शासन-प्रणाली में मन्त्रि-परिषद् व्यवस्थापिका से चुनी जाती है और वह उसके प्रति उत्तरदायी होती है। इस प्रकार उनका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठता का होता है। व्यवहार-रूप में मन्त्रि-परिषद् व्यवस्थापिका की एक उप-समिति के रूप में होती है। व्यवस्थापिका अधिकांश व्यवस्थापन कार्य उसी के नेतृत्व में करती है। साथ ही, व्यवस्थापिका मन्त्रि-परिषद् की जननी भी होती है और प्रश्नों द्वारा उसके कार्यों की आलोचना करके, उस पर किये जाने वाले व्यय में कमी करके, उसके विरुद्ध निन्दा तथा अविश्वास के प्रस्ताव पारित करके उस पर कड़ा नियन्त्रण रखती है। इन विभागों का सम्बन्ध न्याय विभाग से भी घनिष्ठ ही होता है। न्याय विभाग वैधता तथा अवैधता के आधार पर व्यवस्थापन और शासन-विभाग के कार्यों पर नियन्त्रण रखता है। महाभियोग अथवा क्षमादान जैसे न्याय-सम्बन्धी अनेक ऐसे कार्य हैं, जिनका सम्पादन क्रमश: व्यवस्थापन-विभाग अथवा शासन-विभाग द्वारा होता है। अध्यक्षीय शासन-प्रणाली में भी इन विभागों का सम्बध पूर्णत: पृथकता का न होकर घनिष्ठता का होता है। इस पद्धति में भी राष्ट्रपति जब यह सिफारिश करता है कि किस प्रकार के कानून बनाये जाएँ, अथवा जब वह अध्यादेश (Ordinancces) जारी करता है या व्यवस्थापन में अपने निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग करता है, तब उसका सम्बन्ध व्यवस्थापन से हो जाता है और जब व्यवस्थापन-विभाग राष्ट्रपति द्वारा की गई अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि आदि को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करता है तो उसका सम्बन्ध शासन विभाग से हो जाता है। न्याय विभाग भी

ऐसी पद्धति में व्यवस्थापन तथा शासन के कार्यों की वैधता अथवा अवैधता के प्रश्न को लेकर उनसे सम्बद्ध रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी प्रकार की शासन-पद्धति में राज्यशक्ति का पूर्ण पृथक्करण वाँछनीय नहीं समझा जाता।

(4) शक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त में इस बात पर बल दिया गया है कि प्रत्येक विभाग अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रहे और कोई भी विभाग किसी अन्य विभाग के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे। इस प्रकार इस बात की पुष्टि की गई है कि सभी विभागों की स्थिति समान होनी चाहिए किन्तु आधुनिक लोकतन्त्र के युग में यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती क्योंकि सभी विभाग समान स्थिति के होते हैं। यों तो सरकार के सभी अंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं, फिर भी सब की शक्ति समान नहीं होती। सिद्धान्ततः व्यवस्थापिका का महत्त्व आजकल अधिक होता है। जैसा पहले कहा गया है, मोटे रूप से व्यवस्थापिका का कार्य राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति, कार्यपालिका का कार्य इस प्रकार अभिव्यक्त इच्छा को कार्य-रूप में परिणत करना, तथा न्यायपालिका का कार्य व्यवस्थापन-विभाग द्वारा कानूनों के रूप में अभिव्यक्त इच्छा का क्रियान्वय शासन-विभाग द्वारा ठीक हो रहा है या नहीं, यह देखना होता है। राज्य-कार्य के उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण राज्य कार्य का मूल राज्येच्छा की अभिव्यक्ति होता है और यही कारण है कि उससे सम्बन्धित व्यवस्थापन-विभाग मूल विभाग होने से अन्यों की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखता है। संसदीय शासन-प्रणाली में तो कार्यकारिणी व्यवस्थापिका में से ही ली जाती है तथा वह उसके प्रति पूर्णतः उत्तरदायिनी होती है। अध्यक्षीय शासन प्रणाली में भी राष्ट्रपति व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों की उपेक्षा नहीं कर सकता। जहाँ तक न्यायपालिका का सम्बन्ध है, वह भी कानून के पालन का निरीक्षण करके व्यवस्थापिका द्वारा अभिव्यक्त राज्येच्छा के क्रियान्वय में ही सहायता करता है। इस प्रकार व्यवस्थापिका की स्थिति अन्य विभागों की अपेक्षा अधिक महत्त्व की होती है। अतः यह विचार कि सरकार के विभागों की स्थिति समान होती है, त्रुटिपूर्ण है।

(5) शक्ति के पृथक्करण के बिना व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं हो सकती, अतः व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए राज्य-शक्ति का पूर्ण पृथक्करण आवश्यक है, ऐसा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन है। किन्तु अनुभव यह बताता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा राज्य-शक्ति के पृथक्करण से नहीं, अपितु उसके उचित प्रयोग से होती है। इंग्लैण्ड की शासन-पद्धति राज्य-शक्ति के पृथक्करण पर आधारित नहीं है, किन्तु इससे वहाँ व्यक्तियों की स्वतन्त्रता की सुरक्षा न हो, ऐसी बात नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्यशक्ति के पृथक्करण का सिद्धान्त उस रूप में मान्य नहीं समझा जा सकता, जिस रूप में उसका प्रतिपादन मौन्टेस्क्यू ने किया था। फिर भी इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सिद्धान्त का कोई मूल्य नहीं है। श्रम विभाजन (Division of Labour) आधुनिक युग का एक महत्त्वपूर्ण नियम है और मानव-जीवन के प्रायः प्रत्येक विभाग में उसका प्रयोग हो रहा है। मानव के राजनीतिक जीवन में भी अब यह सम्भव नहीं है कि सम्पूर्ण राज्य-शक्ति का प्रयोग कोई एक व्यक्ति अथवा समूह

कर सके। पृथक्करण के सिद्धान्त ने सरकार के कार्यक्षेत्र में श्रम-विभाजन के विचार को प्रविष्ट कर दिया है। अब प्राय: सभी राजनीतिक विचारक यह स्वीकार करते हैं कि शासन की उत्तमता के लिए यह आवश्यक है कि व्यवस्थापन, कार्यपालन तथा न्यायपालन सम्बन्धी कार्य ऐसे व्यक्तियों के हाथों में रहें, जो अपने कार्यक्षेत्र के विशेषतया योग्य हों और उन व्यक्तियों को चाहिए कि वे परस्पर सहयोग से कार्य करते हुए अनावश्यक रूप से अन्य विभाग से सम्बन्धित व्यक्तियों के कार्यों में हस्तक्षेप न करें।

नियन्त्रण तथा सन्तुलन का सिद्धान्त—एक अन्य सिद्धान्त जिसके अनुसार सरकार के अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों का संचालन किया जा सकता है, नियन्त्रण तथा सन्तुलन का सिद्धान्त (Theory of Checks and Balances) कहलाता है। यह सिद्धान्त एक प्रकार से पृथक्करण के सिद्धान्त का ही संशोधित रूप है। इस सिद्धान्त द्वारा सरकार के अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध के जिस स्वरूप का प्रतिपादन किया जाता है, उसके अनुसार सरकार के विभिन्न अंगों का कार्य क्षेत्र निश्चित तथा पृथक् तो अवश्य होना चाहिए, किन्तु फिर भी ऐसी व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए, जिससे एक दूसरे अंग के नियन्त्रण द्वारा प्रत्येक की शक्ति का सन्तुलन बना रह सके। इस सिद्धान्त के अनुसार, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका के कार्य-क्षेत्रों के अलग-अलग होते हुए भी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे प्रत्येक विभाग अन्य विभागों के कार्यों पर किसी न किसी रूप में नियन्त्रण अवश्य रख सके। यही कारण है कि आधुनिक युग में व्यवस्थापिका को प्रश्नों, निन्दा अथवा अविश्वास के प्रस्तावों आदि के द्वारा कार्यपालिका के कार्यों पर नियन्त्रण का अधिकार प्राप्त होता है, कार्यपालिका को कानूनों के विधेयकों के निर्माण द्वारा अथवा अध्यादेश जारी करने की शक्ति के कारण व्यवस्थापिका के कार्यों का यदि नियन्त्रण नहीं, तो निर्देशन करने का अधिकार प्राप्त होता है तथा न्याय-विभाग को कानूनों की व्यवस्था अथवा कार्यपालिका के कार्यों को दी गई वैधानिक चुनौती पर निर्णय देने की शक्ति द्वारा व्यवस्थापन एवं कार्यपालिका के कार्यों पर नियन्त्रण करने का अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार ऐसी व्यवस्था की जाती है जिससे प्रत्येक विभाग की निरंकुशता की प्रवृत्ति पर अंकुश लगा रहता है।

आदर्श सम्बन्ध—राज्य-शक्ति से सम्बन्धित उपर्युक्त दो सिद्धान्तों के विवेचन के पश्चात् अब हम यह सरलतापूर्वक समझ सकते हैं कि सरकार के विभिन्न अंगों में परस्पर क्या सम्बन्ध होना चाहिए। सरकार के अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध यदि पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित किया जाए, तो उसका तात्पर्य यह होगा कि उसका प्रत्येक अंग अपने में पूर्णरूप से पृथक् रहे। परन्तु पृथक्करण के सिद्धान्त की उपर्युक्त आलोचना से हमने देखा कि पूर्ण पृथक्करण के परिणामस्वरूप सरकार के विभिन्न अंगों में परस्पर खींचातानी हो सकती है और राजकीय कार्य में गतिरोध उत्पन्न हो सकता है। नियन्त्रण तथा सन्तुलन का सिद्धान्त यद्यपि इस बात का प्रयोग करता है कि पूर्ण पृथक्करण के कारण उत्पन्न बुराई को दूर किया जा सके, किन्तु मूल में शक्ति का पृथक्करण होने के कारण नियन्त्रण द्वारा सन्तुलन लाने के प्रयत्न का परिणाम और अधिक खींचातानी भी हो सकती है। सरकार के अंगों का

सम्बन्ध वस्तुतः किसी सिद्धान्त विशेष पर आधारित नहीं किया जा सकता। उनका सबसे सुन्दर तथा उपयोगी सम्बन्ध वही हो सकता है, जिसमें सरकार के विभिन्न अंग परस्पर सहयोग की भावना तथा लोक-कल्याण के उद्देश्य से कार्य करें। सरकार के कार्यों की व्यापकता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उसके कार्यों एवं शक्तियों का विभाजन किया जाए, किन्तु इस प्रकार के विभाजन का आधार प्रतिस्पर्द्धापूर्ण पृथक्करण नहीं अपितु लोक-कल्याण से प्रेरित सहयोग होना चाहिए।

SELECT READINGS

Bryce : *Modern Democracies.*
Blackstone : *Commentaries on the Laws of England.*
Burgess : *Political Science and Constitutional Law.*
Garner : *Political Science and Government.*
Garner : *An Introduction to Politics.*
Gettell : *Political Science.*
Gilchrist : *Principles of Political Science.*
Laski : *A Grammar of Politics.*
Leacock : *Elements of Politics Science.*
Lecky : *Democracies and Liberty.*
Locke : *Two Treatises on Government.*
Marriot : *Second Chambers.*
Montesquieu : *Espirit des Lois.*
Mill : *Representative Government.*
Story : *Commentaries on the Constitution of the United States.*

❑❑❑

3

राज्यों तथा सरकारों का वर्गीकरण

''जो भावात्मकता की अपेक्षा वास्तविकता ढूँढ़ना चाहते हैं, राज्य उनके लिए सरकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता क्योंकि उसकी (राज्य की) पूर्ण वास्तविकता सरकार द्वारा ही व्यक्त होती है।'' **—क्रोशे**

राज्यों के वर्गीकरण का विषय एक बहुत मतभेदपूर्ण विषय है। कुछ विचारक कहते हैं कि राज्यों का वर्गीकरण करना मूर्खता है क्योंकि वास्तव में सभी राज्य भूमि, जनता, सरकार तथा प्रभुत्व के योग से बने होने के कारण समान ही होते हैं। **गार्नर** ने कहा है : ''अपने कानूनी रूपों में आवश्यक उद्देश्यों तथा कार्यों की दृष्टि से साररूप में सभी राज्य अनिवार्यत: समान होते हैं और इसलिए उन्हें उस प्रकार एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता, जैसे प्राकृतिक प्राणी-शरीरों को, भौतिक वस्तुओं को अथवा रासायनिक तत्त्वों को पृथक् किया जा सकता है।''[1] यह सत्य है कि राज्यों का अन्तर प्राणी-शरीरों, भौतिक पदार्थों अथवा रासायनिक तत्त्वों के अन्तर की भाँति नहीं देखा जा सकता, फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि निर्माणक तत्त्वों की दृष्टि से समान होते हुए भी राज्यों में भेद होता है और उनके अनेक प्रकार होते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ राज्य यदि घनी आबादी वाले होते हैं, तो कुछ बिखरी आबादी वाले होते हैं। कुछ राज्यों की सरकार एक प्रकार की होती है तो कुछ की दूसरे प्रकार की होती है। कुछ राज्य यदि पूर्णत: प्रभुत्व-सम्पन्न होते हैं, तो कुछ प्रभुत्वसम्पन्नता की दृष्टि से अपूर्ण होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्यों में भिन्नता पाई जाती है और यह आवश्यक है कि उनका वर्गीकरण किया जाए, जिससे उनके मुख्य-मुख्य भेद स्पष्ट हो सकें।

---

1. "In their legal character, in their essence and in their primary ends and purposes, all States are essentially alike and cannot, therefore, be differentiated one from another in the same way as natural organism physical objects or chemical elements may be distinguished."
—Garner : *Political Science and Government*, p. 240.

अब यह प्रश्न उठता है कि राज्यों के वर्गीकरण का उचित आधार क्या हो सकता है। प्रोफेसर होल्कम्ब (Prof. Holcombe)[1] जैसे कुछ विचारकों के मतानुसार सम्पत्ति, आय, खाद्य, पदार्थ अथवा कच्चे माल की खपत आदि राज्यों के वर्गीकरण के आधार होने चाहिए। किन्तु ये सब राज्यों के वर्गीकरण के उचित आधार नहीं हो सकते क्योंकि इन सबका सम्बन्ध राज्य के जीवन के राजनीतिक पहलू से न होकर आर्थिक पहलू से होता है और ये सब राजनीति-विज्ञानी के अध्ययन की वस्तुएँ न होकर अर्थशास्त्री के अध्ययन की वस्तुएँ हैं। वास्तव में राज्यों के वर्गीकरण का उचित आधार राज्य के निर्माणक तत्वों में ही मिलना चाहिये और यह देखने के लिए कि उन तत्त्वों में कौन-सा तत्त्व वह आधार हो सकता है, हमें उन पर पृथक्-पृथक् विचार करना होगा।

राज्य की भूमि को यदि हम वर्गीकरण का आधार मानें तो, उस आधार पर राज्यों का वर्गीकरण बड़े, मध्यम और छोटे राज्यों के रूप में हो सकता है। यह वर्गीकरण भूगोल के विद्यार्थी के लिये उपयोगी हो सकता है। यदि भूमि से प्राप्त पदार्थों की दृष्टि से देखा जाये, तो वह किसी अर्थशास्त्री के भी उपयोग का हो सकता है। परन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण राजनीति-विज्ञानी के उपयोग का नहीं हो सकता क्योंकि इसके द्वारा राज्यों का वर्गीकरण उनके जीवन के राजनीतिक पहलुओं के आधार पर नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त इस आधार पर राज्यों का वर्गीकरण करना इसलिए भी अनुचित है क्योंकि राज्यों का छोटापन और बड़ापन स्थायी नहीं रह सकता। आज जो राज्य छोटे हैं वे कल बड़े अथवा आज जो राज्य बड़े हैं, वे कल छोटे हो सकते हैं।

यदि जनता को हम राज्यों के वर्गीकरण का आधार मानें तो उनका वर्गीकरण अधिक आबादी वाले, औसत आबादी वाले, कम आबादी वाले राज्यों के रूप में अथवा नगर-राज्यों, जनजाति राज्यों व राष्ट्रीय राज्यों के रूप में हो सकता है। किन्तु वर्गीकरण का यह आधार राज्यों की जनता की संख्या अथवा उस पर आधारित शक्ति का परिचायक हो सकता है, किन्तु उससे राज्य की ऐसी कोई राजनीतिक विशेषताएँ प्रकाश में नहीं आ सकतीं जिनके आधार पर राजनीतिक दृष्टि से राज्यों का वर्गीकरण सम्भव हो सके। इसके अतिरिक्त इस आधार पर किया हुआ राज्यों का वर्गीकरण स्थायी नहीं हो सकता क्योंकि आबादी सदा बदलने वाली वस्तु होती है। इस प्रकार जनता को भी हम राज्यों के वर्गीकरण का उचित आधार नहीं मान सकते।

इसी प्रकार यदि हम सम्प्रभुत्ता को वर्गीकरण के आधार के रूप में लें, तो इस आधार पर राज्यों का वर्गीकरण प्रभुत्व-सम्पन्न, अर्द्धप्रभुत्व सम्पन्न अथवा प्रभुत्वहीन राज्यों के रूप में हो सकता है। किन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण भी अनुपयुक्त है। राज्य की प्रभुत्व सम्पन्नता के कोई स्तर नहीं हो सकते और बिना प्रभुत्व सम्पन्नता के कोई राज्य पूर्ण राज्य ही नहीं कहला सकता। अर्द्ध प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य अथवा प्रभुत्वहीन राज्य-राज्य नहीं हो सकते वे केवल अधीनप्रदेश हो सकते हैं। इसीलिए उनको राज्यों के वर्गीकरण में सम्मिलित करना अर्थ-रहित है। इस प्रकार वर्गीकरण का यह आधार एक राज्य को दूसरे राज्य से पृथक् करने में नहीं अपितु प्रभुत्व सम्पन्न राज्य अथवा अधीन प्रदेशों में भिन्नता स्थापित करने में सहायक हो सकता है। फलत: इसे राज्य के वर्गीकरण के लिए उचित नहीं माना जा सकता।

---

1. *The Foundation of the Modern Commonwealth.* pp. 68 & 77.

राज्य के निर्माणक तत्त्वों में से अब एक तत्त्व सरकार का रह जाता है। जिसके विषय में हमें यह देखना है कि उसे राज्यों के वर्गीकरण का उचित आधार बनाया जा सकता है अथवा नहीं। सरकार राज्य का वह यन्त्र होता है, जिसके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है। राज्य का वास्तविक रूप देखने के लिए हमें सरकार का रूप ही देखना होता है। सरकार का स्वरूप ही वस्तुत: राज्य के स्वरूप का निर्धारण करता है। यदि यह कहा जाये कि व्यावहारिक दृष्टि से सरकार ही राज्य है, तो यह कथन अधिक अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा। इसलिए यही वह आधार है, जिस पर हम राज्यों का वर्गीकरण कर सकते हैं, क्योंकि सरकारों की भिन्नता से व्यवहोर में राज्यों की भिन्नता देखी जा सकती है और उस आधार पर राज्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है। **गेटिल** ने कहा है "राज्य का आवश्यक लक्षण उसका राजनीतिक और कानूनी स्वरूप होता है। इसकी अभिव्यक्ति उसकी सरकार के संगठन द्वारा होती है, अत: सबसे अधिक सन्तोषप्रद वर्गीकरण सरकारों के रूप की समानताओं तथा विभिन्नताओं के आधार पर हो सकता है।"[1] किन्तु इस सम्बन्ध में हमें देखना यह है कि इस प्रकार का वर्गीकरण सरकारों का वर्गीकरण होगा अथवा राज्यों का। मोटे रूप से यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार का वर्गीकरण राज्यों का न होकर सरकारों का होगा। स्वयं गेटिल ने यह अनुभव किया है कि चूँकि "आधुनिक राजनीति-विज्ञान राज्य तथा सरकार को स्पष्टतया दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मानता है; अत: सरकार के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण दोनों पदों (राज्य तथा सरकार) के भ्रम पर आधारित है।"[2] पर वस्तुत: इसमें भ्रम की कोई बात नहीं है। राज्य और सरकार दो भिन्न वस्तुएँ अवश्य हैं, परन्तु सरकार राज्य का एक निर्माणक तत्त्व भी है यह भी हमें भूलना नहीं चाहिये। चूँकि उसके द्वारा हमें राज्य के राजनीतिक जीवन की पूर्ण झाँकी मिलती है, अत: यदि हम उसके स्वरूप के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण करें तो वह वर्गीकरण व्यावहारिक दृष्टि से राज्यों का वर्गीकरण ही होगा। राज्यों का इस प्रकार का वर्गीकरण राज्य के एक निर्माणक तत्त्व अथवा दूसरे शब्दों में उसके एक ऐसे भाग के आधार पर होगा, जिससे हमें सम्पूर्ण की पूर्ण झाँकी मिलेगी। गेटिल ने भी इस सम्बन्ध में ऐसा ही मत व्यक्त किया है, और कहा है कि "चूँकि राज्यों के अस्तित्व की अभिव्यक्ति केवल उनकी सरकारों द्वारा होती है और चूँकि अन्य किसी आधार पर उनकी भिन्नता नहीं समझी जा सकती, अत: सरकारों का वर्गीकरण सार-रूप में राज्यों का ही वर्गीकरण है।"[3] इस प्रकार सरकार वह आधार है, जिसके आधार पर हम राज्यों का उचित, सन्तोषप्रद तथा व्यावहारिक वर्गीकरण कर सकते हैं।

---

1. "The essential characteristic of the State is its political and legal nature. This is manifested in its governmental organization, hence most satisfactory classification is based on the similarities and differences of governmental forms."

   —Gettell : *Political Science*, pp. 191-192.
2. "Modern Political Science however draws a clear distinction between State and government. Hence the classification of States on the basis of government rests upon a confusion of the two terms." *Ibid.* p. 192.
3. "Since States manifest their existence only through their governments and since on no other basis can they be properly distinguished a classification of governments is in essence a classification of States."

   —*Ibid.* pp. 191-92.

अरस्तू का राज्यों का वर्गीकरण

राजनीतिक विचारों का प्रारम्भ अरस्तू की राजनीति से होता है और यह कथन राज्यों अथवा सरकारों के वर्गीकरण के विपय में भी सत्य है। अरस्तू ही सबसे पहले राजनीतिक विचारक हैं, जिन्होंने राज्यों का नियमित तथा विषद् वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है :

"प्रत्येक प्रकार की सरकार अथवा शासन की प्रभुत्व-शक्ति सम्पूर्ण राज्य पर होनी चाहिये और यह प्रभुत्व-शक्ति आवश्यक रूप से एक, कुछ अथवा अनेक व्यक्तियों के हाथों में होनी चाहिये। इनके द्वारा जब प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग सार्वजनिक हित के लिये किया जाता है, तब राज्यों में सुशासन होता है, परन्तु जब एक, कुछ अथवा उन अनेक के ही हित का ध्यान रखा जाता है, जिनके हाथों में वह शक्ति होती है, तब राज्यों में कुशासन होता है।.........उस राज्य को, जिसमें एक व्यक्ति सार्वजनिक हित के लिए शासन करता है, हम साधारणत: एकतन्त्र कहते हैं। इसी प्रकार उस राज्य को जिसमें एक से अधिक अर्थात् कुछ व्यक्ति सार्वजनिक हित के लिए शासन करते हैं, हम श्रेणीतन्त्र या कुलीनतन्त्र कहते ।............ जब सब नागरिक सार्वजनिक हित के लिये शासन करते हैं, तो उसे हम लोकतन्त्र कहते हैं............. इनमें से प्रत्येक प्रकार की सरकार के भ्रष्ट स्वरूप इस प्रकार होते हैं: भ्रष्ट होकर एकतन्त्र, निरंकुशतन्त्र, श्रेणीतन्त्र, गुटतंत्र तथा लोकतंत्र, भीड़तन्त्र हो जाता है। निरंकुशतन्त्र एक ऐसा एकतंत्र होता है जिसमें एक व्यक्ति का हित ही शासन का उद्देश्य होता है; गुटतन्त्र केवल अमीरों के गुट का ही ध्यान रखता है तथा भीड़तन्त्र केवल गरीब जनता का ही हित देखता है; सार्वजनिक हित की चिन्ता इनमें से कोई भी नहीं करता।"[1]

राज्यों के वर्गीकरण के विषय में जो कुछ ऊपर अरस्तू ने कहा है, उसका यदि हम विश्लेषण करें, तो हम देखेंगे कि अरस्तू ने राज्यों का वर्गीकरण निम्न तीन आधारों पर किया है:

---

1. "Every form of government or administration .... must contain a supreme power over the whole State, and *this supreme power must necessarily be in the hands of one person, or a few or many* and *when either of these apply their power for the common good, such States are well-governed : but when the interest of the one, the few or the many who enjoy this power is alone consulted then ill...* we usually call a State which is governed by one person for the common good, a kingdom (or monarchy); one that is governed by more than one but by a few only an aristocracy; when the citizens at large govern for the public good, it is called a State (or polity) ...... Now the corruption attending to each of these governments are these; a kingdom may degenerate into a tyranny, an aristrocracy into an oligarchy : and a State (or polity) into a democracy. Now a tyranny is a monarchy where the good of the one man only is the object of government an *oligarchy considers only the rich and a democracy only the poor, but neither of them have a common good in view."*

—*The Politics of Aristotle* (Everyman's Library), pp. 78-79.

नैतिक आधार—अरस्तू के वर्गीकरण का मुख्य आधार नैतिकता है। नैतिकता का तात्पर्य उस भावना से है, जिससे शासक शासन करता है। नैतिकता के इस आधार के अनुसार यदि शासक सार्वजनिक हित की भावना से शासन करता है, तो राज्य तथा सरकार नैतिकतापूर्ण होते हैं। इन्हें अरस्तू द्वारा एकतन्त्र (Monarchy), श्रेणीतन्त्र (Aristocracy) तथा लोकतन्त्र (Polity) कहा गया है। यदि शासक केवल उन्हीं के हित की भावना से शासन करता है, जिनके हाथों में शासन की शक्ति होती है, तो राज्य तथा सरकार अनैतिकतापूर्ण होते हैं; इन्हें अरस्तू ने निरंकुशतन्त्र (Tyranny), गुटतन्त्र (Oligarchy) तथा भीड़तन्त्र (Democracy) की संज्ञाएँ दी हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि अरस्तू ने जिन शब्दों को इस वर्गीकरण में प्रयुक्त किया है, उनको उसने उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया है, जिसमें वे आजकल प्रयुक्त किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, अरस्तू ने एरिस्टोक्रेसी उस राज्य को कहा है, जिसमें कोई विशिष्ट श्रेणी सब के हित को ध्यान में रखकर शासन करे तथा औलिगार्की उस राज्य को कहा है, जिसमें वह श्रेणी अपने ही लोगों के हितों को दृष्टि में रखकर शासन करे। आजकल एरिस्टोक्रेसी तथा ओलिगार्की शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता है। इसी प्रकार अरस्तू के अनुसार डेमोक्रेसी उस राज्य को कहते हैं जिसमें जनता का बहुमत अल्पमत के हितों की रक्षा न करके बहुमत के हितों की ही रक्षा करता है। आजकल डेमोक्रेसी से तात्पर्य उस राज्य से होता है, जिसमें जनता के हित को दृष्टि में रखकर जनता द्वारा शासन होता है। उन शब्दों में से कुछ का अर्थ, अब निस्सन्देह बदल गया है, फिर भी उसके वर्गीकरण का आधार शासन की अच्छाई अथवा बुराई है, यह पूर्णत: स्पष्ट है।

प्रभुत्व-शक्ति का उपभोग करने वालों की संख्या का आधार—अपने वर्गीकरण के लिए अरस्तू ने दूसरा आधार व्यक्तियों की उस संख्या को माना है, जो राज्य की प्रभुत्व शक्ति का उपभोग करती है। इस आधार पर जिन राज्यों में राज्य-शक्ति किसी एक व्यक्ति में निहित होती है, उन्हें एकतन्त्र कहते हैं। चाहे वह व्यक्ति वंशक्रमानुगत राजा हो या जनता द्वारा अधिकार प्राप्त करके राजा के पद पर पहुँचने वाला कोई व्यक्ति हो। इसी प्रकार जिन राज्यों में प्रभुत्व-शक्ति किसी एक श्रेणी के हाथ में हो तो उन्हें श्रेणीतन्त्र कहते हैं तथा जिन राज्यों में प्रभुत्व-शक्ति जनता या जनता की बहु संख्या में निहित होती है उन्हें लोकतन्त्र कहते हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि कुछ विचारक प्रभुत्व-शक्ति का उपभोग करने वाली जनसंख्या के आधार को अरस्तू द्वारा प्रयुक्त नहीं मानते। उनका मत है कि वर्गीकरण का यह आधार हमें अरस्तू से प्राप्त नहीं हुआ है।[1] वॉन महल (Von Mohl) जैसे विचारकों के मतानुसार वर्गीकरण का यह आधार अरस्तू का मुख्य आधार नहीं है। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु मताधिक्य इसी ओर है कि यह आधार भी अरस्तू के वर्गीकरण की योजना का मुख्य अंग है।

---

1. See Seeley's *Introduction to Political Science*, p. 45.

वर्गहित सम्बन्धी आधार—किसी अंश में अरस्तू ने अपने वर्गीकरण में वर्गहित को भी आधार माना है और इस प्रकार वर्ग-हित की साधना के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण किया है, उदाहरणार्थ, अरस्तू के अनुसार गुटतन्त्र (Oligarchy) में अमीरों के हित को तथा भीड़तन्त्र (Democracy) में गरीबों के हित को प्रधानता प्राप्त होती है।

अरस्तू के वर्गीकरण को स्पष्टत: समझने के लिए हम उसे निम्न प्रकार तालिका-बद्ध कर सकते हैं:

संख्या का आधार	**नैतिकता का आधार**	
प्रभुत्व-शक्ति का उपयोग करने वालों की संख्या के आधार पर वर्गीकरण)	**(राज्य के ध्येय की अच्छाई या बुराई अथवा शासक की भावना की अच्छाई या बुराई के आधार का वर्गीकरण)**	
	सुशासन अर्थात् जब शासन सबके हित के लिए हो	**विकृत शासन अर्थात् जब शासन केवल शासक अथवा शासकवर्ग के हित के लिए ही हो।**
1	2	3
एक व्यक्ति का शासन	**एकतन्त्र** (Monarchy) : यह शासन का वह प्रकार है, जिसमें राज्य-शक्ति एक व्यक्ति में निहित होती है। यह एक व्यक्ति का शासन होता है, परन्तु यह एक व्यक्ति सार्वजनिक हित के लिये शासन करता है। अरस्तू ने इस समय में कोई संकेत नहीं किया है कि यह व्यक्ति किस श्रेणी का होता है। यहाँ समाज का वर्ग वर्गीकरण का आधार नहीं है।	**निरंकुशतन्त्र** (Tyranny) : एकतंत्र के समान ही यह भी एक व्यक्ति का शासन होता है, किन्तु इसमें एक व्यक्ति सार्वजनिक हित में शासन न करके अपने हित अथवा अपनी इच्छा के अनुसार शासन करता है।
कुछ व्यक्तियों अथवा एक श्रेणी का शासन	**श्रेणीतन्त्र** (Aristocracy) : यह शासन का वह प्रकार है, जिसमें राज्य शक्ति कुछ	**गुटतन्त्र** (Oligarchy) : शासन शक्ति के उपभोक्ता कुछ लोग जब अपने वर्ग विशेष के

1	2	3
	व्यक्तियों में निहित होती है और वे लोग सार्वजनिक हित में शासन करते हैं। ये व्यक्ति धनिक वर्ग के होते हैं और इस प्रकार यहाँ अरस्तू का वर्ग सम्बन्धी आधार प्रयुक्त हुआ है। अरस्तू के शब्दों में "सम्पत्ति सम्मान की ओर ले जाने का मार्ग बनी और श्रेणीतन्त्रों का उदय हुआ।"[1]	हित में ही शासन करते हैं अर्थात् जब शासन धनिक वर्ग के हित में ही होता है, तब उसे गुटतंत्र कहते हैं। स्पष्टत: वर्ग के स्वार्थ के कारण श्रेणीतन्त्र गुटतन्त्र के विकृत रूप में परिवर्तित हो जाता है। वर्ग-सम्बन्धी आधार इस प्रकार यहाँ प्रधान है।
बहुसंख्या का शासन	**लोकतन्त्र** (Polity) : यह शासन का वह प्रकार है जिसमें राज्य-शक्ति जनता अथवा जनता की बहुसंख्या में निहित होती है और वे लोग सार्वजनिक हित के लिये शासन करते हैं। अरस्तू के मतानुसार मध्यश्रेणी के लोगों का इस प्रकार के शासन में प्राधान्य होता है और इस प्रकार वर्ग सम्बन्धी आधार के द्वारा यहाँ शासन के प्रकार का निर्धारण है।	**भीड़तन्त्र** (Democracy) : यह शासन का वह प्रकार है जिसमें राज्य-शक्ति का उपभोग करने वाली बहुसंख्या सार्वजनिक हित की दृष्टि से शासन न करके अपने वर्ग के हित की दृष्टि से शासन करती है। अरस्तू ने इस वर्ग को निर्धनों का वर्ग कहा है और इस प्रकार अरस्तू का तात्पर्य यह है कि जब लोकतन्त्र धनिकों के हितों से विमुख होकर केवल निर्धनों के हितों की दृष्टि से शासन करता है, इसका रूप विकृत हो जाता है और उसे कुलीनतन्त्र कहते हैं। वर्ग-सम्बन्धी पक्षपात यहाँ भी मुख्य हो जाता है और उसी के आधार पर शासन के स्वरूप का निर्धारण होता है।

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना—अरस्तू के वर्गीकरण की अनेक आधारों पर आलोचना की गई है। जिन आधारों पर उसकी आलोचना की गई है, उन्हें हम इस प्रकार रख सकते हैं :

1. *See Aristotle's Politics II,* Ch. XV.

(1) अरस्तू ने राज्य तथा सरकार में कोई अन्तर नहीं माना है, अतः उनका वर्गीकरण वस्तुतः राज्यों का वर्गीकरण न होकर सरकारों का वर्गीकरण है। **गार्नर** के शब्दों में, "उन्होंने राज्य तथा सरकार में कोई अन्तर नहीं माना तथा स्पष्टतः उनका वर्गीकरण वस्तुतः उन व्यक्तियों की संख्या के आधार पर किए हुए सरकारों के वर्गीकरण से बढ़कर और कुछ नहीं है, जो राज्य-शक्ति का उपभोग करते हैं अथवा जिन्हें उसका उपयोग करने का अन्तिम अधिकार प्राप्त है। यदि पूर्णता से देखा जाय, तो वह वर्गीकरण राज्यों का नहीं अपितु सरकारों का वर्गीकरण है और इसलिये राज्य के रूपों के विवेचन में उसका कोई उचित स्थान नहीं हो सकता है।"[1] किन्तु इस प्रकार की आलोचना वस्तुतः अतिशयोक्तिपूर्ण है, क्योंकि जैसा हमने पहले देखा राज्यों के वर्गीकरण का वैज्ञानिक आधार केवल सरकार का ही हो सकता है तथा सरकारों का वर्गीकरण वस्तुतः राज्यों का ही वर्गीकरण है। अरस्तू यह पूरी तरह मानते और जानते थे कि सरकार का रूप बदलने से राज्य का प्रकार बदल जाता है। उन्होंने इसी प्रकार के विचार भी स्पष्ट व्यक्त किये हैं और यह दिखाने का उद्योग किया है कि चूँकि सरकार का रूप बदलने से राज्य का प्रकार बदल जाता है, अतः सरकारों के रूप के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है। उन्होंने कहा है कि "चूँकि राज्य उन नागरिकों का समूह होता है, जो शासन में भाग लेने के उद्देश्य से एक होते हैं, अतः जिस प्रकार संगीत-मण्डली के सदस्यों के एक ही बने रहने पर भी उनका गाया हुआ सुखद और दुखद संगीत एक नहीं हो सकता, उसी प्रकार (राज्य के सदस्यों के न बदलने पर भी) यदि सरकार का रूप बदलकर भिन्न हो जाये तो यह माना जा सकता है कि राज्य का रूप पहले का नहीं रहा।"[2] इस प्रकार चूँकि सरकार के रूप बदलने से राज्य का प्रकार बदल जाता है, अतः सरकारों के वर्गीकरण के आधार पर राज्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है और इस आधार पर अरस्तू का वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण न होकर सरकारों का वर्गीकरण है, उनकी आलोचना नहीं की जा सकती।

(2) अरस्तू का वर्गीकरण किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं हुआ है, यह कहकर भी उनके वर्गीकरण की आलोचना की जाती है। गार्नर तथा वॉन महल का यही मत है।

---

1. "He did not, however, distinguish the State from the government and apparently his classification was really nothing more than a classification of governments on the basis of the numbers of persons who exercised or had the final right to exercise the power of government....... it is in the final analysis not a classification of States but of government and, therefore has no rightful place in a discussion of the forms of State."

—Garner : *Political Science and Government,* pp. 244-245.

2. "Since the State is a community of citizens united in sharing one form of government, when the form of government changes and becomes different, then it may be supposed that the State is no longer the same, just as a tragic differs from a comic chorus, though the members for both may be identical." —Aristole : *Politics,* III, 3

गार्नर के मतानुसार "सरकारों के वर्गीकरण के रूप में यह असंगत है, क्योंकि यह ऐसे किसी सिद्धान्त पर आधारित नहीं है, जिसके अनुसार सरकारों में परस्पर आधारभूत विशेषताओं तथा संगठन के रूप से संबंधित भिन्नता स्थापित की जा सके।"[1] वॉन महल ने इनकी आलोचना और भी कड़े शब्दों में की है और कहा है कि "जिस सिद्धान्त पर यह आधारित है उसका स्वरूप राज्य के गठन से संबंधित न होकर गणित से सम्बन्धित है तथा वह गुण-विषयक न होकर संख्या विषयक है।"[2] इसमें सन्देह नहीं कि अरस्तू का वर्गीकरण सरकार के आन्तरिक संगठन पर प्रकाश नहीं डालता फिर भी उस वर्गीकरण को 'बिना किसी वैज्ञानिक आधार' का कहना अन्यायपूर्ण है। वस्तुतः अरस्तू ने हेरीडोटस (Herodotus) के संख्या विषयक आधार और अपने गुण-विषयक आधार को मिला दिया है और इस प्रकार एक ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जिसकी उनके समय में आवश्यकता हो सकती थी। अरस्तू के वर्गीकरण का आधार हमें केवल उन व्यक्तियों की संख्या ही नहीं बताता, जिनके हाथों में राज्य-शक्ति निहित होती है; अपितु उसमें हमें उस स्वार्थ अथवा परमार्थमयी भावना के दर्शन भी मिलते हैं, जिससे शासन करते हैं। अरस्तू के वर्गीकरण में इस प्रकार संख्या-विषयक तथा गुण-विषयक दोनों आधार पाये जाते हैं। बर्गेस का भी मत इस विषयक में अरस्तू से मिलता है तथा उसके अनुसार वह संस्था, जिसमें राज्य-शक्ति निहित होती है, इस बात का परिचय देती है कि जनता में राजनीतिक चेतना किस हद तक विद्यमान है।

(3) एक अन्य आधार जिस पर अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना की जाती है, यह है कि यह आधुनिक समय के अनुकूल नहीं है। इस सम्बन्ध में प्रायः सभी आलोचकों का मत एक है। यह निर्विवाद सत्य है कि जब अरस्तू ने अपना वर्गीकरण किया था उस समय से राज्यों के रूप इतने बदल गये हैं कि उस समय किया हुआ वर्गीकरण आजकल के राज्यों के प्रकारों के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता और न राज्यों के सब प्रकार ही उसमें समा सकते हैं, उदाहरणार्थ, अरस्तू के वर्गीकरण में धार्मिक तथा धर्म-निरपेक्ष राज्यों के प्रकारों के लिए कोई स्थान नहीं है (क्योंकि उस समय ग्रीस में केवल धर्म-निरपेक्ष राज्य होते थे) और आधुनिक समय के लिए जब धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष दोनों प्रकार के राज्य पाये जाते हैं, अरस्तू का वर्गीकरण उपयुक्त नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अरस्तू के वर्गीकरण में एकात्मक तथा संघात्मक, संसदात्मक और अध्यक्षात्मक, वैज्ञानिक राजतन्त्र या गणतन्त्र आदि राज्यों के प्रकारों के लिए कोई स्थान नहीं है। यही नहीं, अब राज्यों के कुछ मिश्रित प्रकार भी उत्पन्न हो गये हैं, और उनके लिए अरस्तू के वर्गीकरण में कोई स्थान नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, यदि इंग्लैण्ड को लें तो वहाँ वैधानिक एकतन्त्र है,

---

1. "It is unsound as a classification of government because it does not rest upon any scientific principle by which government may be distinguished from one another in respect to their fundamental characteristics and forms of organization."

—Garner : *Political Science and Government*, p. 245.

2. "The principle upon which it rests is arithmetical rather than organic quantitative rather than qualitative in character."

—Von Mohl. Quoted by Garner Ibid, p. 245.

प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र है, तथा संसदात्मक एवं एकात्मक शासन है और इसके लिए अरस्तू के वर्गीकरण में ऐसा कोई प्रकार नहीं है, जिससे उसका बोध हो सके, क्योंकि ब्रिटेन में एकतन्त्र एवं लोकतन्त्र होते हुए भी इसे अरस्तू का एकतन्त्र अथवा लोकतन्त्र नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त अरस्तू द्वारा उल्लिखित राज्यों के कुछ प्रकार तो अब कहीं पाये ही नहीं जाते तथा कुछ के लक्षण ही बदल गये हैं। हम देखते हैं कि अब श्रेणीतन्त्र कहीं भी नहीं पाये जाते। अरस्तू के अनुसार जिस लोकतन्त्र (Democracy) का अर्थ भीड़तन्त्र अर्थात् पोलिटी का विकृत रूप होता था, उसका तात्पर्य अब राज्य के सर्वोत्तम तथा स्वाभाविक रूप से होता है। इस प्रकार यह सत्य है कि अरस्तू का वर्गीकरण आधुनिक समय के लिए उपयुक्त नहीं है।

अरस्तू के वर्गीकरण का महत्त्व—फिर भी अरस्तू के वर्गीकरण का ऐतिहासिक महत्त्व है। वैज्ञानिक ढंग से राज्यों का वर्गीकरण सबसे पहले अरस्तू ने ही किया था। इस प्रकार राज्यों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भविष्य के लिए उसने मार्ग प्रशस्त कर दिया। पोलीवियस, मैक्यावली, बोदाँ, मौण्टेस्क्यू तथा आधुनिक विचारक मैरियट तक न तो अरस्तू के दिखाये हुए मार्ग से पूर्णत: अलग हो सके और न उसके प्रभाव से बच सके। ऐतिहासिक दृष्टि के अलावा उपयोगिता की दृष्टि से भी अरस्तू के वर्गीकरण का महत्त्व है। वस्तुत: उसका मूल्य इस बात में है कि वह इस तथ्य पर बल देता है कि राज्य-शक्ति का उपभोग करने वाले व्यक्तियों की संख्या के आधार पर ही राज्यों में परस्पर भेद स्थापित नहीं किया जाना चाहिए, अपितु स्वार्थपरता अथवा परार्थपरता की उस नैतिक भावना के आधार पर भी राज्यों में परस्पर भेद स्थापित किया जाना चाहिये जिससे शासक शासन करते हों। अरस्तू द्वारा किया हुआ राज्यों का वर्गीकरण वस्तुत: एक शाश्वत सत्य प्रस्तुत करता है। इसमें सन्देह नहीं कि राज्यों के अब इतने भेद और प्रकार हो गये हैं कि वे सब अरस्तू के वर्गीकरण में समा नहीं सकते। फिर भी यह हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि एकतन्त्र, श्रेणीतन्त्र और लोकतन्त्र राज्यों के ऐसे आधारभूत भेद हैं, जिनके अध्ययन की उपयोगिता कभी नष्ट नहीं हो सकेगी।

कुछ अन्य वर्गीकरण

अरस्तू के पश्चात् अन्य अनेक लेखकों ने भी राज्यों का वर्गीकरण किया है और राज्यों के विभिन्न प्रकारों का प्रतिपादन किया है। कुछ मुख्य-मुख्य वर्गीकरण निम्न प्रकार हैं:

(1) वैटज—जर्मनी विद्वान् वैटज ने राज्यों को गणराज्य (Republic) दैवतन्त्र, राज्यतन्त्र, एकात्मक राज्य, संघात्मक राज्य, संवर्ग और संघटन राज्यों में वर्गीकृत किया है। उसका यह वर्गीकरण किसी निश्चित सिद्धान्त के अनुसार किया हुआ प्रतीत नहीं होता है।

(2) वॉन महल—जर्मनी के एक अन्य विद्वान् वॉन महल के अनुसार राज्यों को निम्न वर्गों में रखा जा सकता है:

(अ) कुलपतितन्त्र अथवा पितृप्रधान (Patriarchal) राज्य—यह राज्यों का वह वर्ग होता है, जिसमें किसी कबीले या जन का नेता अपने अधीन जनसमुदाय में पिता के समान माना जाता हो और उस जन समुदाय पर शासन करता हो।

(ब) दैवतन्त्र अथवा धर्मधारित (Theocratic) राज्य—यह राज्यों का वह वर्ग होता है, जिसमें राज्य-शक्ति देवी सत्ता के आधीन समझी जाती है और वह एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में हो, जिसे उसके आधीन लोग साक्षात देवता अथवा ईश्वर का प्रतिनिधि मानते हों।

(स) पैतृक वंशक्रमानुगत अथवा वंशानुगत (Patrimonial) राज्य—यह राज्यों का वह प्रकार होता है, जिसमें राज्य शक्ति ऐसे एक व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूह के हाथों में होती है, जिसे वंशक्रमानुसार राज्य पर अधिकार प्राप्त होता है।

(द) प्राचीन (Classical) राज्य—इस वर्ग के अन्तर्गत वे राज्य आते हैं जो अति प्राचीन काल में विद्यमान रहे थे। प्राचीन ग्रीस, भारत तथा इटली में विद्यमान नगर राज्यों को इसके उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है।

(य) वैद्य (Legal) राज्य—इस वर्ग के अन्तर्गत वे राज्य होते हैं, जिनमें राज्य-शक्ति का रूप कानून द्वारा निर्धारित होता है।

(र) निरंकुश (Despotic) राज्य—ये वे राज्य होते हैं, जिनमें शासक किसी विधान अथवा कानून के अनुसार शासन न करके स्वेच्छा से शासन करता है।

वॉन महल के उक्त वर्गीकरण की यह विशेषता है कि उसके अन्तर्गत राज्य के उन सभी स्वरूपों को लाने का प्रयत्न किया गया है, जो ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया के दौरान राज्य के रहे हैं।

(3) ब्लुंशली—जर्मनी विद्वान ब्लुंशली ने अरस्तू के वर्गीकरण को ही स्वीकार किया है और यह सुझाव दिया है कि उसमें दैवतन्त्र नामक एक वर्ग और बढ़ा दिया जाना चाहिए, क्योंकि उनके मतानुसार एकतन्त्र, श्रेणीतन्त्र तथा लोकतन्त्र के समान ही दैवतन्त्र में भी सार्वजनिक हित का शासन हो सकता है और साथ ही जब देवता अथवा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाने वाला शासक अपने ही हित के लिए शासन का संचालन करे तब उसका भी विकृत रूप हो सकता है।

(4) जेलीनेक—इस जर्मन विचारक ने राष्ट्रों का विभाजन इस आधार पर किया है कि राज्य की इच्छा का निर्माण व उसकी अभिव्यक्ति एक व्यक्ति के माध्यम से होती है अथवा अनेक व्यक्तियों के माध्यम से दूसरे शब्दों में, इस विचारक के वर्गीकरण का आधार भी वही है जो अरस्तू का था। इतना अन्तर अवश्य है कि अरस्तू ने उसे प्रभुत्वशक्ति के आशय के रूप में व्यक्त किया है तथा जेलीनेक ने उसे राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति के माध्यम का रूप दिया है। दोनों के वर्गीकरण का आधार एक होते हुए भी जेलीनेक का वर्गीकरण इस दृष्टि से अरस्तू के वर्गीकरण से भिन्न है कि उसके मतानुसार राज्य की इच्छा के निर्माण और अभिव्यक्ति की दृष्टि से राज्यों के केवल दो वर्ग—एकतन्त्र (Monarchy) तथा गणतन्त्र (Republic) ही हो सकते हैं। उसके वर्गीकरण के अनुसार श्रेणीतन्त्र तथा लोकतन्त्र वस्तुतः गणतन्त्र के ही रूप होते हैं। इस प्रकार जेलीनेक के अनुसार वे राज्य जिनमें राजकीय इच्छा का निर्माण और अभिव्यक्ति एक व्यक्ति द्वारा होती है, एकतन्त्र और वे राज्य जिनमें राजकीय इच्छा का निर्माण और अभिव्यक्ति अनेक व्यक्तियों (जिनमें श्रेणी,

जनता का बहुमत तथा सम्पूर्ण जनता सभी सम्मिलित है) द्वारा होती है, गणतन्त्र कहलाते हैं। इसके बाद दोनों प्रकार के वर्गों के राज्यों के भी अनेक प्रकार जेलीनेक ने प्रतिपादित किये हैं। उनके अनुसार एकतन्त्र के प्रकार दैवतन्त्र, वंशक्रमानुगत राजतन्त्र, निर्वाचित राजतन्त्र, निरंकुश राजतन्त्र तथा मर्यादित राजतन्त्र तथा गणतन्त्र के प्रकार लोकतन्त्रात्मक गणराज्य और श्रेणीतन्त्रात्मक गणराज्य होते हैं। जेलीनेक के वर्गीकरण की विशेषता यह है कि उसने अरस्तू के किये हुए वर्गीकरण को इस प्रकार रूपान्तरित कर दिया है कि राज्यों के वर्तमान प्रकार भी उसमें समा सके।

(5) **बर्गेस**—बर्गेस ने अपनी ओर से कोई नवीन अथवा परिवर्द्धित वर्गीकरण न देकर अरस्तू के वर्गीकरण को सबसे अधिक उपर्युक्त वर्गीकरण माना है और एकतन्त्र, श्रेणीतन्त्र तथा लोकतन्त्र को राज्यों के ऐसे प्रकारों के रूप में स्वीकार किया है जिनसे बाहर कोई राज्य नहीं हो सकता। उसके मतानुसार राजनीति-विज्ञान के अन्य विचारकों ने जो भेद किये हैं वे वस्तुतः राज्य के भेद न होकर शासन-पद्धति के भेद होते हैं।

आधुनिक वर्गीकरण

आधुनिक वर्गीकरणों में मैरियट तथा लीकॉक के वर्गीकरण उल्लेखनीय हैं जिनमें आजकल के राज्यों तथा उनकी सरकारों के सभी रूप आ जाते हैं।

मैरियट का वर्गीकरण[1]—मैरियट यह बात मानकर चलते हैं कि आधुनिक राज्य का ढाँचा इतना विषम है कि इसके प्रकारों का वर्गीकरण किसी एक आधार पर नहीं हो सकता। अतः उन्होंने राज्यों का अपना वर्गीकरण तीन आधारों पर किया है। सर्वप्रथम उन्होंने सरकारों का वर्गीकरण राज्य-शक्ति के आश्रय के आधारों पर किया है। इस आधार पर जिन राज्यों में राज्य-शक्ति एक केन्द्रीय स्थान पर केन्द्रित होती है, उन्हें उन्होंने एकात्मक तथा जिन राज्यों में राज्य शक्ति राज्य की इकाइयों में वितरित होती है, उन्होंने संघात्मक राज्य कहा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सरकारों का वर्गीकरण संविधान के आधार पर किया है। जिन राज्यों का संविधान व्यवस्थापन की साधारण प्रक्रिया द्वारा संशोधित किया जाता है, उन्हें उन्होंने लचीले संविधानों वाले राज्य कहा है तथा जिन राज्यों का संविधान एक विशेष प्रक्रिया द्वारा संशोधित किया जा सकता है। उन राज्यों को उन्होंने अचल संविधानों वाले राज्य कहा है। लचीले संविधान वाले राज्यों में व्यवस्थापिका का अधिकार अधिक तथा अचल संविधान वाले राज्यों में व्यवस्थापिका का अधिकार अपेक्षाकृत कम होता है। इस प्रकार उनके ही शब्दों में, "व्यवस्थापिका की स्थिति, अधिकार तथा कार्यों के आधार पर संविधान में अन्तर किया जाता है। अचल संविधान के अन्तर्गत इसका कार्य केवल व्यवस्थापन सम्बन्धी अर्थात् संविधान को मर्यादा के अन्तर्गत कानून बनाना होता है, लचीले संविधान के अन्तर्गत इसका कार्य केवल व्यवस्थापन सम्बन्धी ही नहीं अपितु संविधान सम्बन्धी अर्थात्

1. For this classification see Marriot : *The Mechanism of the Modern State* pp. 39 to 43.

केवल कानून बनाना, उन्हें संशोधित करना अथवा समाप्त करना ही नहीं, अपितु संविधान का निर्माण और उसका संशोधन करना भी होता है।"[1] अन्त में सरकारों का वर्गीकरण उन्होंने व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के सम्बन्ध के आधार पर किया है। इस आधार पर जिन राज्यों में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के अधीन और उनके प्रति उत्तरदायी होती है वे संसदीय प्रणाली वाले राज्य तथा जिन राज्यों में कार्यपालिका व्यवस्थापिका से उच्चतर, उसकी समानपदी अथवा स्वतन्त्र होती है, वे असंसदीय अथवा अध्यक्षीय (Persidential) प्रणाली वाले राज्य होते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि मैरियट के वर्गीकरण का विस्तार पहले के वर्गीकरणों से अवश्य बढ़ा हुआ है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता है कि उसके अन्तर्गत राज्यों के सभी प्रकार आ जाते हैं। इस वर्गीकरण में हम देखते हैं कि वैधानिक एकतन्त्र तथा गणतन्त्र में कोई अन्तर नहीं किया गया है। इसके अन्तर्गत अधिनायकतन्त्र के लिये कोई स्थान नहीं है और न इसमें दैवतन्त्र तथा धर्म-निरपेक्ष राज्यों अथवा पूँजीवादी तथा समाजवादी लोकतन्त्रों की कोई चर्चा की गई है। इस दृष्टि से मैरियट के वर्गीकरण को हम पूर्ण नहीं कह सकते हैं। फिर भी जैसा स्वयं मैरियट ने कहा है—"इसमें जिन वर्गों की ओर संकेत किया गया है, उनमें हमें (राज्यों के) ऐसे सुगम भेद मिल जाते हैं, जिनके आधार पर आधुनिक जगत के राज्यों को वैज्ञानिक शुद्धता के साथ तथा संवैधानिक प्रक्रिया की वास्तविकताओं को ध्यान में रखते हुए वर्गीकृत किया जा सकता है।"[2]

लीकॉक का वर्गीकरण—आधुनिक विचारकों में लीकॉक का वर्गीकरण आधुनिकतम है और इसीलिये उसका बड़ा महत्त्व है। उन्होंने आधुनिक राज्यों को मोटे रूप से दो भागों में विभाजित किया है—निरंकुश (Despotic) तथा लोकतन्त्रीय (Democratic)। इस प्रकार निरंकुश राज्य वे होते हैं, जिनमें राज्य-शक्ति एक व्यक्ति में निहित होती है तथा लोकतन्त्र वे राज्य होते हैं जिनमें राज्य-शक्ति जनता में निहित होती है। इसके पश्चात् उन्होंने लोकतन्त्रीय राज्यों को मर्यादित राजतन्त्र तथा गणतन्त्र नामक दो वर्गों में विभाजित किया है। इसके बाद उन्होंने मर्यादित राजतन्त्र तथा गणतन्त्र दोनों को एकात्मक तथा संघात्मक राज्यों में विभाजित किया है। अन्त में दोनों समूहों में एकात्मक तथा संघात्मक को उन्होंने संसदीय तथा असंसदीय अथवा अध्यक्षीय राज्यों के रूप में विभाजित किया है। लीकॉक का वर्गीकरण उन्हीं की दी हुई इस तालिका की सहायता से भली-भाँति समझा जा सकता है:

---

1. "Constitutions are differentiated by the position, authority and functions of the legislature. Under rigid constitutions its function is merely legislative—to make the laws under the limitations of the Constitution; under flexible constitution its function is not only legislative but constituent not only to enact, to amend and repeal laws, but to make and modify the constitutions." —*Ibid* : p. 41.
2. "The suggested categoises .... do afford intelligible differentiation on the basis of which the states of the modern world may be classified with some approach to scientific accuracy and with some regard to the realities of the constitutional procedure." —*Ibid* : p. 43.
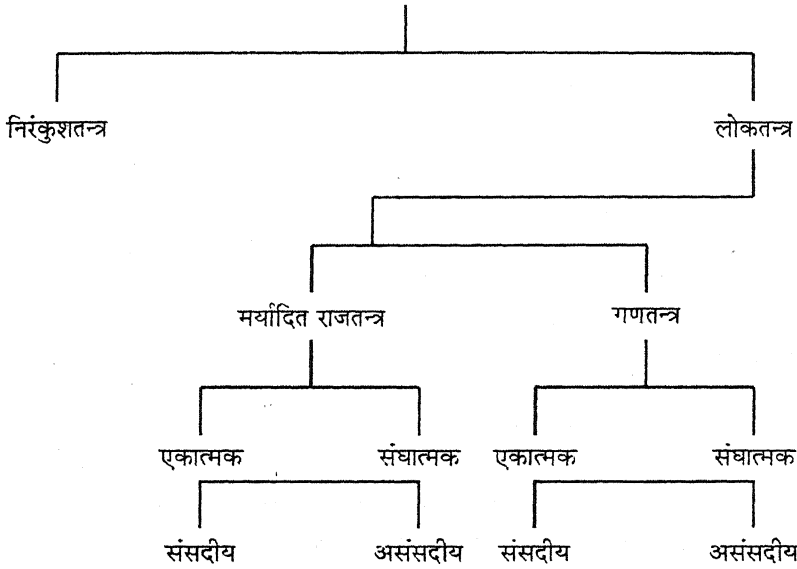
लीकॉक के उपर्युक्त वर्गीकरण की कुछ विशेषताएँ हैं और इसी कारण उसका विशेष महत्त्व है। सबसे पहली विशेषता इस वर्गीकरण की यह है कि इसके द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि वर्गीकरण की समस्या वस्तुतः निरंकुश राज्यों के विषय में नहीं अपितु लोकतन्त्रीय राज्यों के विषय में है। इसके अतिरिक्त इस वर्गीकरण द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि लोकतन्त्र राज्य मर्यादित राजतन्त्र अथवा गणतन्त्र दोनों ही हो सकते हैं तथा मर्यादित राजतन्त्र तथा गणतन्त्र दोनों ही एकात्मक अथवा संघात्मक तथा संसदीय अथवा असंसदीय या अध्यक्षीय भी हो सकते हैं। उपर्युक्त विशेषताओं के होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह वर्गीकरण पूर्णरूपेण पूर्ण है। राज्यों के अनेक ऐसे प्रकार हैं जिनका इसमें उल्लेख नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, अधिनायकतन्त्र का इसमें कोई उल्लेख नहीं है, यद्यपि वह निरंकुश राज्यों का एक प्रकार है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र, दैवतन्त्र तथा धर्म-निरपेक्ष राज्य, समाजवादी तथा असमाजवादी लोकतन्त्रों को इस वर्गीकरण के अनुसार किसी वर्ग में नहीं रखा जा सकता।

एक नवीन वर्गीकरण—अब तक जिन वर्गीकरणों का विवेचन किया गया है वे सभी किसी न किसी दृष्टि से अपूर्ण ही हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि जिस वर्गीकरण में आजकल के राज्यों के सब प्रकार समा सकें ऐसा वर्गीकरण असम्भव है। यद्यपि यह ठीक है कि राज्यों के प्रकारों की संख्या इतनी अधिक होती जा रही है और उसके रूप

इतने मिश्रित हैं कि उनका उचित वर्गीकरण सरलता से नहीं किया जा सकता, फिर भी वर्तमान राज्यों का आधुनिकतम वर्गीकरण आगे के पृष्ठ पर दी गई तालिका के अनुसार किया जा सकता है।

इस तालिका से हम देख सकते हैं कि राज्यों के वर्गीकरण के अनेक आधार हैं। जैसा तालिका से स्पष्ट है सबसे पहले राज्यों का वर्गीकरण धर्म तथा राज्य के सम्बन्ध के आधार पर किया जा सकता है तथा इस आधार पर राज्यों का वर्गीकरण धर्म-निरपेक्ष तथा दैवतन्त्र राज्यों के रूप में हो सकता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य वे राज्य होते हैं, जिनमें राजनीति को धर्म से अलग रखा जाता है तथा राज्य को धर्म से कोई मतलब नहीं होता। राज्य के धर्म के प्रति उदासीन होने का यह तात्पर्य नहीं है कि वह अधर्मी होता है। उसका तात्पर्य यह है कि राज्य का कोई विशेषराज धर्म नहीं होता और उसके अन्तर्गत जनता को धर्म के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है इसके विपरीत दैवतन्त्र राज्य वे होते हैं, जिनमें राज्यनीति धर्म पर आश्रित होती है। ऐसे राज्य का एक विशेषराज धर्म होता है और उसके अनुसार राज्य की नीति का संचालन किया जाता है। इसके बाद धर्म-निरपेक्ष तथा दैवतन्त्र दोनों प्रकार के राज्यों का वर्गीकरण प्रभुत्व-शक्ति के आश्रय के आधार पर निरंकुश तथा लोकतन्त्रीय राज्यों के रूप में किया जा सकता है। निरंकुश राज्य वे राज्य होते हैं जिनमें प्रभुत्व-शक्ति एक शासक में निहित होती है। लोकतन्त्रीय राज्य वे राज्य होते हैं जिनमें प्रभुत्व-शक्ति जनता में निहित होती है। इस प्रकार धर्म-निरपेक्ष तथा दैवतन्त्रीय दोनों ही प्रकार के राज्य निरंकुश तथा लोकतन्त्रीय हो सकते हैं। इसके बाद निरंकुश राज्यों का वर्गीकरण शासक के चुनाव के आधार पर राजतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र के रूप में हो सकता है। वे राज्य जिनमें शासक वंशक्रमानुगत होता है, राजतन्त्र कहलाते हैं तथा वे जिनमें शासक निर्वाचन अथवा सैनिक विप्लव के परिणामस्वरूप पदारूढ़ होता है, अधिनायकतन्त्र कहलाते हैं।

अन्त में, लोकतन्त्र राज्यों का वर्गीकरण पाँच भिन्न-भिन्न आधारों पर किया जा सकता है। प्रथम, प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर दो प्रकार हो सकते हैं: वे लोकतन्त्र जिनमें जनता शासन कार्य में प्रत्यक्ष भाग लेती है, प्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहलाते हैं तथा वे लोकतन्त्र जिनमें जनता अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन कार्य में भाग लेती है, अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहलाते हैं। दूसरा आधार जिस पर लोकतन्त्रीय राज्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है। शासक का चुनाव होता है। इस आधार पर वे लोकतन्त्र जिनमें शासक वंशक्रमानुगत होते हुए भी पूर्णत: लोकप्रिय मन्त्रियों की सलाह से शासन करता है, इंगलैण्ड की भाँति वैधानिक राजतन्त्र कहलाते हैं। वे लोकतन्त्र, जिनमें शासक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा पदारूढ़ होता है, क्रमश: अमेरिका तथा भारत की भाँति गणतन्त्र कहलाते हैं। तीसरा आधार जिस पर लोकतन्त्रों को वर्गीकरण किया जा सकता है कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का सम्बन्ध है। इस आधार पर वे लोकतन्त्र, जिनमें कार्यपालिका व्यवस्थापिकाओं से ली जाती है, उसकी अधीनस्थ संस्था होती है तथा उसके प्रति उत्तरदायी होती है, संसदीय लोकतन्त्र कहलाते हैं। वे लोकतन्त्र जिनमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी न होकर स्वेच्छाचारी

आधुनिक राज्य
(धर्म तथा राज्य के सम्बन्ध के आधार पर)
धर्म-निरपेक्ष
दैवतन्त्र
प्रभुत्व-शक्ति के आश्रय के आधार पर
प्रभुत्व-शक्ति के आश्रय के आधार पर
निरंकुश
लोकतन्त्रीय
निरंकुश
लोकतन्त्रीय
शासक के चुनाव के आधार पर
राजतन्त्र
अधिनायकतन्त्र
प्रतिनिधित्व-प्रणाली के आधार पर
शासक के चुनाव के आधार पर
आर्थिक व्यवस्था के आधार पर
प्रत्यक्ष लोकतन्त्र
अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र
वैधानिक राजतन्त्र
गणतन्त्र
कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के सम्बन्ध के आधार पर
राज्य की इकाइयों और केन्द्र के सम्बन्ध के आधार पर
संसदीय
असंसदीय
अध्यक्षीय
एकात्मक
संवर्गात्मक
संघात्मक
पूँजीवाद
मिश्रित
समाजवादी
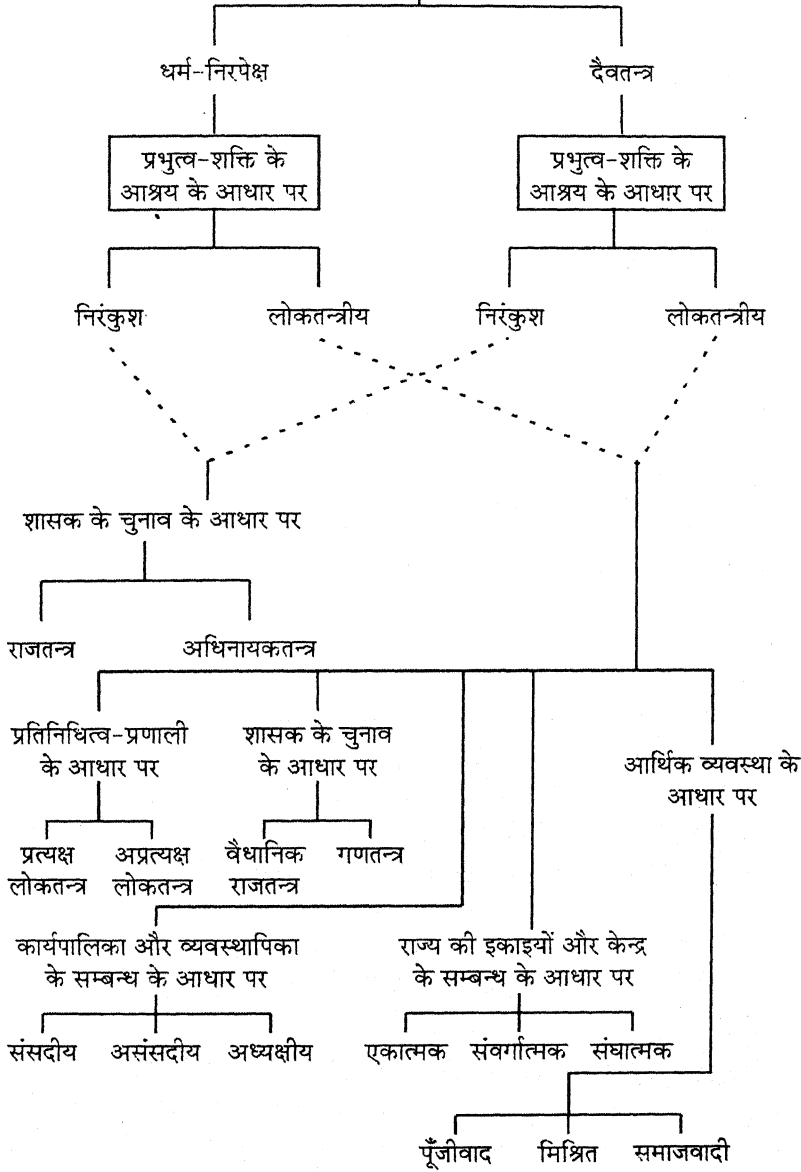
होती है, जिनमें व्यवस्थापिका न होकर केवल कार्यपालिका होती है, अथवा यदि होती है तो कार्यपालिका के दबाव में होती है, असंसदीय लोकतन्त्र कहलाते हैं। वे लोकतन्त्र जिनमें कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका एक दूसरे से स्वतन्त्र तथा परस्पर समानपदी होती हैं, अध्यक्षीय लोकतन्त्र कहलाते हैं। इंगलैण्ड, 1919 के संविधान का भारत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के लोकतन्त्र क्रमशः संसदीय, असंसदीय तथा अध्यक्षीय लोकतन्त्रों के उदाहरण हैं। चौथा आधार जिस पर लोकतन्त्रों का वर्गीकरण किया जा सकता है राज्य की इकाइयों और केन्द्र का सम्बन्ध है। इस आधार पर वे लोकतन्त्र जिनमें राज्य शक्ति पूर्णतया एक स्थान पर केन्द्रीभूत होती है और राज्य की इकाइयों का कोई स्वतन्त्र.अस्तित्व न होकर वे केन्द्र के पूर्णतया अधीन होती हैं, इंगलैंड की भाँति एकात्मक लोकतन्त्र कहलाते हैं। वे लोकतन्त्र, जिनमें राज्य-शक्ति का विकेन्द्रीकरण होता है, तथा जिनमें इकाइयों तथा केन्द्र में शक्तियों एवं कार्यों का वितरण होता है, तथा जिनमें इकाइयों का स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वतन्त्र कार्यक्षेत्र होता है संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति संघात्मक लोकतन्त्र कहलाते हैं। पाँचवां और अन्तिम आधार जिस पर लोकतन्त्री राज्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है, राज्य में प्रचलित आर्थिक व्यवस्था है। इस आधार पर वे लोकतन्त्र जिनमें उत्पादन एवं वितरण के साधनों का स्वामित्व एवं नियन्त्रण राज्य के हाथों में न होकर व्यक्तियों के हाथों में होता है, पूँजीवादी लोकतन्त्र कहलाते हैं, वे लोकतन्त्र जिनमें उत्पादन एवं वितरण के साधनों का स्वामित्व सामूहिक रूप से जनता के हाथों में होता है और जनता की ओर से तथा जनता के हित में राज्य द्वारा उनका नियन्त्रण होता है, समाजवादी लोकतन्त्र कहलाते हैं तथा वे लोकतन्त्र जिसमें उत्पादन तथा वितरण के साधनों के स्वामित्व तथा नियन्त्रण में सामूहिक रूप से जनता की ओर से राज्य का तथा व्यक्तिगत रूप से व्यक्तियों का हाथ रहता है, भारत की भाँति मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले लोकतन्त्र कहलाते हैं।

SELECT READINGS

Aristotle : *Politics (Everyman's Library)*

Bluntschli : *The Theory of the State.*

Burgess : *Political Science and Constitutional Law.*

Garner : *Political Science and Gvoernment.*

Gilchrist : *Principles of Political Science.*

Hall : *International Law.*

Marriot : *The Mechanism of the Modern State.*

Seeley : *Introduction to Political Science*

❑❑❑

4
शासन के प्रकार [राजतन्त्र, अधिनायकतन्त्र, कुलीनतन्त्र एवं लोकतन्त्र]

"हम यह देखते हैं कि राज्य का आधार शक्ति नहीं वरन् इच्छा होती है, राजनीतिक कर्त्तव्य पालन का सही आधार व्यक्ति की वास्तविक इच्छा और कानून का एकीकरण होता है, राजनीतिक विकास के प्राथमिक चरणों में राजतन्त्र और श्रेणीतन्त्र चाहे कितने ही आवश्यक रहे हों, पर अब तो लोकतन्त्र ही राज्य का मनुष्य के पूर्ण आत्म-विकास के लिए उपयुक्त प्रकार है।" —हर्नशा

शासन का वर्गीकरण करते समय शासन के अनेक प्रकार हमारे समक्ष आये। शासन के उन प्रकारों की विशेषताएँ क्या होती हैं यह भी संक्षिप्त रूप से वर्गीकरण के प्रसंग में दिया गया है। फिर भी शासन के कुछ प्रकार ऐसे हैं जिनका मनुष्य के राजनीतिक जीवन में विशेष महत्त्व रहा है अथवा है। अत: उन प्रकारों पर विस्तारपूर्वक विचार करना उपयोगी होगा। हम शासन के चार प्रकारों—राजतन्त्र, अधिनायकतन्त्र, श्रेणीतन्त्र और लोकतन्त्र पर विचार करेंगे।

राजतन्त्र (Monarchy)

साधारणत: राजतन्त्र से शासन के उस रूप का बोध होता है। जिसमें सर्वोच्च तथा अन्तिम शक्ति एक व्यक्ति के हाथों में निहित हो। सत्तावान व्यक्ति चाहे किसी प्रकार पदारूढ़ हुआ हो, उसका कार्यकाल कितना भी हो अथवा उसकी उपाधि कुछ भी हो, जहाँ राजसत्ता एक व्यक्ति में निहित हो और शासन के मामलों में एक व्यक्ति की इच्छा चलती हो, उसे हम राजतन्त्र कहते हैं। **लार्ड ब्राइस** ने इस विषय में कहा है—"राजतन्त्र का तात्पर्य किसी

नाम से नहीं, अपितु वस्तु से होता है, अर्थात् उस राज्य से नहीं, जिसका अध्यक्ष राजा या सम्राट कहलाता है, अपितु उस राज्य से होता है, जिसमें राजा की व्यक्तिगत इच्छा स्थायी रूप से प्रभावशाली रहती है और शासन में अन्तिम रूप से निर्णायक तत्त्व का काम करती है।''[1] राजतन्त्र आवश्यक रूप से नहीं, साधारणतः वंशक्रमानुगत होते हैं।

राजतन्त्र के गुण :

राजतन्त्र शासन का सबसे प्राचीन प्रकार है तथा आदिकाल के लोगों को सभ्य बनाने में शासन के इस प्रकार ने बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया है। अठारहवीं शताब्दी तक तो यह सर्वाधिक प्रचलित रहा है और इसके अनेक ऐसे प्रशंसक हुए हैं जो इसे शासन का सर्वोत्तम प्रकार मानते हैं। फ्रांसीसी विचारक **बोसे (Bossuet)** के अनुसार ''राजतन्त्र प्राचीनतम, सबसे अधिक प्रचलित, सर्वोत्तम तथा सबसे अधिक स्वाभाविक शासन का प्रकार है।''[2] अंग्रेज इतिहासकार और दार्शनिक **डेविड ह्यूम** ने राजतन्त्र की प्रशंसा में कहा है कि ''राजा अपने प्रजाजन में ऐसे रहता है, जैसे पिता अपनी सन्तान के मध्य रहता है।''[3] राजतन्त्र के मुख्य गुणों का विवेचन हम निम्न शीर्षकों में कर सकते हैं:

शासन-संगठन की कुशलता—राजतन्त्र में शासन का संचालन उत्तम तथा शीघ्रतापूर्ण होता है। इस शासन-प्रणाली में राजा स्वतन्त्रतापूर्वक मनोनुकूल कार्यकर्त्ताओं और कर्मचारियों की नियुक्ति कर सकता है और परिणामस्वरूप राजा तथा कर्मचारियों में पूर्ण सहयोग रहता है और प्रशासन में कुशलता रहती है। कानूनों का निर्माण तो राजतन्त्र में सरलतापूर्वक होता ही है, इसके अतिरिक्त उनको कार्यान्वित करने में भी सरलता रहती है। निरंकुश राजतन्त्र में राजा ही एकमात्र अधिकारी, शक्ति का स्रोत तथा निर्णयकर्त्ता होता है, अतः राजतन्त्र में कभी निष्क्रियता की कठिनाई नहीं होती और निर्णय करने में उन कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता, जिनका सामना विचारों की विभिन्नता के कारण साधारणतः लोकतन्त्र में करना पड़ता है। शासन की शक्ति एक व्यक्ति में निहित होने के कारण शासन में एकता बनी रहती है और परिणामस्वरूप राजतन्त्र में राज्य को घर और बाहर दोनों जगह सम्मान प्राप्त होता है।

सामाजिक हित एवं न्याय की साधना—राजा राजनीतिक दलों के प्रभाव से मुक्त और उनसे स्वतन्त्र होता है, अतः यह स्वाभाविक है कि राजा निर्वाचित राष्ट्रपति अथवा

---

1. "By monarchy, I understand "thing, not the name i.e., not any state the head of which is called king or emperor but one in which the personal will of the monarch is a constantly effective and in the last resort predominant factor in government."
—Bryce : *Modern Democracies,* Vol. II, p. 535.
1. "It was the most ancient, most widely diffused, the best and the most natural of all forms of government." —Bossuet : Quoted by Garner in his *Political Science and Government*, p. 369.
2. "The prince lives among his subject like a father among his children."
—Davide Hume : *Of Civil Liberty,* Essay No. 12.

लोकप्रिय मन्त्रियों से अधिक निष्पक्ष हो क्योंकि राष्ट्रपति व मन्त्री अपनी नियुक्ति के लिये जनता के मतदान पर निर्भर रहते हैं तथा उनके लिये यह आवश्यक होता है कि यदि आवश्यक हो तो न्याय का खून करके भी वे मतदाताओं को प्रसन्न रखें। राजतन्त्र में राजा को चूँकि किसी को प्रसन्न करने की आवश्यकता नहीं होती, अतः स्वभावतः वह प्रजा के सामान्य हित में लगा रह कर समाज में निष्पक्षतापूर्वक न्याय की प्रतिष्ठा बनाये रख सकता है।

आदिकालीन लोगों के लिये उपयुक्तता—आदिकालीन लोगों को राजनीतिकता के साँचे में ढालने के लिये तो राजतन्त्र से बढ़कर अधिक उपयुक्त शासन का रूप नहीं है। आदिकालीन लोगों में कोई राजनीतिक चेतना नहीं होती, उनकी भावनाएँ नितान्त संकुचित होती हैं। ऐसी दशा में केवल राजतन्त्र ही उन्हें राजनीतिक जीवन में ढाल सकता है और उन्हें ऐसे जीवन का अभ्यस्त बना सकता है जिसमें सामाजिक जीवन के हित की साधना हो सके। **मिल (Mill)** ने वस्तुतः ठीक ही कहा है कि "जंगली लोगों के लिये निरंकुश राजतन्त्र ही सबसे उपयुक्त शासन है परन्तु शर्त यह है कि उनकी उन्नति राज्य का उद्देश्य हो तथा साधनों की औचित्यता उस उद्देश्य को वास्तविक रूप से पूरा करके सिद्ध कर दी जाये।"[1]

राजतन्त्र के दोष :

उपर्युक्त सैद्धान्तिक गुणों के होते हुए भी राजतन्त्र अब हमें आकर्षित नहीं करता। इतिहास ने यह प्रत्यक्ष कर दिया है कि उसमें अनेक दोष हैं और अब कहीं भी राजतन्त्र अपने निरंकुश एवं वास्तविक रूप में नहीं पाया जाता। राजतन्त्र के दोषों का विवेचन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

शक्ति का दुरुपयोग—शक्ति भ्रष्टाचार की और असीमित शक्ति असीमित भ्रष्टाचार की जननी है। अतः जैसा अनुभव बताता है, राजतन्त्र प्रायः अत्याचारी और भ्रष्ट हो जाता है क्योंकि इस शासन में राजसत्ता एक व्यक्ति के हाथ में निहित होती है और उसका प्रयोग वह अपनी इच्छा के अनुसार स्वतन्त्र रूप से करता है। उसका शब्द कानून होता है तथा उसकी इच्छा न्याय होती है। ऐसे शासन में यह आशा करना कि प्रजा का कल्याण हो सकेगा, केवल दुराशा है। इतिहास बताता है कि राजतन्त्री शासकों ने अपने ही हितों की परवाह की है और प्रजा प्रायः दुःखी ही रही है। निरंकुश राजा प्रायः अपने शक्ति का दुरुपयोग केवल अपने ही हितों की रक्षा और प्रजा के दमन के लिये करता है। इस प्रकार शक्ति का दुरुपयोग एक ऐसा दोष है, जिससे राजतन्त्र प्रायः मुक्त नहीं होता।

वंशानुक्रम की अनुपयुक्तता—राजतन्त्र का सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि अच्छे राजा का पुत्र अच्छा ही होना चाहिए। अतः राजतन्त्र में राजगद्दी का उत्तराधिकार प्रायः वंशानुक्रम पर आधारित होता है। किन्तु वंशानुक्रम के अनुसार राजा की योग्यता केवल संयोग की बात बन जाती है और यह आवश्यक नहीं है कि वंशानुक्रम के आधार पर पदारूढ़

---

1. "Despotism is a legitimate mode of Government for dealing with barbarians, provided the end be their improvement and the means be justified by actually effecting that end." —Mill : *On Liberty,* p. 23.

शासक सदा योग्य ही हो। योग्य पुत्र केवल एक कल्पना है, जो सदा ही वास्तविकता नहीं हो सकती। इतिहास में हमें अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें योग्य शासकों और राजनीतिज्ञों के पुत्र अयोग्य सिद्ध हुए हैं। इस संबंध में **जेफरसन** (Jefferson) ने तो यहाँ तक कह दिया है "राजाओं की किसी जाति में बीस पीढ़ियों में से एक से अधिक साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति उत्पन्न नहीं हुआ है।"[1] वंशानुक्रम के कारण अयोग्य ही नहीं, अल्पवयस्क व्यक्ति भी पदारूढ़ हो जाते हैं। ये अल्पवयस्क किस प्रकार का शासन कर सकते हैं, यह न कहना ही ठीक है। यद्यपि इससे यह तात्पर्य नहीं है कि वंशानुक्रम में योग्य शासक हो ही नहीं सकते, किन्तु यह निश्चित है कि इस पद्धति से योग्य शासक का होना केवल एक संयोग की बात रह जाती है।

नागरिक चेतना का अभाव—अन्तिम किन्तु सबसे मुख्य दोष यह है कि राजतन्त्र में जनता में नागरिक चेतना उत्पन्न नहीं होने पाती। तर्क के लिए यह माना जा सकता है कि एक व्यक्ति के हाथ में निरंकुश शक्ति भ्रष्ट ही नहीं हो सकती, उसका प्रयोग शासन में कुशलता लाने के लिए भी किया जा सकता है, राजतन्त्री राजा अच्छे कानूनों का निर्माण भी कर सकता है, अथवा वह स्वयं ही राज्य के धन का सद्व्यय भी कर सकता है। संक्षेप में यह माना जा सकता है कि राजतन्त्र में शासन सम्बन्धी सभी अच्छाइयाँ हो सकती हैं। फिर भी इसके अन्तर्गत नागरिक चेतना का उद्भव नहीं हो सकता, जिसके बिना राज्य का राजनीतिक जीवन निष्प्राण समझा जाता है। कोई भी तन्त्र अन्य दृष्टियों से कितना भी अच्छा क्यों न हो, वह यदि नागरिक चेतना तथा राजनीतिक जागरुकता उत्पन्न नहीं कर सकता, तो उसे आदर्श तन्त्र नहीं कहा जा सकता। **गार्नर** ने कहा भी है "कोई भी सरकार जो लोकप्रियता पर आधारित नहीं है, जो लोगों में सार्वजनिक कार्यों के प्रति लगन उत्पन्न नहीं कर सकती तथा जो सक्रिय सजग तथा बुद्धिमती नागरिकता उत्पन्न नहीं कर सकती, आदर्श नहीं कहीं जा सकती। यह निश्चय है कि ऐसी कोई सरकार, जिसके अन्तर्गत जनता को शासन कार्य में भाग लेने पर किसी भी रूप में प्रतिबन्ध है, इस प्रकार का नागरिक वर्ग उत्पन्न नहीं कर सकती।"[2] इस प्रकार राजतन्त्र, चाहे शासन की दृष्टि से उत्तम मान लिया जाये, इस दृष्टि से उत्तम नहीं समझा जा सकता कि उसके अन्तर्गत राजनीतिक जीवन नागरिक चेतना के बिना निष्प्राण रहता है। यह उसका एक ऐसा दोष है, जिससे उसे मुक्त नहीं किया जा सकता।

---

1. "No race of kings has ever presented above one man of common sense in twenty generations."
   —Jefferson : Quoted by Garner in his *Political Science and Government* p. 374.
2. "No government which does not rest upon the affections of the people, which does not stimulate among them an interest in public affairs and create an active, intelligent and alert citizenship, can be called ideal and certainly, no government from which the participation of the people in some form is excluded will ever be able to produce such a body of citizens." —Garner : *Political Science and Government,* p. 273.

अधिनायकतन्त्र (Dictatorship)

आधुनिक काल यद्यपि लोकतन्त्र का युग है और राजतन्त्र के दिन अब व्यतीत हो चुके हैं, फिर भी उसका एक नवीन स्वरूप हमारे समक्ष अधिनायकतन्त्र के रूप में अवश्य विद्यमान है। यह बाह्य रूप में राजतन्त्र से भिन्न होते हुए भी साररूप से राजतन्त्र के ही समान है।

'अधिनायकतन्त्र अंग्रेजी शब्द 'डिक्टेटरशिप' (Dictatorship) का हिन्दी रूपान्तर है जो स्वयं लेटिन भाषा से निकला है। मूल रूप में अधिनायकतन्त्र का अर्थ वह नहीं था, जो अर्थ उसका अब हो गया है। रोमन साम्राज्य में संकटकालीन परिस्थितियों में न्याय व कानून-व्यवस्था बनाये रखने के लिये विशिष्ट शक्तियों के साथ जिन अधिकारियों को मजिस्ट्रेट के रूप में नियुक्त किया जाता था, उन्हें अधिनायक (Dictator) कहा जाता था। इस प्रकार मूल रूप में, 'अधिनायक' शब्द का अर्थ आदेश देने वाला है तथा उससे आजकल जैसे दुर्भाव का बोध नहीं होता है। वस्तुत: पिछली शताब्दी के मध्य तक इस शब्द का प्रयोग मूल निरपेक्ष रूप में होता भी रहा था। एमिलिया के शासक फेरिनि (Farini) ने 1859 में एवं सिसली के शासक गेरिबाल्डी (Garibaldi) ने 1860 में स्वयं को इसी प्रकार का अधिनायक घोषित किया था तथा उसके अधिनायक बनने का उद्देश्य देश का कल्याण करना था। मार्क्स ने भी 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र' (Dictatorship of Prolitariat) का प्रतिपादन लोकहित की साधना के लिए ही किया था, क्योंकि साम्यवादी मान्यता के अनुकूल लोकहित की साधना के लिए आवश्यक वर्ग रहित समाज की स्थापना हो सके, इसके लिए उनके अनुसार सत्ता में आने के बाद भी सर्वहारा वर्ग द्वारा शक्ति का अधिनायकीय प्रयोग अपरिहार्य था।

परन्तु बाद में 'अधिनायकतन्त्र' का जो रूप बना वह उसके मूल रूप से पूर्णत: भिन्न हो गया तथा यही कारण है कि अब उसका अर्थ पहले से बिल्कुल विपरीत हो गया है। अब उससे एक ऐसे स्वेच्छाचारी शासन का बोध होता है जो स्वेच्छाचारी होने के साथ अत्याचारी भी होता है। वस्तुत: जैसा मत सार्तोरी ने व्यक्त किया है 'सहमति पर आधारित शासन' का अनुभव ज्यों-ज्यों बढ़ता गया है, अधिनायकतन्त्र को त्यों-त्यों लोकतन्त्र के मुकाबले घटिया ही नहीं माना जाने लगा है वरन् उसे एक हेय शासन माना जाने लगा है, अन्यथा आदेश देने वाला चाहे राष्ट्रपति हो, चाहे प्रधानमंत्री और चाहे अधिनायक, उसकी आवश्यकता प्रत्येक प्रकार के शासन तन्त्र में होती है।

वस्तुत: अधिनायकतन्त्रीय व्यवस्थाओं का अध्ययन इतना सीमित है कि इसकी प्रकृति, इसके स्वरूप, अधिनायकों के समर्थक तत्त्व आदि के विषय में विस्तार से कुछ कहना या इनका वर्गीकरण करना कठिन है। फिर भी सामान्यत: कहा जा सकता है कि अधिनायकतन्त्र में भी राजतन्त्र की भांति राजसत्ता एक व्यक्ति में निहित होती है और शासन सत्ताधारी व्यक्ति की इच्छानुसार ही चलता है। प्राचीन प्रकार के अधिनायकतन्त्र वे अधिनायकतन्त्र होते थे, जिनमें सत्ताधारी व्यक्ति सैनिक शक्ति की सर्वोच्चता के कारण अधिनायक बन जाते थे। इस प्रकार के अधिनायकतन्त्रों में प्राय: वे सेनानायक जिन्हें सेना

का अधिक से अधिक समर्थन प्राप्त होता था, देश के शासन की सत्ता अपने हाथ में कर लेते थे और अधिनायक बन जाते थे। नैपोलियन बोनापार्ट का अधिनायकतन्त्र इसी प्रकार का अधिनायकतन्त्र था। आधुनिक युग में अधिनायक के पदारूढ़ होने की विधि की दृष्टि से अधिनायकतन्त्र का रूप बदल गया है और कुछ उदाहरणों में अब अधिनायक प्राय: उस दल के नेता बन जाते हैं, जो किसी देश विशेष का शासन हथिया लेता है। ऐसे अधिनायक इस प्रकार यद्यपि जनता अथवा कम से कम किसी दल की पसन्दगी के होते हैं, तथापि पदारूढ़ होने के बाद वे तानाशाही ढंग से ही देश के शासन का संचालन करते हैं। उनके पदारूढ़ होने का आधार पहले की भाँति सैनिक बल के साथ-साथ लोगों की पसन्द होती है। अधिनायक में राष्ट्र की सामान्य इच्छा प्रतीकात्मक रूप में निहित होती है और वही उसकी उचित अभिव्यक्ति कर सकता है। अधिनायक राज्य की सरकार का मूर्तरूप होता है और नागरिकों के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन पर उसका अधिकार अमर्यादित होता है।

अधिनायकतन्त्र के गुण :

अन्य तन्त्रों की भाँति इस तन्त्र के भी गुण-दोष हैं जिनके आधार पर उसका समर्थन और आलोचना की जाती है। उसके गुणों का विवेचन हम निम्न शीर्षकों में कर सकते हैं:

शासन की कुशलता—अधिनायकतन्त्र का पहला गुण उसकी शासन की कुशलता है। अधिनायकतन्त्र में राज्य-शक्ति एक व्यक्ति में निहित होती है। अत: उसे शासन सम्बन्धी मामलों में केवल स्वयं विचार करने की आवश्यकता होती है और परिणामस्वरूप प्रत्येक विषय में निर्णय पर पहुँचने तथा उसके बाद किये हुए निर्णय को कार्यान्वित करने में वह शीघ्रता एवं समयानुकूलता बरत सकता है। लोकतन्त्र इस प्रसंग में समय बरबाद करने वाली और विवाद करने वाली शासन-प्रणाली होती है। परन्तु अधिनायकतन्त्र में राजसत्ताधारी को शासन के मामलों में विचार-विनिमय में अनावश्यक समय बरबाद करने की अधिक आवश्यकता नहीं होती, अत: अधिनायकतन्त्र में शासन की कुशलता लोकतन्त्र की अपेक्षा उच्च स्तर की होती है।

मानव स्वभाव की अनुकूलता—अधिनायकतन्त्र के समर्थकों के अनुसार अधिनायकतन्त्र का दूसरा गुण यह है कि यह मानव स्वभाव के अनुकूल है। इसके लिये उनका प्रतिपादन है कि मनुष्य में स्वभावत: अपने हितों की रक्षा करने की इच्छा अवश्य होती है। उसका इसमें कोई मतलब नहीं होता कि वह अपने हितों की रक्षा स्वयं शासन में भाग लेकर ही करे। इसके विरुद्ध वस्तुत: अपने हितों की रक्षा वह किसी स्वामी या नायक के आश्रय द्वारा चाहता है। अपनी समस्याओं के समाधान के लिये वह कार्य चाहता है, विवाद नहीं। अधिनायकतन्त्र के अन्तर्गत साधारण मनुष्य को एक ऐसा अधिनायक मिल सकता है, जो उसके हितों की रक्षा करे। अत: कतिपय मित्रों में यह तन्त्र मानव-स्वभाव के अनुकूल समझा जाता है।

संक्रमणकालीन उपयुक्तता—कतिपय राजनीतिवैज्ञानिकों की यह भी मान्यता है कि राजनीतिक और आर्थिक विकास की संक्रमणकालीन परिस्थितियों में भी अधिनायकतन्त्र उपयोगी होता है। पश्चिम में राजनीतिक और आर्थिक विकास साथ-साथ और शनैः-शनैः हुआ है। अतः जनेच्छा की अनुशासित अभिव्यक्ति की समस्या इन देशों में उतनी प्रबल नहीं रही है, जितनी वह नवोदित राष्ट्रों में देखने को मिलती है। विकास के विभिन्न चरणों को पार करने के प्रयास में ये देश जन आकांक्षाओं को जागृत कर देते हैं और उन्हें जनतन्त्रात्मक अभिव्यक्ति भी प्रदान करने का प्रयास करते हैं। परन्तु जन आकांक्षाएँ जितनी तेजी से जागृत होती हैं, उतनी तेजी से वे उनकी पूर्ति नहीं कर पाते। फलतः राज्य-व्यवस्था पर तनाव बढ़ते हैं एवं उसके टूटने का डर रहता है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक अनुशासन बनाए रखने के लिए अधिनायकतन्त्र अधिक उपयोगी हो सकता है। हर्टिंग्टन ने इसी आधार पर यह कहा है कि नवोदित राष्ट्रों में प्रथम कार्य राजनीतिक सहभाग (Political Participation), शिक्षा आदि की वृद्धि के स्थान पर मूलभूत संस्थात्मक ढाँचे का निर्माण होना चाहिये तथा इसके लिए उसके अनुसार एकदलीय शासन या सैनिक अधिनायकतन्त्र भी उपयुक्त हो सकता है। परन्तु विकासशील देशों में हाल ही में हो रहे परिवर्तनों से स्पष्ट है कि उक्त मान्यता सही नहीं है। सभी अधिनायकतन्त्र न तो राजनीतिक स्थायित्व प्रदान कर पाये हैं और न वे द्रुत आर्थिक विकास ही कर सके हैं। इसके विपरीत जन आकांक्षाओं के दमन से राज्य व्यवस्था में तनावों की वृद्धि हुई है।

अधिनायकतन्त्र के दोष :

उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी अधिनायकतन्त्र को अब कोई विशेष महत्त्वपूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं है। इस तन्त्र के मुख्य दोष निम्न प्रकार दर्शाये जा सकते हैं:

शक्ति का अत्याचार—अधिनायकतन्त्र में सत्ताधारी की शक्ति असीमित और उसके अधिकार मर्यादित होते हैं, अतः यह आवश्यक है कि शक्ति और अधिकार की संगिनि भ्रष्टता भी उसमें पदार्पण करे। अधिनायकतन्त्र में भी अधिनायक का एक गुट होता है जिसके बलबूते पर वह शासन पर एकाधिकार रखता है। यदि कोई सुविधाएँ प्राप्त होती हैं तो केवल उस गुट के सदस्यों को ही प्राप्त होती हैं। जनसाधारण को तो उसी अत्याचार का शिकार होना पड़ता है, जिसकी उत्पत्ति असीमित शक्ति एवं अबाधित अधिकार के अस्तित्व में अवश्यमेव होती है।

व्यक्ति की उपेक्षा—अपने हितों की रक्षा के लिये अधिनायकतन्त्र का आश्रय लेने वाले व्यक्ति की अधिनायकतन्त्र में साधारणतः दुर्दशा ही होती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व की दृष्टि से यदि देखा जाये तो अधिनायकतन्त्र में व्यक्ति का तन, धन और यहाँ तक कि मन भी अधिनायक के लिये हो जाता है। परिणाम यह होता है कि अधिनायकतन्त्र में साधारण व्यक्तियों में आत्म-निर्भरता, क्रियाशीलता तथा स्वच्छता की भावना का पूर्णतः लोप हो जाता है, क्योंकि उन्हें बोलने अथवा विचारने आदि किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं मिलती। उनका केवल इतना कार्य होता है, कि वे अन्धविश्वास के साथ राज्याज्ञा का पालन करते

रहें, और अधिनायक के तोपों के गोलों के रूप में कार्य करते रहें। इस प्रकार अधिनायकतन्त्र में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं रह जाता और उसकी स्थिति उन जानवरों से अच्छी नहीं होती, जिन्हें मालिक की इच्छानुसार जिधर चाहे उधर हाँक दिया जा सकता है और जब चाहे तब काट दिया जा सकता है।

कुलीनतंत्र (Aristocracy)

कुलीनतंत्र शासन का वह प्रकार है, जिसमें राजसत्ता कुछ लोगों अर्थात् जनता के एक भाग अथवा एक श्रेणी में निहित होती है। ग्रीक-भाषा में एरिस्टोस (Aristos) का अर्थ सर्वोत्तम तथा क्रेटस (Crates) का अर्थ शक्ति होता है। अत: प्राचीन ग्रीक निवासियों के अनुसार एरिस्टोक्रेसी का अर्थ सर्वोत्तम व्यक्तियों का शासन होता है। इस तन्त्र में जो लोग शासनकर्त्ता होते हैं, वे बुद्धि, जन्म, धन, धर्म अथवा सैनिक किसी भी दृष्टि से सर्वोत्तम होते हैं।

कुलीनतन्त्र के गुण—कुलीनतन्त्र में निम्नलिखित गुण माने जाते हैं:

(1) कुलीनतन्त्र का सबसे उत्तम गुण यह है कि इसमें शासन अच्छाई पर आधारित होता है। कहा जाता है कि शासन की कला ऐसी कला है, जिसमें सभी व्यक्ति निपुण नहीं हो सकते और इसके संचालन के लिये जनता में से कुछ ही लोग उपयुक्त योग्यता वाले हो सकते हैं। चूँकि कुलीनतन्त्र में शासन ऐसे ही लोगों अथवा लोगों की श्रेणी के हाथों में होता है, जो शासन की कला में निपुण और उसके संचालन की योग्यता रखने वाले होते हैं, अत: कुलीनतन्त्र शासन की दृष्टि से सर्वोत्तम प्रकार का शासन होता है। कार्लाइल (Carlyle) के मतानुसार तो यदि बुद्धिमान लोग मूर्खों पर शासन करते हैं, तो यह मूर्खों का ऐसा सौभाग्य है जो सदा से उन्हें प्राप्त रहा है। दूसरे शब्दों में शासन की योग्यता के आधार पर कुलीनतन्त्र सबसे अच्छे शासन का प्रकार समझा जाता है। मिल (Mill) ने तो इसकी यहाँ तक प्रशंसा की है "शक्ति एवं बौद्धिक योग्यता के साथ शासन-संचालन की दृष्टि से इतिहास में यदि सरकारों ने महत्त्व प्राप्त किया है तो वे कुलीनतन्त्रीय सरकारें ही हैं।"[1]

(2) कुलीनतन्त्र में शासन-सम्बन्धी नीति में क्रमबद्धता बनी रहती है। लोकतन्त्रीय राज्यों की तरह उसमें विभिन्न दलों को शक्ति प्राप्त होने के कारण राज्य की नीति में परिवर्तन नहीं होता, अपितु इसमें शासन की नीति उन लोगों के स्थायी मत के अनुसार चलती है जो शासन में स्थायी रूप से निपुण होते हैं चूँकि नीति में बार-बार आवश्यक परिवर्तन न करने में ही राज्य की सर्वतोमुखी उन्नति सम्भव होती है। अत: इस दृष्टि से कुलीनतन्त्र उत्तम समझा जाता है।

---

1. "The governments which have beem remarkable in history for sustained mental ability and vigour in the conduct of affairs have generally been aristoracies."

—Mill : *Representative Governments*, p.45.

(3) कुलीनतन्त्र की उपयोगिता इससे भी और स्पष्ट हो जाती है कि प्राय: सभी प्रकार का शासन कार्य किसी श्रेणी विशेष के हाथों में ही रहता है। सहस्त्रों वर्ष तक राजा लोग शासन करने में समर्थ रहे, केवल इसलिय कि राज्य का कार्य चलाने के लिये किसी श्रेणी विशेष की सहायता लेते रहे। आधुनिक समय में लोकतन्त्रों में भी यद्यपि राजसत्ता सम्पूर्ण जनता में निहित मानी जाती है, परन्तु फिर भी यदि व्यावहारिक दृष्टि से देख जाए, तो इस प्रकार की शासन-प्रणाली में भी एक ऐसी विशेष श्रेणी उत्पन्न हो जाती है, जो शासन कार्य में दक्ष होती है और जो वास्तविक शासन का संचालन करती है। लोकतन्त्र में भी जब हम कुलीनतन्त्र को पूर्णत: छोड़ नहीं सकते, तो कुलीनतन्त्र की उपयोगिता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

कुलीनतन्त्र के दोष—कुलीनतन्त्रीय शासन के निम्न दोष माने जाते हैं:

(1) कुलीनतन्त्र के सत्ताधारी व्यक्ति किस प्रकार पदारूढ़ हो, इसका निर्णय सम्भव नहीं है। यदि यह माना जाय कि अमुक कुल अथवा कुलों के व्यक्तियों में शासन की योग्यता है और इसलिये शासन कार्य उन्हीं के हाथों में होना चाहिए, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि योग्यता वंशगत न होकर व्यक्तिगत होती है। इसी प्रकार यदि यह माना जाय कि शासक वे लोग हों जो विद्या अथवा धन की दृष्टि से श्रेष्ठ हों, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विद्वता अथवा धनी होने का शासन की योग्यता से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता। यह आवश्यक नहीं कि वे निपुण हों। इसी प्रकार यदि यह माना जाये कि सैनिक शक्ति की दृष्टि से श्रेष्ठ लोगों की श्रेणी के हाथ में शासन की बागडोर हो तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सैनिक दृष्टि से योग्य व्यक्ति शासन के लिए सभी दृष्टियों से योग्य हों, यह आवश्यक नहीं है। इसमें संदेह नहीं, सैनिक दृष्टि से योग्य व्यक्तियों की श्रेणी देश की रक्षा का उचित प्रबन्ध कर सकती है, परन्तु वही श्रेणी देश को सर्वतोन्मुखी उन्नति के पथ पर अग्रसर भी कर सकती हो, यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है।

(2) कुलीनतन्त्र में शासन की शक्ति जिन लोगों अथवा लोगों की श्रेणी के हाथों में रहती है, उनके द्वारा अपनी शक्ति का प्रयोग समाज-कल्याण के लिए ही किया जाएगा, इसका कोई निश्चय नहीं हो सकता। जिस प्रकार शक्ति पाकर राजा भ्रष्ट हो सकता है उसी प्रकार वह श्रेणी भी, जिसके हाथ में राजसत्ता होती है, भ्रष्ट हो सकती है और उस दशा में जनसाधारण के लिए कुलीनतन्त्र अत्यन्त दु:खदायी बन सकता है। अनुभव यह बताता है कि इस प्रकार की श्रेणियाँ सदा जनसाधारण के शोषण पर फलती-फूलती हैं और अपनी शक्ति के दर्प में उन्हें जन सामान्य की प्रगति से कोई सरोकार नहीं होता। उनका प्रयत्न वस्तुत: यह होता है कि जो शक्ति उन्हें किसी प्रकार प्राप्त हो गई है वह सदैव के लिए उनकी हो जाए और इसीलिए यदि कोई अन्य वर्ग उन्नत होने लगते हैं, तो उन्हें सत्तारुढ़ वर्ग कुचलने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार कुलीनतन्त्र का वह रूप हो जाता है जिसे अरस्तू ने ओलीगार्की (गुटतन्त्र) कहकर पुकारा है।

(3) कुलीनतन्त्रीय शासन में भी राजतन्त्र की भाँति ही शासनकार्य में जनता का कोई भाग नहीं होता। अत: जनता में राजनीतिक जागरूकता तथा नागरिक चेतना का विकास

नहीं होता और राजतन्त्र की भाँति इस प्रकार की शासन-प्रणाली में भी जनता का कर्त्तव्य अन्ध-विश्वास के साथ राजाज्ञा का पालन करना हो जाता है। कहना न होगा कि ऐसा शासन जो जनसाधारण में राज्य के प्रति लगन और नागरिकता की भावना को प्रोत्साहित नहीं कर सकता, अच्छा शासन नहीं कहा जा सकता।

(4) जनसाधारण के शासन से पृथक् रहने का एक परिणाम यह भी होता है कि देश के अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों की प्रतिभा का उपयोग नहीं हो पाता। ऐसे शासन में उत्कर्ष के अवसर उस श्रेणी के व्यक्तियों तक ही सीमित होते हैं जिनके हाथ में शक्ति होती है। अत: ऐसे अनेक व्यक्ति जिन्हें यदि अवसर मिलता, तो जगत में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाते, ऐसा करने में असमर्थ रह जाते हैं। नैपोलियन इतना चमका, अथवा हिटलर, मुसोलिनी, स्टालिन अपने देश के महान् नेता बने, तो इसीलिए कि उन्हें उनके देशों के सत्ताधारी वर्गों ने ऐसा बनने का अवसर दिया। पर साधारणत: कुलीनतन्त्र में सत्ताधारी श्रेणी जनसाधारण को पनपते हुए और उन्नति करते हुए देख नहीं सकती। अत: ऐसे शासन में जनसाधारण की प्रतिभा कुंठित हो जाती है।

लोकतंत्र

लोकतन्त्र से हमारा तात्पर्य केवल शासन के एक प्रकार से नहीं होता, अपितु राज्य व्यवस्था के साथ-साथ एक सामाजिक व्यवस्था से भी होता है। अपने अंग्रेजी पर्यायवाची डेमोक्रेसी (Democracy) के अर्थ के अनुसार लोकतन्त्र से साधारणत: हमारा तात्पर्य 'जनता की शक्ति' से होता है। ग्रीक शब्द-विधान के अनुसार 'डेमोस' (demos) तथा 'क्रेशिया' (Kratia) दो शब्दों के योग से मिलकर अँग्रेजी शब्द 'डेमोक्रेसी' बना है जिनका अर्थ क्रमश: 'जनता' तथा 'शक्ति' होता है, तथापि लोकतन्त्र के अर्थ की व्याख्या तब तक पूर्ण नहीं हो सकती, जब तक उसका अर्थ शासन, राज्य एवं समाज सम्बन्धी उन तीनों रूपों में न समझ लिया जाये, जिनमें उसकी अभिव्यक्ति होती है।

शासन के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र—शासन के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र उस शासन-प्रणाली को कहते हैं जिसमें जनता स्वयं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियों द्वारा किसी समुदाय या वर्ग विशेष के हित की दृष्टि से नहीं अपितु समष्टि रूप से जनता के हित की दृष्टि से शासन करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकतन्त्र शासन की कुछ विशेषताएँ हैं। पहली विशेषता यह है कि लोकतन्त्र शासन में जनता का प्रतिनिधित्व होता है और इस प्रकार इसका आधार दैवी न होकर लौकिक होता है। दूसरे शासन के अन्य सब प्रकारों से बढ़कर लोकतन्त्र जनता के सार्वजनिक हितों का संरक्षण करता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत जनता स्वयं अपने हितों को अपनी सरकार के संरक्षण में दे देती है और सरकार उनकी रक्षा करती है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि लोकतन्त्र में सरकार सदा एक साधन के रूप में रहती है, साध्य के रूप में नहीं। लोकतंत्र की तीसरी विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। सरकार को

जनता के हितों की रक्षा और उसकी उन्नति सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य का पालन आवश्यक रूप से करना चाहिये अन्यथा उसे उसी जनता द्वारा पद से हटाया जा सकता है, जिसके द्वारा वह पद पर बैठायी जाती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शासन के प्रकार के रूप में जनता द्वारा ही लोकतन्त्रीय सरकार को अस्तित्व में लाया जाता है, उसके ही हितों की वह रक्षा करती है और उसकी इच्छानुसार ही वह पदासीन रहती है।

लोकतन्त्रात्मक शासन की परिभाषा विभिन्न राजनीतिक विचारकों ने विभिन्न प्रकार से की है। प्राचीन ग्रीक विद्वानों के अनुसार लोकतन्त्र शासन का वह प्रकार है जिसमें बहुतों का शासन हो। अरस्तू के अनुसार लोकतन्त्रीय शासन विकृत-तन्त्र होता है और इस प्रकार के शासन को उन्होंने पोलिटी का विकृत रूप माना है। लार्ड ब्राइस के मतानुसार लोकतन्त्र शासन का वह प्रकार होता है, जिसमें राज्य के शासन की शक्ति किसी विशेष वर्ग अथवा वर्गों में निहित न होकर सम्पूर्ण समाज के सदस्यों में निहित होती है।''[1] **सीले** के अनुसार, लोकतन्त्रीय शासन वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का भाग होता हो।''[2] **डायसी** के अनुसार, ''लोकतन्त्र शासन का वह प्रकार है, जिसमें शासन समुदाय सम्पूर्ण राष्ट्र का अपेक्षाकृत एक बड़ा भाग हो।''[3] सबसे अधिक उद्धृत की जाने वाली **अब्राहम लिंकन** की परिभाषा यह है कि ''लोकतंत्र वह शासन है जिसमें शासन जनता का, जनता के लिये और जनता के द्वारा हो।''[4]

परन्तु उपर्युक्त परिभाषाएँ अत्यन्त संक्षिप्त हैं और वे शासन के रूप में लोकतन्त्र के स्तर को स्पष्ट नहीं करतीं। उनमें से अधिकतर प्रभुत्व-शक्ति के आश्रय को दृष्टि में रखकर की गई है। प्रभुत्व-शक्ति वस्तुतः किसी भी राज्य का एक तत्त्व होती है, जबकि लोकतन्त्री शासन प्रभुत्व-शक्ति न होकर प्रतिनिध्यात्मक सूत्र द्वारा लोकहित के लिये प्रभुत्व-शक्ति के प्रयोग की विधि है। प्रोफेसर पुन्ताम्बेकर की लोकतन्त्र की परिभाषा अधिक सफल है और उससे शासन के रूप में लोकतन्त्र का स्वरूप अधिक स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने कहा है कि लोकतन्त्र शासन का वह रूप है, जिसमें ''जनसमाज स्वयं एक निश्चित तथा प्रबन्धोचित रूप धारण कर लेता है। उसकी इच्छा तथा अधिकार को क्रियान्वित करने के

---

1. "Democracy is that form of government in which the ruling power of the State is vested not in a particular class or classes but in the members of the community as a whole."
—Bryce : *Modern Democracies*, Vol. I. p. 20.
2. "Democracy is a government in which every one has a share."
—Seeley : *Introduction to Political Science*, p. 324.
3. "Democracy is a form of government in which governing body is comparatively a large fraction of the entire nation."
—Dicey : *Law and Opinion in England*, pp. 545-52.
4. "Democracy is a government of people, for the people, and by the people."
—Abraham Lincoln.

लिए उसका एक संगठन होता है। यद्यपि वह संगठन जनता की अल्प संख्या के हाथों में होता है। तथापि वह अल्पसंख्या जनता का प्रतिनिधित्व करती है, उसके द्वारा निर्वाचित की जाती है तथा उसी के द्वारा अपदस्थ भी की जा सकती है। उसके अपने कोई अधिकार नहीं होते। उसका अस्तित्व ही बहुसंख्यक के लिए होता है, उसी में से वह उत्पन्न होती है और उसी का वह प्रतिरूप होती है। वह शासन इसीलिये करती है कि उसे बहुसंख्या का समर्थन और सहमति प्राप्त है।"[1]

राज्य के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र—राज्य के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र का तात्पर्य उस राज्य से होता है जिसमें प्रभुत्व-शक्ति जनता में निहित होती है और उसका उपयोग वह अपनी इच्छा की सरकार के रूप में निर्धारण, निर्वाचन और राजनीतिक मामलों पर अपना अन्तिम नियन्त्रण रखके करती है। जैसा **हर्नशा** ने कहा है "संक्षेप में लोकतन्त्र राज्य साधारणत: वह है, जिसमें प्रभुत्व-शक्ति समष्टि रूप में जनता के हाथ में रहती है, जिसमें जनता शासन सम्बन्धी मामले पर अपना अन्तिम नियन्त्रण रखती है तथा यह निर्धारित करती है कि राज्य में किस प्रकार का शासन सूत्र स्थापित किया जाये। राज्य के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र शासन की ही एक विधि नहीं है, अपितु वह सरकार को नियुक्ति करने, उस पर नियन्त्रण करने तथा उसे अपदस्थ करने की विधि भी है।"[2]

समाज के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र—समाज के प्रकार के रूप में लोकतन्त्र से उस समाज व्यवस्था का बोध होता है, जिसमें प्रत्येक मानव का मूल्य किसी भी अन्य मानव के मूल्य के बराबर समझा जाता है, सब व्यक्ति समान समझे जाते हैं और इसलिये सब व्यक्ति जाति, रंग, लिंग, सम्पत्ति अथवा धर्म के भेद बिना समान अधिकार एवं अवसर का उपभोग करते हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व के मूल्य की समानता लोकतन्त्र समाज का आधार है। जैसा **डाक्टर बेनीप्रसाद** ने कहा है, "यह जीवन का एक ढंग है। यह इस मान्यता पर

---

1. "Democracy is that form of government in whcih "community itself is given a definite and manageable form and organization to execute its will and authority. Though it may be in the hands of a minority, that minority represents the people, is elected by the people and is removable by the people. It has no rights of its own. It exists for the majority, is born of it and embodies it. It governs only because it is backed and approved by the majority."
—Prof. Puntambekar : *Introduction to Civics and Politics*, p. 101.
2. "A democratic state, in short, in simply one in which the community as whole posseses sovereign authority, maintains ultimate control over affairs, and Determines what sort of governmental machinery shall be set up .... Democracy as a form of state is not merely a mode of government but is merely a mode of appointing, controlling and dismissing a government."
—Hearnshaw : *Democracy at the Crossways*, pp. 17 and 22.

आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति का सुख किसी भी अन्य व्यक्ति के सुख के बराबर महत्वपूर्ण है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधन मात्र नहीं समझा जा सकता।"[1] इस प्रकार मनुष्य का भौतिक एवं सामाजिक साम्य लोकतन्त्री समाज का लक्ष्य है। डाक्टर **हर्नशा** के अनुसार भी "लोकतन्त्री समाज वह है जिसमें समानता के विचार की प्रबलता हो तथा जिसमें समानता का सिद्धान्त प्रचलित हो।"[2] वस्तुत: आदर्श लोकतन्त्री समाज में मानव-जीवन के सभी पहलुओं में समानता होनी चाहिये तथा जैसा **डायसी** ने कहा है "लोकतन्त्र वह समाज है जिसमें अधिकारों की साधारणत: समानता तथा अवसर की, विचारों की, भावनाओं की तथा आदर्श की एकरूपता पाई जाती हो।"[3]

लोकतन्त्र की अवधारणा के बारे में पुनर्विचार :

लोकतन्त्र के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि लोकतन्त्र एक विशद् एवं महत्वाकांक्षी विचार है तथा उसका आदर्श क्रियान्वय तभी समझा जा सकता है जब उसकी प्रतीति समाज, राज्य एवं शासन की सरंचनाओं में पूरी तरह से हो। लोकतन्त्र का आदर्श इस कारण वस्तुत: इतना दुरूह है कि उसका यथार्थ कहीं भी प्राय: उसके आदर्श के पूर्णत: अनुकूल नहीं हो पाता। पर इसके बावजूद भी लोकतन्त्र का विचार इतना अधिक लोकप्रिय है कि सभी शासन अपने को किसी न किसी रूप में लोकतन्त्रीय बनाना या कहना अवश्य चाहते हैं। लोकतन्त्रीय न होना अब वस्तुत: इतना हेय समझा जाता है कि कोई भी व्यक्ति या शासन अपने को अलोकतन्त्रीय कहने का साहस नहीं कर सकता। यह प्रवृत्ति अब विश्वव्यापी हो गई है तथा संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक सामाजिक संस्कृतिक संगठन (United Nations Educational Social and Cultural Organization) के 1949 के उस प्रतिवेदन से भी इस बात की पुष्टि होती है, जिसमें कहा गया है कि 'विश्व के इतिहास में पहली बार यह हुआ है कि कोई भी सिद्धान्त अब लोकतन्त्र विरोधी सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता। लोकतन्त्र विरोधी कृत्यों या दृष्टिकोण के लिए दूसरों के विरुद्ध बहुधा आरोप लगाया जाता है, पर अपने द्वारा संरक्षित संस्थाओं एवं समर्थित सिद्धान्तों में लोकतन्त्रीय तत्त्वों का अस्तित्व मानने के लिए व्यवहार कुशल राजनीतिज्ञ एवं राजनीति सिद्धान्तशास्त्री

---

1. "It is .... a way of life. It proceeds on the axiom that the happiness of every person counts for as much as the happiness of any one else and that no body is to be regarded as a mere means to the happiness of others."

   —Dr. Beni Prasad : *A. B. C. of Civices*, p. 102.

2. "Democratic society is merely one in which the spirit of equality is strong and in which the principle of equality prevails."

   —Hearnshaw : *op. cit.*, p. 26.

3. "Democratic society is one in which there exists a general equality of rights and a similarity of conditions, of thoughts, of sentiments, and of ideas." —Dicey : *Law and Opinion in England*, p. 50.

एक मत हैं।'[1] कोई भी कार्य जो किसी न किसी प्रकार से लोकतन्त्र से सम्बद्ध हो, अब संसार पसन्द नहीं करता और अब यदि युद्ध भी लड़े जाते हैं तो वे लोकतन्त्र की रक्षा के नाम पर लड़े जाते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध इसी नारे पर लड़ा गया था कि विश्व में लोकतन्त्र को अक्षुण बनाये रखना है। लोकतन्त्र का नारा अब वस्तुत: प्रत्येक शासन व्यवस्था की वैधता नापने का आधार बन गया है तथा संविधान, विधायिका व निर्वाचन उसके प्रतीक हो गये हैं। इस सब का परिणाम यह हुआ है कि उनका आन्तरिक रूप चाहे कुछ भी हो, सभी तन्त्र संविधान, विधायिका व निर्वाचन की व्यवस्थाओं को अपनाकर अपने को लोकतन्त्र सिद्ध करने का दावा करते हैं और यही कारण है कि जनवादी गणतन्त्रीय लोकतन्त्र (People's Republican Democracy), बुनियादी लोकतन्त्र (Basic Democracy), नियमित लोकतन्त्र (Controlled Democracy) आदि लोकतन्त्र के अनेक नाम व रूप अस्तित्व में आ गये हैं।

इस प्रसंग में जहाँ तक व्यक्तिवादी लोकतन्त्र का प्रश्न है यह लोकतन्त्र का एक ऐसा प्रकार है जो प्राचीनतम है तथा जिसके उदाहरण के रूप में हम इंग्लैण्ड अमेरिका, फ्रांस आदि के उन लोकतन्त्रों को ले सकते हैं जिन्हें सामूहिक रूप से पश्चिमी लोकतन्त्र कहा जाता है। लोकतन्त्र के इस प्रकार की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें व्यक्ति के रूप में उसके व्यक्तित्व को अधिक महत्त्व दिया जाता है तथा निर्वाचन के माध्यम से व्यक्तियों के बहुमत की इच्छा की अभिव्यक्ति के अनुसार शासन का जो भी रूप बने उसे मान्य समझा जाता है।

लोकतन्त्र का दूसरा प्रकार साम्यवादी या समाजवादी लोकतन्त्र का है जिसके उदाहरण के रूप में हम पूर्व सोवियत रूस, चीनी जनगणतन्त्र आदि साम्यवादी देशों के शासनों को ले सकते हैं। इन शासनों का मुख्य आधार मार्क्स के विचारों पर आधारित साम्यवाद है, जिसके अनुसार पश्चिमी लोकतन्त्रों की शासन-व्यवस्था लोकतन्त्र के नाम पर कलंक है, क्योंकि उस व्यवस्था में शासन पर केवल साधन सम्पन्न वर्ग का नियन्त्रण होने के कारण शासनतन्त्र—विधि निर्माण, सेना व पुलिस का प्रयोग उसी वर्ग के हितों के पोषण के लिये किया जाता है। अत: उनकी मान्यता है कि साधन सम्पन्न वर्ग के साधन के रूप में शासन व्यवस्था का प्रयोग किया जाना बन्द हो और उसका प्रयोग एक ऐसे समाज के हित साधन के लिये हो जो वर्ग रहित हो। इसके लिये उनके द्वारा प्रतिपादित लोकतन्त्रीय शासन की

---

1. "For the first time in the History of the world, no doctrines are advanced as anti-democratic. The accusation of anti-democratic action or attitude is frequently directed against others, but practical politicians and political theorists agree in stressing the democratic element in the institutions they defend and theories they advocate."

—Richard Mckeon (ed.) : *Democracy in a World of Tension-Symposium prepared by UNESCO,* Quoted by G. Sartori, *Democratic Theory,* pp. 8-9.

स्थापना आवश्यक है तथा वही उनके मतानुसार सच्चा लोकतन्त्र है, क्योंकि ऐसी दशा में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में जब यह वर्ग समाप्त कर दिया जाता है, तो शोषण के साधन के रूप में राज्य का अन्त हो जाता है और सच्चे जनतन्त्र का उदय होता है। आर्थिक व्यवस्था व शासन के रूप के अनुसार उसकी मान्यता के अनुरूप ऐसे शासन को सच्चा लोकतन्त्र कहा जा सकता है, क्योंकि इनकी व्यवस्था में सबकी स्थिति समानता की होती है, सबको जीवन-यापन का समान अधिकार प्राप्त होता है तथा सब शोषण से मुक्त होते हैं। यह ठीक है कि पश्चिम के लोकतन्त्रों के समर्थक इस प्रकार के लोकतन्त्र के विरुद्ध बहुधा यह आरोप लगाते हैं कि इस व्यवस्था में व्यक्ति के व्यक्तित्व की महत्ता नहीं रहती, पर इस व्यवस्था के समर्थकों की दृष्टि में यह आरोप सारहीन है, क्योंकि उनके अनुसार किसी भी व्यवस्था के लोकतन्त्रीय होने या न होने की कसौटी यह होनी चाहिये कि उसका व्यवस्था के प्रति जनसाधारण अनुरक्त है या विरक्त। उनके मतानुसार उनके द्वारा प्रतिपादित लोकतन्त्रीय शासन व्यवस्था के प्रति चूँकि सम्पूर्ण जनता पूर्ण रूप से अनुरक्त रहती है, अत: वह सच्ची लोकतन्त्रीय व्यवस्था है।

पश्चिम प्रकार के लोकतन्त्र तथा साम्यवादी लोकतन्त्र के जिन दो प्रमुख रूपों की चर्चा ऊपर की गई है, उनके बीच की स्थिति के भी लोकतन्त्र के अनेक नाम व रूप बन गये हैं। लोकतन्त्र के ऐसे रूपों में ही वे नाम व रूप आते हैं जिन्हें बुनियादी लोकतन्त्र, निर्देशित लोकतन्त्र या नियन्त्रित लोकतन्त्र की संज्ञायें दी जाती हैं। इन प्रकारों के लोकतन्त्रों के रूप में हम उन नवोदित राष्ट्रों की शासन व्यवस्थाओं को ले सकते हैं जिनकी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक स्थिति तथा जिनकी जनता के बौद्धिक स्तर के कारण पश्चिमी व साम्यवादी दोनों ही प्रकार के लोकतन्त्र उपयुक्त सिद्ध नहीं होते तथा जिनमें लोकतन्त्र का क्रियान्वय जनमत की सीमित, निर्देशित अथवा नियन्त्रित अभिव्यक्ति के आधार पर होता है। पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब द्वारा बुनियादी लोकतन्त्र के नाम से प्रतिपादित शासन एक से ही लोकतन्त्रीय शासन का रूप था, क्योंकि उसके अन्तर्गत लोकतन्त्र का संचालन सामान्य जनता से पृथक् किसी अन्य सत्ता के निर्देशन या नियन्त्रण में होता था। इण्डोनेशिया व घाना जैसी शासन व्यवस्थाओं को भी न्यूनाधिक इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। ऐसे शासनों के विषयों में यह कहा जाता है कि वे लोकतन्त्र न होकर अधिनायकतन्त्र होते हैं, पर इनके शासक और अध्येता इसका स्पष्टीकरण यह कह कर देते हैं कि पश्चिमी की लोकतान्त्रिक व्यवस्था उनके अनुकूल नहीं है, क्योंकि पश्चिम में आर्थिक व राजनीतिक विकास शनैः-शनैः हुआ है, जबकि उनके विकासशील देशों में आर्थिक विकास की गति को धीमा नहीं रखा जा सकता तथा इसके लिये यह आवश्यक है कि लोकतन्त्र निर्देशित व नियन्त्रित हो।

इस प्रकार शासन के अनेक रूप अपना लोकतन्त्रीय होने का दावा करते हैं। ऐसी स्थिति में कुछ राजनीतिविज्ञानी इस मत के भी हो गये हैं जिनके अनुसार किसी शासन के लोकतन्त्रीय होने के दावे को चुनौती नहीं दी जा सकती। मौरिस क्रैस्टन ऐसे ही विचारकों में से हैं तथा उसने इस सम्बन्ध में यहाँ तक मत व्यक्त किया है कि "भिन्न-भिन्न लोगों के

मस्तिष्कों में पाये जाने वाले विविध प्रकार के सभी विचार''[1] लोकतन्त्र के अन्तर्गत आ जाते हैं। लोकतन्त्र वस्तुत: क्या है, यह अब इतना विवादग्रस्त बन गया है कि अनेक विचारक लोकतन्त्र की अवधारणा का पुन: विचार किये जाने की आवश्यकता अनुभव करने लगे हैं, जिससे उसकी परिभाषा विविध नाम व रूपों को दृष्टिगत रखते हुए की जा सके जो अब उसने धारण कर लिये हैं। अनेक प्रकार की शासन व्यवस्थाओं द्वारा अपनी-अपनी व्यवस्थाओं के लोकतन्त्रीय होने के दावों की विविधता के अतिरिक्त एक और कारण से भी लोकतन्त्र के स्वरूप व परिभाषा पर पुनर्विचार आवश्यक हो गया है तथा वह कारण राजनीति-विज्ञान के अध्ययन में व्यवहारवादी मार्ग (Behavioural Approach) का विकास है। व्यवहारवादियों का मत है कि प्रत्येक विचार एवं अवधारणा की परिभाषा उसके व्यावहारिक स्वरूप से मेल खानी चाहिये तथा इसी आधार पर उन्होंने लोकतन्त्र की अवधारणा को भी व्यावहारिक कसौटी पर कसने का प्रयास किया है। ऐसे प्रयास करने वालों में रोबर्ट डहल का नाम उल्लेखनीय है। डहल के अनुसार लोकतंत्र की वास्तविकताओं को दृष्टिगत रखकर उसके लिए 'लोकतन्त्र' शब्द का प्रयोग अनुपयुक्त है क्योंकि जनता न तो स्वयं कहीं भी शासन में भाग लेती है और न उसे शासन सम्बन्धी बातों में विशेष रुचि ही होती है। निर्वाचक को लोकतन्त्र की आधारशिला माना जाता है। पर डाहल के अनुसार निर्वाचन से ही जनता की सही इच्छा मालूम नहीं हो सकती, क्योंकि उसके मतानुसार चुनाव जीतने के लिये लड़े जाते हैं। जनता की इच्छा मालूम करने के लिए नहीं। निर्वाचन की उपयोगिता के सम्बन्ध में डहल ने कहा है कि "चुनावों से हमारी अपेक्षा यह होती है कि उनसे कुछ निश्चित मसलों के सम्बन्ध में बहुमत की इच्छा' अथवा 'वरीयता' का पता लग सकेगा। पर चुनावों से ऐसा बहुत कम होता है।''[2] उनके मतानुसार "चुनावों से अधिक से अधिक यह पता चल जाता है कि पद के लिए चुनाव लड़ने वालों में से कुछ नागरिकों की पहलो वरीयता किसे प्राप्त है।''[3] फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसकी दृष्टि में निर्वाचन की कोई उपयोगिता ही न हो। इस सम्बन्ध में उसने यह स्वीकार किया है कि इन कमियों के बावजूद निर्वाचन व्यवस्था के द्वारा शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना काफी सीमा तक कम की जा सकती है। लोकतन्त्र की व्यवस्था में से यदि निर्वाचन को निकाल दिया जाये, तो प्रतियोगिता केवल नेताओं व उनके गुटों के बीच रह जायेगी और वे सामान्य जनता की उपेक्षा किसी सीमा तक कर सकेंगे, क्योंकि उन्हें कभी भी जनता के समक्ष मत माँगने के लिए उपस्थित

---

1. See Maurice Cranston's *Freedom*, A New Analysis (London, 1953), p. 113 wherein he holds that "democracy is nothing but different doctrines in different people's minds."
2. "We expect elections to reveal the 'will' or the preferences of a majority on a set of issues. This is the elections rarely do.......

—Robert Dahl : *A Preface To Democratic Theory* (Chicago, 1956) p.125.

3. "All an election reveals is the first preference of some citizens among the candidates standing for office."

—*Ibid*, p. 131.

नहीं होना पड़ेगा। एक निश्चित अवधि के बाद निर्वाचन की व्यवस्था के कारण नेताओं व गुटों को जनता की परवाह करनी पड़ती है तथा उस का दमन या उपेक्षा किसी भी समूह के लिए सम्भव नहीं होता। इस प्रकार निश्चित अवधि के बाद निर्वाचन की व्यवस्था के कारण वैकल्पिक शासन की स्थापना का भय सत्तारुढ़ शासन को सदा बना रहता है और वह स्वेच्छाचारिता का व्यवहार नहीं कर सकता। इसमें सन्देह नहीं कि निर्वाचन के समय मत प्रयोग के द्वारा जनता अपने राजनीतिक अधिकार का ही प्रयोग करती है, पर इस व्यवस्था की पुनरावृत्ति होते रहने के कारण उसकी स्थिति ऐसी बन जाती है कि आर्थिक दृष्टि से भी उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती तथा साधनों के वितरण में उसे बिल्कुल भुलाया नहीं जा सकता। निर्वाचन की व्यवस्था द्वारा इस प्रकार सामाजिक समानता की रक्षा किसी न किसी रूप में अवश्य होती है तथा यही कारण है कि इस व्यवस्था को लोकतन्त्र के प्राय: प्रत्येक रूप में अपनाया जाता है।

पर इस सब के होते हुए भी डहल का मत है कि लोकतन्त्र का व्यावहारिक रूप ऐसा नहीं है जिसमें तन्त्र (शासन) पूर्णत: लोक (जनता) की इच्छा के अनुसार ही चलता हो। उसका मत इस सम्बन्ध में यह है कि लोकतन्त्र के व्यावहारिक रूप में शासन जनता की समष्टि की इच्छा के अनुसार न होकर अनेक समूहों में विभक्त जनता की इच्छा के अनुसार होता है। दूसरे शब्दों में उसमें वास्तविक महत्त्व जनता की समष्टि को प्राप्त न होकर उसके विविध समूहों को प्राप्त होता है। अत: डहल का मत है कि लोकतन्त्र को लोकतन्त्र न कहा जाकर बहुलतन्त्र (Polyarchy) कहा जाना चाहिए। पर इस तथ्य को मानते हुए भी कि व्यवहार में लोकतन्त्र लोकतन्त्र न होकर बहुलतन्त्र होता है, डहल ने यह माना है कि विविध समूहों की प्रतियोगिता के कारण राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक साधन सबके बीच बिखरे रहते हैं। उसके अनुसार इस प्रकार चूँकि ऐसे लोकतन्त्र में भी समानता प्राय: बनी रहती है, अत: उसका मत है कि इसे अधिक से अधिक समतावादी बहुलतन्त्र (Equalitarian Polyarchy) कहा जा सकता है। इस प्रकार डहल के विचारों को हम यदि व्यवहारवादियों के प्रतिनिधि विचार मान लें तो उनके अनुसार लोकतन्त्र की परिभाषा उसकी परम्परात्मक अवधारणा के रूप में न की जाकर बहुलतन्त्रीय अवधारणा के रूप में की जानी चाहिए। नवीन बहुलवादियों ने भी इस सम्बन्ध में ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं तथा उन्होंने भी समूहों की ही महत्ता का प्रतिपादन किया है।

व्यवहारवादियों व नव बहुलवादियों के ये विचार इस दृष्टि से आलोच्य हैं कि वे लोकतन्त्र के व्यावहारिक रूप का प्रतिपादन उसके आदर्श का बलिदान करके करना चाहते हैं। ग्योवानी सार्तोरी ने ऐसा ही विचार व्यक्त किया है तथा व्यवहारवादियों व नव बहुलवादियों की इस मान्यता को हेय बताया है कि लोकतन्त्र का आदर्श स्वरूप यदि व्यवहार में दृष्टव्य नहीं है, तो जो व्यवहार में है उसे ही लोकतन्त्र मान लिया जाए। वस्तुत: राजनीति और राज्य व्यवस्था के विषय में यह दृष्टिकोण लोकतन्त्र के केवल वर्णनात्मक (Descriptive) अभिप्राय की दृष्टि से सही है। लोकतन्त्र का एक अन्य अभिप्राय विनिधानात्मक (Prescriptive) भी होता है। सार्तोरी के अनुसार लोकतन्त्र के व्यावहारिक रूप पर विचार करते

समय यह अभिप्राय नव बहुलवादियों द्वारा दृष्टि से ओझल कर दिया जाता है सार्तोरी की मान्यता है कि मनुष्य केवल पेटू ही नहीं है। वह कमाने-खाने के लिए ही पैदा नहीं होता है। अपने व्यक्तित्व का सर्वतोन्मुखी विकास, श्रेष्ठतर जीवन की प्राप्ति और भय मुक्त होकर अपनी प्रतिभाओं की पूर्ण अभिव्यक्ति आदि उसके जीवन के लक्ष्य होते हैं। लोकतन्त्र एक ऐसी शासन व्यवस्था है, जिसमें इनकी प्राप्ति की सम्भावना सबसे अधिक होती है। अतः लोकतन्त्र अथवा उसके आदर्श अभिप्राय को यदि केवल इसलिए बदल दिया जाये कि उसके आदर्श को व्यवहार में प्राप्त नहीं किया जा सकता, तो उसका अर्थ यह होगा कि हम इन लक्ष्यों को नकार रहे हैं। इस संबंध में मार्क्सवादियों के विचारों की आलोचना का आधार भी यही है कि वे मनुष्य को उपभोक्ता मात्र मान लेते हैं और उसी के आधार पर अपने वर्ग रहित आदर्श समाज का चित्रण करते हैं, यद्यपि उनके द्वारा चित्रित आदर्श समाज का वह चित्र अत्यन्त अतिरंजित और काल्पनिक जैसा है।

इस प्रकार सार्तोरी के अनुसार इस आधार पर लोकतन्त्र को नये संदर्भ में देखने की आवश्यकता नहीं है कि उसका व्यवहार उसके आदर्श से मेल नहीं खाता। फिर भी वे इस बात पर बल देते हैं कि यूनानी भाषा से उत्पन्न इस शब्द का जो अर्थ यूनानी नगर राज्यों के समय में रहा था, वह अब नहीं रहा है। नगर राज्यों में जनसंख्या कम होने से जनता के बीच अनौपचारिक सम्बन्धों व सामुदायिक भावना का विकास सरलता से हो जाता था तथा उसका रूप सामान्य हितों से सम्बद्ध एक इकाई का हो जाता था। परिणामस्वरूप उस समय लोकतन्त्र का संचालन लोक (जनता) के द्वारा सम्भव था। परन्तु आज के औद्योगिक व विशाल राज्यों के युग में सम्बन्धों की औपचारिकता तथा व्यवस्थात्मक जटिलताओं के कारण जनता का रूप अब 'जन' (People) का न होकर जनपुंज (Mass) का हो गया है। फलतः शासक में उस प्रकार उसके स्वयं के भाग लेने की लोकतन्त्र की कल्पना अब अप्रासंगिक हो गई है, जिस प्रकार वह नगर राज्यों में सम्भव थी या जैसी कल्पना इस सम्बन्ध में रूसो ने की थी। अब स्थिति इस प्रकार की है कि निर्वाचन द्वारा निर्मित प्रतिनिधि संस्थाओं एवं अन्य औपचारिक संगठनों के माध्यम से ही वह लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है, जो यूनान के नगर राज्यों के समय में जनता द्वारा शासन में प्रत्यक्ष भाग लेने की व्यवस्था द्वारा प्राप्त किया जा सकता था। पर यह परिवर्तन लोकतन्त्र के क्रियान्वयन के साधनों के सम्बन्ध में ही हुआ है। इससे उसके उस मूल उद्देश्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, जिसका सम्बन्ध राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक समानता के आधार पर मनुष्य के जीवन के सर्वतोन्मुखी विकास से अब भी उतना ही है जितना वह नगर राज्यों के समय में था। दूसरे शब्दों में साधनों के परिवर्तन से लोकतन्त्र के उद्देश्य व उसके रूप में कोई परिवर्तन हुआ नहीं माना जाना चाहिए तथा क्रियान्वयन के साधन किसी भी राजनीतिक वाद के अनुकूल हों, लोकतन्त्र के सभी रूपों को लोकतन्त्रीय माना जाना चाहिए, यदि वे लोकतन्त्र के उद्देश्य की सिद्धि करने में समर्थ हों। लोकतन्त्र के क्रियान्वयन के साधन जिस प्रकार अब तक बदले हैं, आगे भी बदल सकते हैं, पर उसका उद्देश्य ऐसा है जो शाश्वत है। शासन का लोकतन्त्रीय रूप ही वस्तुतः उन शासनों की व्यवस्थाओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में

अस्तित्व में आया था जो लोक कल्याण की साधना करने में असफल रहे थे तथा उसके विविध रूप भी इसीलिए बने या बने रहे हैं कि उससे लोक कल्याण सम्बन्धी उसके उद्देश्य की पूर्ति होती रहे। लोकतन्त्र की व्यवस्था का उद्देश्य मनुष्य के लिए श्रेष्ठ मानव जीवन को सुलभ बनाना है तथा उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये व्यक्ति की स्वच्छंदता के स्थान पर किसी लोकतन्त्र द्वारा यदि व्यवस्थित स्वतन्त्रता, नियमित जीवन, नियन्त्रित अर्थव्यवस्था आदि जैसी व्यवस्थाएँ की जाती हैं, तो इससे लोकतन्त्र के लोकतन्त्रीय स्वरूप पर उस समय तक कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता, जब तक इस प्रकार की व्यवस्थाओं से लोक कल्याण की साधना होती रहती है। अत: उद्देश्य की सिद्धि के आधार पर लोकतन्त्र के स्वरूप के निर्धारण किये जाने का उक्त विचार यदि स्वीकार कर लिया जाता है, तो लोकतन्त्र के विचार व लोकतन्त्र के व्यवहार के बीच एक ऐसा सेतु बन जाता है, जिसके माध्यम से विचार व व्यवहार सदा सरलता से एक-दूसरे से मिल सकते हैं तथा लोकतन्त्र के स्वरूप पर पुनर्विचार की समस्या का स्थायी समाधान भी हो जाता है।

लोकतन्त्री शासन के भेद :

साधारणत: लोकतन्त्री शासन के दो भेद माने गये हैं: प्रथम, शुद्ध या प्रत्यक्ष (Pure or direct) लोकतन्त्र; द्वितीय, प्रतिनिध्यात्मक अथवा परोक्ष (Representative or Indirect) लोकतन्त्र।

प्रत्यक्ष लोकतन्त्र—जब प्रभुसत्तावान जनता प्रत्यक्ष रूप से सार्वजनिक मामलों में भाग लेती है, नीति निर्धारित करती है और कानून बनाती है, तो उसे हम प्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहते हैं। शासन के इस प्रकार राज्य की इच्छा का निर्माण और प्रकटीकरण प्रभुसत्तावान जनता द्वारा सार्वजनिक सभाओं में किया जाता है। वहाँ जनता के लोग इसके लिए जब आवश्यकता होती है तब इकट्ठे होते हैं। **हर्नशा** जैसे विचारकों के अनुसार तो "शुद्ध रूप में लोकतन्त्री शासन वह शासन होता है, जिसमें सम्पूर्ण जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से बिना कार्यवाहकों या प्रतिनिधियों के प्रभुसत्ता का प्रयोग करती है।"[1] इस प्रकार के प्रत्यक्ष लोकतन्त्री शासन का रूप उन्हीं राज्यों में सम्भव हो सकता है, जिनका आकार बहुत छोटा होता है तथा जिनकी जनता के लिए यह सम्भव होता है कि वह समय-समय पर राज्यसभा में एकत्रित हो सके और शासन सम्बन्धी निर्णय दे सके। यद्यपि आजकल इस प्रकार के शासन वाले राज्य नहीं रहे हैं फिर भी प्राचीनकाल में ऐसे अनेक राज्य हुए हैं। प्राचीन ग्रीक नगर राज्य अधिकतर इसी प्रकार के प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के उदाहरण थे। भारत में भी वज्जिसंघ में प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक शासन प्रचलित था। आधुनिक काल में भी कुछ प्रदेशों में ऐसे शासन विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ, अपनजिल, ऊरी, उन्टकबाल्डन तथा ग्लारस ये चार कैन्टन स्विट्जरलैंड में अब भी ऐसे हैं, जिनमें प्रत्यक्ष लोकतन्त्र है और जिनमें वहाँ के सब नागरिक

1. "A democratic form of government, in the strict sense of the term is one in which the community as a whole, directly and immediately, without agents of representatives, performs the function of sovereignty."
Hearnshaw : *Democracy at Crossways,* p. 13.

एकत्रित होकर शासन सम्बन्धी कार्य करते हैं। इस प्रकार छोटे राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र सम्भव हो ही सकता है, बड़े राज्यों में भी आधार रूप से अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र होते हुए, ऐसी व्यवस्था की जाती है कि शासन सम्बन्धी कुछ विषयों अथवा नीति-निर्धारण एवं व्यवस्था में जनता प्रत्यक्ष रूप से भाग ले सके। लोकमत जानने की कुछ पद्धतियों द्वारा ऐसा सम्भव होता है। इन पद्धतियों को हम लोकनिर्णय (Referendum), आरम्भिक (Initiative) तथा प्रत्याह्वाहन (Recall) कहते हैं।

लोकनिर्णय (Referendum) —किसी कानून अथवा निर्णय को जनता की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करने की क्रिया लोकनिर्णय अथवा रेफरेन्डम कहलाती है। साधारणत: इसका प्रयोग शासकीय आज्ञाओं अथवा निर्णयों की स्वीकृति के लिए नहीं, अपितु कानूनों की स्वीकृति के लिए किया जाता है। लोकनिर्णय दो प्रकार का होता है—अनिवार्य और ऐच्छिक। जिन राज्यों में समस्त अथवा कतिपय कानूनों के विषय में ऐसी व्यवस्था होती है कि कानून क्रियान्वित होने से पहले जनता की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किये भी जा सकते हैं और नहीं भी, अथवा यों कहना चाहिए कि कुछ विशिष्ट कानून ही जनमत के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं, तो वहाँ ऐच्छिक लोकनिर्णय की व्यवस्था समझी जाती है। जिन राज्यों में ऐसी व्यवस्था होती है कि कानून जनता की स्वीकृति के लिये प्रस्तुत किये भी जा सकते हैं और नहीं भी, अथवा यों कहना चाहिये कि कुछ विशिष्ट कानून ही जनमत के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं, तो वहाँ दोनों प्रकार के लोकनिर्णय के रूपों को समझने के लिए हम स्विट्जरलैण्ड में प्रचलित संवैधानिक कानून तथा साधारण कानूनों से संबंधित जनमत-संग्रह की व्यवस्था को ले सकते हैं। वहाँ समस्त संवैधानिक कानूनों के विषय में यह व्यवस्था है कि संविधान का भाग बनने से पहले प्रत्येक ऐसा कानून जनता के समक्ष स्वीकृति के लिए रखा जाये। साधारण कानून के विषय में वहाँ यह व्यवस्था है कि केवल वे कानून जिनके विषय में तीस हजार नागरिक अथवा आठ कैन्टनों के प्रतिनिधि चाहें, जनता की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किये जाने चाहिए। इस प्रकार साधारण कानून के विषय में वहाँ ऐच्छिक लोकनिर्णय की व्यवस्था है।

लोकनिर्णय के गुण और दोष—लोकनिर्णय के निम्न मुख्य गुण माने जाते हैं:

(1) यह देश के लोगों को देश के मामलों में सक्रिय भाग लेने वाला बनाता है। अत: वे उनके उदासीन दर्शकमात्र नहीं रहने पाते। उन राज्यों में जहाँ प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की शासन-व्यवस्था है, लोकनिर्णय द्वारा जनता शासन सम्बन्धी समस्याओं को हल करती है। उन राज्यों में भी जहाँ अप्रत्यक्ष लोकतन्त्री शासन होता है, लोकनिर्णय द्वारा यह सम्भव हो जाता है कि जनता अपने प्रभुसत्ता-सम्बन्धी अधिकार का सदा प्रयोग करती हुई देश के सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भाग लेती रहे। लोकनिर्णय की व्यवस्था से जनता राजनीतिक दृष्टि से जागृत होती है और वह अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के प्रति सजग रहती है। वह यह भी देखती रहती है कि उसके प्रतिनिधि व्यवस्थापिका में क्या करते हैं और कैसे कानून बनाते हैं। लोकनिर्णय की व्यवस्था के कारण लोकतन्त्र कुछ वर्ष बाद निर्वाचन के रूप में एक बार आने वाला राजकीय उत्सव नहीं रह जाता, अपितु वह जनता के दैनिक जीवन का आवश्यक भाग बन जाता है।

(2) लोकनिर्णय की प्रणाली जनता के हितों के लिए एक ढाल का काम करती है, क्योंकि इसके द्वारा जनता को अधिकार रहता है कि व्यवस्थापिका के उन कानूनों को अस्वीकृत करदे, जिनसे सार्वजनिक हितों की हानि हो। सोने की भाँति व्यवस्थापिका के कानून भी लोकनिर्णय की भट्टी में तप कर अपनी शुद्धता का प्रमाण दिये बिना क्रियान्वित नहीं किये जा सकते। इस प्रकार लोकनिर्णय शीघ्रता में किये जाने वाले अथवा अविचारपूर्ण व्यवस्थापन पर रोक लगता है। फलतः जनहित के लिए हानिकारक कानून स्वीकृत नहीं होने पाते।

(3) इसके कारण विधायक लोग भी अपने कर्त्तव्य के प्रति अधिक सजग रहते हैं, क्योंकि लोकनिर्णय की तलवार उनके सर पर सदा लटकती रहती है। विधायक लोग यह जानते हैं कि यदि उनका कोई कानून उच्च कोटि का और जनता के हितों का प्रतिपादन करने वाला नहीं होगा, तो वह जनता द्वारा लोकनिर्णय के अवसर पर अस्वीकृत ही नहीं कर दिया जायेगा, वरन् उसके कारण स्वयं उनकी लोकप्रियता को धक्का पहुँचेगा और वे जनता की दृष्टि में इतने गिर सकते हैं कि आगामी निर्वाचन के समय वे फिर चुने भी न जा सकेंगे। इस प्रकार लोकनिर्णय की व्यवस्था विधायकों को जागरूक बनाती है और फलतः वे लोग सचेष्ट रहते हैं कि व्यवस्थापन का स्तर न गिरने पाए।

(4) लोकनिर्णय की व्यवस्था द्वारा व्यवस्थापिका के दोनों सदनों के बीच गतिरोध नहीं चल पाता, क्योंकि जिन कानूनों के विषय में गतिरोध होता है, उन पर लोकनिर्णय लिया जा सकता है।

लोकनिर्णय के उपर्युक्त गुण माने जाते हैं। किन्तु लोकनिर्णय के प्रयोग से यह स्पष्ट हो गया है कि उसके ये गुण केवल सैद्धान्तिक हैं। व्यवहार में यही सिद्ध हुआ है कि लोकनिर्णय की प्रणाली दोषमुक्त है। उसके मुख्य दोषों को हम निम्न प्रकार रख सकते हैं:

(1) प्रत्येक कार्य के लिए उचित योग्यता की आवश्यकता होती है। कानून निर्माण अथवा उनकी अच्छाई-बुराई के विषय में निर्णय देना कोई ऐसा कार्य नहीं है जिसे प्रत्येक व्यक्ति कर सकता हो। उदाहरण के लिए, मुद्रा पद्धति तथा विदेशी विनिमय आदि कुछ ऐसे विषय होते हैं, जिनके विषय में जनसाधारण तो क्या कुछ विधायक लोग भी पूर्ण जानकारी नहीं रखते और ऐसे विषयों से संबंधित व्यवस्थापन पर यदि लोकनिर्णय लिया जाये तो निर्णय उचित नहीं हो सकता। चूँकि जनसाधारण कानूनों की अच्छाई-बुराई देखने में पूर्णतः समर्थ नहीं होते, अतः उनके निर्णय का आधार तर्क और कानून का औचित्य अथवा अनौचित्य सम्बन्धी ज्ञान न होकर प्रायः केवल बहकावा और क्षणिक आवेश होता है। इसलिये यह कहना कि लोकनिर्णय की प्रणाली से बुरे व्यवस्थापन पर रोक लग जाती है, ठीक नहीं है।

(2) जनता स्वयं लोकनिर्णय के प्रति उदासीन रहती है। लोकनिर्णय के समय या तो वे मत ही नहीं देते या यदि वे मत देते भी हैं, तो उसका प्रयोग विवेकपूर्ण ढंग से नहीं करते। ऐसा देखा गया है कि लोग खाली पर्चियाँ मत-पेटिकाओं में डाल देते हैं। जब लोकनिर्णय के हथियार के प्रयोग करने वाले लोग प्रायः ऐसे होते हैं,तो उसका वास्तविक

(3

जहाँ अप्रत्यक्ष

का उत्तरदायि

उत्तरदायित्व

(4

बड़े देशों में

प्रत्य

द्वारा वह अपने

जनता के विश्व

तो उसे पदच्यु

व्यवस्थापक लो

स्वीकृति में बा

बुला सकती है

सुधारात्मक तथा

पर आघात कर

प्रतिकारात्मक (I

सुधार होता है,

प्रतिकार करके

द्वारा रोका जाता

उद्देश्य इस प्रकार

सार्वजनिक हित

इस प्रक

मनमानी तथा तान

में प्रत्याह्वाहन के

अधिकतर दुरुपयो

महत्वाकांक्षी लोग

कोई महत्वाकांक्षी

अथवा मन्त्री को

बनवाने का प्रयत्न

पड़ेगा। ऐसी दशा

न कि लोक-कल्या

कर सकते हैं और

आधार को निर्बल

न्यायाधिकारियों पर

होकर निष्पक्षता के

। अपने-अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए मतदाताओं को सीधा कर सकते हैं। लोकनिर्णय इस प्रकार न तो सही ·और न ही उसके द्वारा जनता के हितों की साधना और

णाली के पक्ष में यह कहा जाता है कि वह विधायकों ह बनाये रखती है। किन्तु इसका दूसरा पक्ष यह भी हो ग्री और लापरवाह हो जाये, क्योंकि इस व्यवस्था में त्तरदायित्व उनका न होकर स्वयं जनता का होता है। वस्था का प्रयोग केवल छोटे राज्यों में ही होना सम्भव ही नहीं सकता।

:) —लोकनिर्णय (Referendum) प्रणाली की सहगामी े जनमत संग्रह (Plebiscite) कहा जाता है। यद्यपि यवस्था होती है तथापि लोकनिर्णय और जनमत संग्रह निर्णय सम्बन्धी विवेचन से स्पष्ट है कि इस व्यवस्था ीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है और जनता को ीकार करे या अस्वीकार करे। इस प्रकार लोकनिर्णय के विषय में निषेधाधिकार प्राप्त होता है। इससे भिन्न ्रशिष्ट प्रश्न पर यह जाना जाता है कि उस प्रश्न के उदाहरणार्थ यदि मद्यपान निषेध के विषय का एक खा जाये, तो हम उसे लोकनिर्णय कहेंगे और यदि ये या नहीं, यह प्रश्न जनता की राय जानने के लिए संग्रह कहेंगे।

यदि लोकनिर्णय जनता के हाथ में बुरे व्यवस्थापन ार है, तो आरम्भक उसके हाथ में ऐसा स्वीकारात्मक स्थापन प्रस्तुत कर सकती है। आरम्भ प्रणाली में उन कानूनों के प्रस्तावों को प्रस्तुत कर सके, जिन्हें मझती हो। इस प्रकार आरम्भक की परिभाषा हम जसमें निर्दिष्ट मतदाताओं की संख्या व्यवस्थापिका ानून पर विचार करके उसे स्वीकार किया जाये। प्रकार का होता है—सामान्य (General or lative)। सामान्य आरम्भ की व्यवस्था वह होती हुए मतदाताओं की निश्चित संख्या व्यवस्थापिका एक विधेयक तैयार करवा कर व्यवस्थापिका उस नता की स्वीकृति प्राप्त करे। इसके विपरीत जब

मतदाताओं की एक निश्चित संख्या किसी कानून के विधेयक को पूर्णरूप से तैयार करके व्यवस्थापिका के पास विचार और स्वीकृति के लिए भेजती है, तो उसे हम सूत्रबद्ध आरम्भक कहते हैं। स्विट्जरलैण्ड में उक्त दोनों प्रकार के आरम्भक प्रचलित हैं और यह व्यवस्था है कि पचास हजार मतदाताओं द्वारा आरम्भक की कार्यवाही की जा सकती है।

आरम्भक के गुण और दोष—आरम्भक के गुण-दोष प्राय: वैसे ही है जैसे लोकनिर्णय के हैं। फिर भी उसके गुणों में कुछ विशेष गुण इस प्रकार हैं:

(1) इसके द्वारा जनता में राष्ट्रीय मामलों के प्रति जागरुकता बनी रहती है और वह अपनी प्रभुत्ता का स्वयं प्रयोग करती रहती हैं। जनता स्वयं लोकतन्त्र के अभिनय के दर्शक के रूप में नहीं, अपितु वह उसके अभिनेता के रूप में रहती है और इस प्रकार लोकतन्त्र के राजनीतिक शिक्षण के उद्देश्य की पूर्ति होती है। अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र में जनता दर्शक मात्र होने से राजनीतिक शिक्षण का लक्ष्य पूरा नहीं होता।

(2) इसके द्वारा लोकहित की अवहेलना की सम्भावना कम हो जाती है और ऐसा नहीं होता कि उचित व्यवस्थापन की कमी के कारण लोकहित की हानि होती रहे, क्योंकि इस व्यवस्था द्वारा जनता स्वयं उन कानूनों के निर्माण की माँग कर सकती है, जिन्हें वह लोकहित की दृष्टि से आवश्यक समझे।

(3) लोकनिर्णय की भाँति यह भी विधायकों को इसके लिए सचेत रखती है कि वे जनता की आवश्यकताओं को ध्यान में रखें और उनकी आवश्यकता के अनुसार व्यवस्थापन की व्यवस्था करते रहें, अन्यथा यदि जनता को अपने आरम्भक सम्बन्धी अधिकार का प्रयोग करना पड़ा तो वे जनता की दृष्टि में गिर जायेंगे और उनका आगामी निर्वाचन में सफल होना भी असम्भव हो जायेगा।

आरम्भक के उपर्युक्त गुण माने जाते हैं किन्तु व्यवहार की कसौटी पर उसके वे गुण खरे नहीं उतरते हैं। अनुभव यह बताता है कि आरम्भक का प्रयोग उन गुणों के साथ नहीं किया जा सकता, जिनका उल्लेख किया गया है। व्यवहार में उनके जो दोष प्रकाश में आते हैं, वे इस प्रकार हैं:

(1) जनता की योग्यता साधारणतया ऐसी नहीं होती कि वह इसका प्रयोग उचित ढंग से कर सके। अधिकतर मतदाताओं को अपनी व्यक्तिगत समस्याओं से इतना अवकाश ही नहीं मिलता कि वे आरम्भक की प्रक्रिया के झगड़े में पड़ें। अत: इस यन्त्र का प्रयोग भी लोकनिर्णय की तरह उन्हीं लोगों के द्वारा होता है, जो उसे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये प्रयुक्त करते हैं और इस कारण लोक हितकारी कानूनों के स्थान पर वर्ग-हितकारी कानूनों का निर्माण होता है।

(2) जिन राज्यों में व्यवस्थापन कार्य आरम्भक प्रणाली द्वारा ही होता है वहाँ वह जनता के अवशिष्ट लोगों द्वारा होता है। अत: यह सम्भव होता है कि व्यवस्थापन का स्तर उतना उच्च न रह सके, जितना वह व्यवस्थापन कार्य के विशेषज्ञों अर्थात् विधायकों द्वारा किये जाने पर होता है। इस प्रकार आरम्भक का अधिक प्रयोग व्यवस्थापन के स्तर को गिरा देता है।

(3) यह प्रणाली भी व्यवस्थापकों को अनुत्तरदायी बना सकती है। उन देशों में जहाँ अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र के साथ-साथ प्रत्यक्ष व्यवस्थापन की भी व्यवस्था होती है, व्यवस्थापन का उत्तरदायित्व विभाजित हो जाता है। परिणामस्वरूप दो का उत्तरदायित्व किसी का उत्तरदायित्व नहीं रहता और व्यवस्थापन कार्य में गड़बड़ और अस्त-व्यस्तता आ जाती है।

(4) इस पद्धति का प्रयोग केवल छोटे देशों में ही सुगमता से हो सकता है। बड़े देशों में इसका प्रयोग क्रियात्मक दृष्टि से सम्भव नहीं है।

प्रत्याह्वान (Recall) —प्रत्याह्वान जनता का वह अधिकार होता है जिसके द्वारा वह अपने किसी प्रतिनिधि विधायक को अथवा मन्त्री को, यदि वह अपने कर्त्तव्य को जनता के विश्वस्त की भांति ठीक से नहीं निभाए और लोक-कल्याण की साधना नहीं करे तो उसे पदच्युत किया जा सकता है। सीधे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कोई व्यवस्थापक लोक-कल्याणकारी व्यवस्थापन की ओर प्रयत्नशील नहीं रहता अथवा उसकी स्वीकृति में बाधक बनता है, तो जनता की एक निश्चित संख्या उसे उसके पद से वापस बुला सकती है। इस व्यवस्था की महत्ता यह है कि वह एक ही साथ प्रतिकारात्मक, सुधारात्मक तथा प्रतिरोधात्मक तीनों प्रकार की होती है। इस व्यवस्था के द्वारा लोक-कल्याण पर आघात करने अथवा उसमें बाधा डालने वाले अपदस्थ कर दिये जाते हैं। अत: वह प्रतिकारात्मक (Retributic) व्यवस्था है। इस व्यवस्था के लोक-कल्याण विरोधी लोगों का सुधार होता है, अत: यह सुधारात्मक (Rcformatory) भी है। बुरा करने वालों के साथ प्रतिकार करके और उन्हें अपदस्थ करके दण्ड द्वारा औरों को वैसा करने से, इस व्यवस्था द्वारा रोका जाता है, अत: यह प्रतिरोधात्मक (Deterrent) भी होती है। इस व्यवस्था का उद्देश्य इस प्रकार विधायकों और मन्त्रियों को अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग रखना और उन्हें सार्वजनिक हित की भावना से युक्त जन-सेवक बनाये रखना है।

इस प्रकार प्रत्याह्वान की प्रणाली एक प्रकार से विधायकों और मन्त्रियों की भ्रष्टाचार, मनमानी तथा तानाशाहीपूर्ण मनोवृत्ति का उपचार है। फिर भी यह स्मरणीय है कि व्यवहार में प्रत्याह्वान के गुण पूर्ण रूप से खरे नहीं उतरते। व्यवहार में प्रत्याह्वान के अधिकार का अधिकतर दुरुपयोग होता है। सामान्य जनता के साधारणतया अनभिज्ञ होने के कारण महत्वाकांक्षी लोग इससे अपने स्वार्थों की सिद्धि करते हैं। उदाहरणार्थ, किसी भी स्थान का कोई महत्वाकांक्षी व्यक्ति अपने प्रभाव के मतदाताओं के समर्थन की धौंस पर किसी विधायक अथवा मन्त्री को इस बात के लिये बाध्य कर सकता है कि वह उसकी इच्छानुसार कानून बनवाने का प्रयत्न करे या शासन का संचालन करे अन्यथा उसे प्रत्याह्वान का शिकार होना पड़ेगा। ऐसी दशा में बहुत से विधायक और मन्त्रिगण अपने स्थान पर बने रहने के लिये न कि लोक-कल्याण की दृष्टि से ऐसे महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों की इच्छानुसार अपना कार्य कर सकते हैं और राष्ट्र के हित की हानि हो सकती है। इसका अधिक प्रयोग शासन के आधार को निर्बल बना देता है तथा विधायक, मन्त्रिगण तथा न्यायाधिकारीगण (जहाँ न्याधाधिकारियों पर भी यह प्रणाली लागू है) सुरक्षा का अनुभव न करने के कारण निर्भय होकर निष्पक्षता के साथ देश-सेवा नहीं कर पाते।

प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र

जिस पद्धति में राज्य की इच्छा का निर्माण और अभिव्यक्ति प्रभुसत्तावान जनता के स्थान पर उसके प्रतिनिधि करते हैं, उसे हम परोक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र कहते हैं। इस शासन-प्रणाली में जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है। उनसे उस व्यवस्थापिका का निर्माण होता है जो कानून बनाने का कार्य करती है। जैसा **मिल** ने कहा है, प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र वह होता है, जिसमें "सम्पूर्ण जनता अथवा उसका बहुसंख्यक भाग शासन की शक्ति का प्रयोग अपने उन प्रतिनिधियों द्वारा करती है, जिन्हें वह समय-समय पर चुनती है।"[1] **ब्लुंशली** ने भी इस सम्बन्ध में ऐसा ही मत व्यक्त किया है कि "प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र में नियम यह होता है कि जनता अपने कर्मचारियों द्वारा शासन करती है, जबकि अपने प्रतिनिधियों के द्वारा वह व्यवस्थापन करती है और प्रशासन पर नियन्त्रण करती है।"[2] **हर्नशा** के शब्दों में भी "यह प्रतिनिधियों के माध्यम से सर्वोच्च सत्तावान जनता का शासन होता है।"[3] यद्यपि प्रतिनिधियों के निर्वाचन की दृष्टि से इस प्रकार की शासन-प्रणाली के दो भेद किए जाते हैं। पहला, संसदीय (जिसमें जनता सदस्यों का निर्वाचन करती है और सदस्यों द्वारा सरकार का निर्माण होता है) और दूसरा अध्यक्षीय (Presidential) (जिसमें राष्ट्रपति का निर्वाचन जनता द्वारा किया जाता है और फिर राष्ट्रपति द्वारा सरकार का निर्माण किया जाता है)। तथापि तात्विक दृष्टि से दोनों का स्वरूप एक-सा ही होता है क्योंकि दोनों में जनता के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि अथवा प्रतिनिधियों द्वारा सरकार का निर्माण होता है और वह सरकार प्रभुसत्तावान जनता के नाम से शासन का संचालन करती है।

लोकतन्त्री शासन के गुण—

लोकतन्त्री शासन की प्रशंसा और बुराई प्रायः समान रूप से की गई है। जिस उत्साह और बल के साथ उसकी प्रशंसा के पक्ष में युक्तियाँ दी गई हैं उसकी उतनी ही कड़ी आलोचना भी हुई है। जिन आधारों पर लोकतन्त्र की प्रशंसा की जाती है अथवा यों कहना चाहिए कि जो उसके गुण बताये जाते हैं, वे निम्न प्रकार हैं :

लोक-कल्याण की साधना—लोकतन्त्र की मुख्य अच्छाई यह है कि इसके अन्तर्गत शासनकर्त्ताओं से यह आशा की जाती है कि वे लोक-कल्याण के प्रति सदा सजग और क्रियाशील रहेंगे। लोकतंत्री शासन में जो लोग शासनकर्त्ता होते हैं, वे जनता के प्रतिनिधि

---

1. "Indirect or representative democracy is one in which "the whole people or some numerous portion of them exercise the governing power through deputies periodically elected by themselves."
—Mill : *Representative Government*, p. 51.
2. "In a representative democracy the rule is that the people govern through its officials, while it legislates and controls the administration through its representatives." —Bluntschli
3. "It is government by the sovereign democracy through the agency of delegates." —Hearnshaw : *Democracy at the Crossways*, p. 14.

होते हैं और वे इसी आधार पर निर्वाचित किये जाते हैं कि वे शासन का संचालन जनता के हित साधन के लिये करेंगे। इस प्रकार लोकतन्त्र में शासन का अधिकार एक थाती के रूप में होता है, जो प्रतिनिधियों को इस आधार पर मिलता है कि वे उनका प्रयोग जनता के हितों, उसके अधिकारों और उसकी इच्छाओं के अनुसार करेंगे। लोकतन्त्र में शासनकर्त्ताओं को जनता की इच्छाओं के प्रति सजग रहना पड़ता है, उसके कष्टों को ध्यान में रखना पड़ता है और कष्टों को दूर करना होता है। इस प्रकार लोकतन्त्र की सबसे बड़ी अच्छाई यह है कि उसमें शासन लोक-कल्याण के लिये होता है।

सर्वतोन्मुखी शिक्षण—एक अन्य महत्त्वपूर्ण गुण लोकतन्त्र का यह है कि इसके अन्तर्गत जनता का सर्वतोन्मुखी शिक्षण होता है। लोकतंत्र शासन का ही एक प्रकार नहीं है, अपितु वह राज्य का और समाज का भी एक प्रकार है। अत: स्वभावत: उसके प्रयोग द्वारा जनता को शासन-सम्बन्धी, राजनीतिक तथा सामाजिक सभी प्रकार का शिक्षण प्राप्त होता है। लोकतन्त्र में जनता यह जानती है कि वह अपने और अपने देश के भाग्य की निर्मात्री है, अत: वह इस सम्बन्ध में अपना उत्तरदायित्व समझने लगती है और अपने कर्त्तव्य के प्रति सजग रहने लगती है। जैसा **ब्राइस** ने कहा है "राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व की शान बढ़ जाती है और वह स्वभावत: उस कर्त्तव्य की भावना के उच्चतर स्तर तक उठ जाता है, जिसका पालन उसे राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के कारण करना पड़ता है।"[1] कर्त्तव्य के प्रति इस प्रकार की जागरूकता तथा राजनीतिक चेतना के कारण लोग यह समझने लगते हैं कि मतदान का अधिकार एक पवित्र कर्त्तव्य है और उन्हें उसका उपयोग न्यायपूर्वक निष्पक्ष भाव से और विचारपूर्वक सार्वजनिक हित की दृष्टि में रखते हुए करना चाहिये। इस भावना के उदय के कारण लोग अपने क्षुद्र स्वार्थों को सार्वजनिक स्वार्थों की वेदी पर बलिदान करना सीख जाते हैं और इस प्रकार वे आदर्श नागरिक बन जाते हैं। लोकतंत्र नागरिकों को शासन कार्य में सक्रिय भाग लेने वाला बना देता है और वे शासन के नाटक के वैसे उदासीन दर्शक नहीं रहते, जैसे वे राजतंत्र अथवा श्रेणीतन्त्र में रहते हैं। लोकतन्त्र नागरिकों में आत्म-निर्भरता का भाव भी उत्पन्न करता है तथा साथ-साथ ही उनमें आत्म-विश्वास की उस भावना को भरता है जिससे व्यक्ति अपने साथ-साथ दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान करना सीखता है। इन सब ढंगों से लोकतन्त्र व्यक्ति को आदर्श नागरिक बनने की शिक्षा देता है। लोकतन्त्र के इस गुण को ध्यान में रखते हुए **बर्न्स** ने कहा है कि "सभी शासन शिक्षा के साधन होते हैं, परन्तु स्वशिक्षा सबसे अच्छी शिक्षा होती है, इसलिये स्वशासन सबसे अच्छा शासन होता है। स्वशासन को ही लोकतन्त्र कहते हैं।"[2]

1. "The manhood of the individual is dignified by his political enfranchisement and that he is usually raised to a higher level of the sense of duty which it throws upon him." —*Bryce*
2. "All government is a method of education but the best education is self education : therefore the best government is self-government which is democracy." —C.D. Burns

देशभक्ति का स्त्रोत—लोकतन्त्र का एक गुण यह है कि उसके कारण जनता में देशभक्ति जागृत होती है। जिस वस्तु के लिये लोग कार्य करते हैं, उसके प्रति उनका लगाव हो जाता है, चूँकि लोकतन्त्र में लोगों को अपने देश के लिये कार्य करने का अवसर मिलता है, अत: उन्हें देश के प्रति लगाव हो जाता है और उनमें देश-भक्ति की भावना का उदय हो जाता है। लोकतन्त्र में लोग अपने देश से प्रेम करना सीखते हैं, क्योंकि देश का भाग्य उन्हीं के हाथ में होता है और वे उसके हित के लिये प्राण-प्रण से लग जाते हैं। **मिल** ने भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है और कहा है कि "लोकतन्त्र लोगों की देशभक्ति को बढ़ाता है, क्योंकि नागरिक यह अनुभव करते हैं कि सरकार उन्हीं की उत्पन्न की हुई वस्तु है और अधिकारी उनके स्वामी न होकर उनके सेवक हैं।"[1]

क्रांति से सुरक्षा—लोकतन्त्र का एक और गुण यह है कि इसके अन्तर्गत क्रांति की सम्भावना अत्यन्त कम हो जाती है। शासनकर्त्ता जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं, अत: उनसे यह आशा की जाती है कि वे जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं को अपनी नीतियों द्वारा क्रियान्वित करेंगे। अत: यह स्वाभाविक है कि लोगों को उनसे कोई शिकायत इस प्रकार की न हो, जिसको दूर करने के लिए उन्हें क्रांति का सहारा लेना पड़े। शासनकर्त्ता पहिले तो स्वयं ही लोकमत की आकांक्षाओं के अनुरूप शासन का संचालन करते हैं और यदि किसी प्रकार जनता को शासकों से कोई शिकायत हो अथवा वे लोग अवांछनीय सिद्ध हो जायें तो जनता को उन्हें अपदस्थ करने का अधिकार प्राप्त होता है। वस्तुत: लोकतन्त्र शासन स्वयं भी क्रांतिकारी नहीं हो सकता क्योंकि यह अनुभूति पर आधारित होता है। जैसा **गिलक्राइस्ट** ने कहा है "लोकप्रिय शासन सार्वजनिक सहमति का शासन होता है, अत: स्वभाव से ही यह क्रान्तिकारी नहीं हो सकता।"[2]

समानता का आदर्श—लोकतन्त्र का एक अन्य गुण यह है कि यह व्यक्ति की समानता के आदर्श पर आधारित होता है। उसके सिद्धान्तों के अनुसार यह विचार अस्वीकार्य है कि कुछ लोग संसार में शासन करने के लिये और कुछ लोग शासित होने के लिये उत्पन्न हुये हैं। उसकी दृष्टि में सभी का महत्त्व और मूल्य समान होता है। लोकतन्त्र के आदर्श के मतानुसार सब व्यक्ति समान होते हैं और उन सबके हितों की रक्षा समान रूप से की जानी चाहिए। सभी को शासन में समान रूप से भाग लेने दिया जाता है तथा उन्हें उसके लाभ भी समान रूप से ही प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत राजतन्त्र अथवा श्रेणीतन्त्र में जनता के कतिपय वर्गों को शासन में भाग नहीं दिया जाता एवं उन्हें शासन के लाभ प्राप्त

---

3. "Democracy strengthens the love of country because citizens feel that the government is their own creation and the magistrates are their servants rather than masters." —Mill

1. "Popular government is a government by common consent from its very nature, therefore, it is not likely to be revolutionary."
—Gilchrist

नहीं होते। उसके अन्तर्गत सभी को शासन में भाग मिलता है और सभी को शासन के लाभ प्राप्त होते हैं।

लोकतन्त्री शासन के दोष

लोकतन्त्र की आलोचना भी उतनी ही अधिक हुई है जितनी उसकी प्रशंसा। उसकी आलोचना इतनी कड़ी हुई है कि कुछ विचारकों ने यहाँ तक कह डाला है कि लोकतन्त्र का अब कोई उपयोग नहीं रहा है और उसके दिन अब व्यतीत हो चुके हैं। जिन दोषों के कारण लोकतन्त्र की आलोचना की जाती है, उन्हें हम निम्न प्रकार कह सकते हैं:

अक्षमता का आदर्श—आलोचकों ने लोकतन्त्र को अक्षमता और अयोग्यता का आदर्श माना है। शासन की अक्षमता का कारण यह दोष है कि लोकतन्त्र में गुण की अपेक्षा संख्या पर अधिक बल दिया जाता है। उसमें मत गिने जाते हैं, तौले नहीं जाते अर्थात् सबके मत का महत्त्व समान माना जाता है। यह वास्तविकता के प्रतिकूल है,क्योंकि राजनीतिक समस्याओं को समझकर मतदान करने की सभी की योग्यता समान नहीं हो सकती है। जनता राज्य के प्रशासन को समझने के लिये ही अयोग्य नहीं होती, साधारणत: वह यह भी नहीं समझती कि देश का वास्तविक और स्थायी हित क्या है। प्राय: लोग अपने स्वार्थों को सार्वजनिक स्वार्थों से अधिक महत्त्व देते हैं और फल यह होता है कि लोकतन्त्र में सार्वजनिक हित के साधने के स्थान पर वर्गगत हितों की साधना होने लग जाती है। अधिकतर मतदाताओं के अज्ञान और शासकों को चुनने से संबंधित अयोग्यता के कारण लोकतन्त्री शासन अत्यधिक विकृत शासन हो जाता है। इसलिये **लीकी** ने उसे "निर्धनतम, अनभिज्ञतम तथा अयोग्यतम लोगों का शासन" कहा है।

दल प्रणाली का अहितकर प्रभाव—क्षेत्र और जनसंख्या के विस्तार की दृष्टि से बड़े आधुनिक राज्यों में केवल प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र ही चल सकता है और परिणामत: दल-प्रणाली का अस्तित्व आधुनिक लोकतन्त्री राज्यों के लिए अनिवार्य हो जाता है। किन्तु यह दल-प्रणाली अपने व्यवहार के द्वारा लोकतन्त्र को भ्रष्ट बना देती है। विभिन्न राजनीतिक दलों का संगठन सिद्धान्त रूप में किसी विशेष राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक कार्यक्रम को लेकर किया जाता है, परन्तु व्यवहार में वे राजनीतिक दल उस कार्यक्रम के मंच न रहकर, उन नेताओं के अखाड़े बन जाते हैं, जो भाषण देने, लोगों को बहकाने और अपना स्वार्थ सिद्ध करने में चतुर होते हैं। निर्वाचन के दौरान दो दलों द्वारा एक दूसरे की निन्दा की कीचड़ इतनी बुरी तरह उछाली जाती है कि सम्पूर्ण देश का वातावरण मनोमालिन्य से भर जाता है। निर्वाचन में विजय के लिए सच की धज्जियाँ उड़ाई जाती हैं, झूठे प्रचार द्वारा एक-दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश की जाती है और नैतिकता ताक में रख दी जाती है। योग्य व्यक्तियों की अनावश्यक बुराई की जाती है और अयोग्य व्यक्तियों को योग्य और समर्थ बताया जाता है। इस प्रकार योग्य और अयोग्य व्यक्ति की पहचान साधारण निर्वाचक के लिए कठिन हो जाती है। कहा जाता है कि लोकतन्त्र में शासन का संचालन जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों

द्वारा होता है। किन्तु वस्तुत: यह बात नहीं है, क्योंकि प्रतिनिधियों का वास्तविक चुनाव जनता द्वारा न होकर राजनीतिक दलों द्वारा होता है और जनता के समक्ष यही उपाय रह जाता है कि वह विभिन्न दलों की ओर से खड़े किये गये व्यक्तियों में से किसी को अपना मत दे। दल-प्रणाली इस प्रकार जनता के द्वारा प्रतिनिधियों के चुनाव पर प्रतिबन्ध लगा देती है। जनता को मत व्यक्तियों को नहीं वरन् राजनीतिक दलों को देना होता है, चूँकि निर्वाचित व्यक्ति का लगाव जनता से न होकर खड़ा करने वाले दल से होता है, वह शासन भी जनता के हित साधन की दृष्टि से नहीं अपितु दल के हित साधन की दृष्टि से करता है और शासन का रूप लोकतन्त्रीय या दल अधिनायकतन्त्रीय हो जाता है।

धनवानों का शासन—लोकतन्त्र के विषय में यह कहा जाता है कि उसमें अमीर-गरीब और ऊँचे-नीचे सभी व्यक्तियों का समान रूप से शासन में हाथ होता है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। इसकी व्यावहारिक प्रक्रिया ऐसी है कि केवल धनवान व्यक्ति शासन के कर्त्ता-धर्त्ता बन जाते हैं। लोकतन्त्र का आधार निर्वाचन होता है और निर्वाचन द्वारा शासन-कर्त्ता केवल उन्हीं लोगों के बस की बात होती है जो धनी और साधन सम्पन्न होते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी राजनीतिक दल की ओर से निर्वाचन लड़ना चाहता है, तो उसे उस दल को चन्दे में काफी धन देना पड़ता है और बदले में दल उसके लिए निर्वाचन लड़ने का प्रबन्ध करता है। यदि वह स्वतन्त्र उम्मीदवार की भाँति चुनाव लड़ना चाहता है, तो उसे स्वयं एक बड़ी रकम चुनाव में खर्च करनी पड़ती है। इस प्रकार चुनाव लड़ने का काम केवल धनवान और साधन सम्पन्न लोग ही कर सकते हैं। इसके बाद जब पैसा खर्च करके लोग चुनाव में जीत कर पद प्राप्त करते हैं, तो स्वभावत: उन्हें इस बात की चिन्ता होती है कि उनका खर्च किया हुआ पैसा किसी प्रकार वापस मिले और इसके लिए वे पद का अनुचित लाभ उठाये बिना नहीं रहते। यही नहीं, जब अधिकतर धनवान ही विधानसभा के लिए निर्वाचित होते हैं, तो यह भी अवश्यम्भावी होता है कि वे कानून निर्माण अपने वर्ग के हित-साधन के लिए ही करें और इस बात की चिन्ता न करें कि सार्वजनिक हित साधन किस में हो सकता है। पैसे की माया एक अन्य तरह से भी लोकतन्त्र के निर्वाचनों को बिगाड़ती है। इसके कारण मतदाता स्वतन्त्र रूप से मतदान नहीं कर सकते, क्योंकि अनेक धनी उम्मीदवार रुपये से मत खरीद लेते हैं और जनता के मतों का उपयोग मनमाने ढंग से करते हैं। निर्धन मतदाता इस प्रकार रोटी के लिए अपने को धनवानों के हाथ बेच देते हैं और लोकतन्त्र में मनुष्य, मनुष्य के हाथों में बिक जाते हैं। इस प्रकार चूँकि चुनाव अत्यधिक खर्चीले होते हैं, अत: उसके परिणामस्वरूप लोकतन्त्र में शक्ति धनिक वर्ग को ही मिलती है और लोकतन्त्र लोकतन्त्र न रहकर धनिकतन्त्र हो जाता है।

सार्वजनिक धन और समय का अपव्यय—लोकतन्त्री शासन में धन और समय का अत्यधिक अपव्यय होता है। लोकतन्त्र में व्यवस्थापन की प्रक्रिया इतनी लम्बी होती है कि जिन कानूनों को स्वीकार करने में कुछ ही दिन लगने चाहिए उनको बनाने में वर्षों लग जाते हैं। यद्यपि कानूनों का निर्माण साधारणत: उसी रूप में होता है जिनमें शासन से संबंधित व्यक्ति चाहते हैं, फिर भी लोकतन्त्र की काल्पनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इतनी लम्बी प्रक्रिया का सहारा लिया जाता है कि समय और धन व्यर्थ बरबाद

होता है। चुनावों के समय सरकार को भी जनता का पैसा पानी की तरह बहाना पड़ता है, क्योंकि स्थायी रूप से चुनाव अधिकारियों को रखने के अतिरिक्त मतदाताओं की सूची की तैयारी, उसके छपवाने और प्रकाशित कराने में बहुत धन व्यय होता है।

अनुत्तरदायी शासन—लोकतन्त्री शासन के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि शासन सिद्धान्त रूप से उत्तरदायी होते हुए भी व्यवहार रूप में अनुत्तरदायी होता है। लोकतन्त्र यदि व्यवहार में उत्तरदायी शासन हो, तो उसे उस जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए, जिसमें प्रभुसत्ता निहित मानी जाती है। किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता। व्यवहार में लोकतन्त्र शासन के कर्त्ता-धर्त्ता अथवा मन्त्रिगण चुनाव के बाद जनसाधारण की क्या आवश्यकता है अथवा उनका क्या हित है, इन सब की बहुत कम चिन्ता करते हैं। वे लोग यदि किसी की कुछ परवाह करते हैं तो उन लोगों की करते हैं, जो विधायक होते हैं और प्राय: उनकी आवश्यकताओं और उनके हितों की साधना करने में लगे रहते हैं। विधायकों में भी वे उन्हीं के हितचिन्तन तक सीमित रहते हैं, जिनके समर्थन पर उन्हें निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार लोकतन्त्री शासन सार्वजनिक उत्तरदायी शासन न होकर एक दल या गुट का अधिनायकतन्त्र हो जाता है व व्यावहारिक दृष्टि से लोकतन्त्र में शासन अनुत्तरदायी होता है।

शासन की भ्रष्टता—लोकतन्त्री शासन का एक अन्य दोष यह होता है कि उसमें शासन भ्रष्ट हो जाता है। लोकतन्त्री शासन शासक दल के कर्त्ता-धर्त्ताओं की इच्छा और सिफारिशों के अनुकूल चलता है, सार्वजनिक हित और कल्याण की दृष्टि से नहीं। ऐसा देखा गया है कि निर्वाचन में जिन लोगों ने सत्तारूढ़ दल की मदद की होती है। उनको शासन की ओर से अनेक प्रकार की सहायता पहुँचायी जाती है। सहायता करने वाले व्यक्तियों तथा उनके सम्बन्धियों आदि की ऊँची-ऊँची नौकरी दिलवाकर, व्यवसाय सम्बन्धी सुविधाएँ देकर तथा अन्य अनेक प्रकार से लाभ पहुँचाकर सहायता की जाती है। शासन के दिन-प्रतिदिन के कार्यों में भी उनका बड़ा प्रभाव रहता है और शासन निष्पक्षता के साथ नहीं चलता। यह भ्रष्टता यहीं तक सीमित नहीं रहती। अपितु उसका रूप हमें देश के व्यवस्थापन तक में दिखाई देता है। यहाँ विधायक लोग ऐसा कोई प्रस्ताव अथवा कानून स्वीकार नहीं कर सकते, जिनसे उनके दल के लोग अप्रसन्न हो जायें। इसके परिणामस्वरूप केवल वही काम होता है जो दल के लोग चाहते हैं और वह कुछ नहीं हो सकता जो देश में सार्वजनिक हित के लिए आवश्यक हो। वास्तविकता इस सम्बन्ध में यह है कि कोई भी व्यक्ति अलोकप्रिय बने बिना शासन नहीं कर सकता और चूँकि निर्वाचन पर आश्रित लोकतन्त्र के शासक आगामी चुनाव में शासक न बन पाने के भय के कारण अलोकप्रिय होने का साहस नहीं कर सकते, अत: वे वास्तविक हित में शासन भी नहीं कर सकते।

सर्वतोन्मुखी उन्नति की असम्भावना—यह सत्य है कि लोकतन्त्र में राज्य के राजनीतिक जीवन में चहल-पहल आ जाती है, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि इसके अन्तर्गत जीवन के अन्य क्षेत्रों में उदासीनता आ जाती है। वस्तुत: लोकतन्त्री शासन सांस्कृतिक

जीवन के विकास की दृष्टि से अनुपयुक्त होता है। एकतन्त्री शासन और राजाओं का आश्रय पाकर साहित्यसेवी, कलाकार और विद्वान लोग अपने जीवन की आर्थिक चिन्ता से मुक्त होकर अपने कार्यों में लग सकते हैं और इस प्रकार उस शासन में राज्य की सांस्कृतिक उन्नति सुगमतापूर्वक हो सकती है। ऐसा लोकतन्त्र में सम्भव नहीं है, क्योंकि उसमें सबको एक लाठी से हाँका जाता है और साहित्यकारों तथा विज्ञानवेत्ताओं को कोई विशेष महत्त्व प्राप्त नहीं होता। उन्हें भी अपनी रोटी की समस्या का सामना उसी प्रकार करना पड़ता है जैसे अन्य सभी को परिणाम यह होता है कि उन्हें अपना कार्य जीवनयापन के एक साधन के रूप में करना पड़ता है। लोकतन्त्रीय शासन में यदि किसी का महत्त्व होता है तो वह राजनीतिक नेता का होता है और जीवन के सभी क्षेत्रों में वह प्रमुख दिखाई देता है। इस प्रकार लोकतन्त्र में जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों पर राजनीतिक जीवन छा जाता है और मानव-जीवन की सर्वतोन्मुखी उन्नति पूरी तरह से नहीं होने पाती।

राजनीतिक शिक्षा का दम्भ—कहा जाता है कि लोकतन्त्र से जनता को राजनीतिक शिक्षा मिलती है, पर वास्तव में वह शिक्षा कोरा दम्भ होती है। व्यवहार में राजनीतिक शिक्षा के स्थान पर जनता को कुशिक्षा प्राप्त होती है। निर्वाचन के समय जिस रूप में राजनैतिक समस्याओं को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, वह उनका बड़ा ही विकृत और दलीय राजनीति के रंग से रंगा हुआ रूप होता है। प्रत्येक राजनीतिक दल का प्रयत्न जनता को सच्ची राजनीतिक शिक्षा देना नहीं होता, अपितु उनका प्रयत्न यह होता है कि प्रत्येक बात को विशेष रंग में रंगकर प्रस्तुत किया जाये, जनता को सब्ज-बाग दिखाये जायें और ऐसे उचित और अनुचित उपायों का अवलम्बन लिया जाये जिससे जनता मूर्ख बन सके और उसके पक्ष में मत दे सके। इसके लिये उम्मीदवारों की ओर से मतदाताओं को रिश्वत दी जाती है, उनके मत खरीदे जाते हैं, जाति-बिरादरी और धर्म की दुहाई दी जाती है, एक-दूसरे पर अनुचित आक्षेप किये जाते हैं और इस प्रकार राजनीतिक शिक्षा के स्थान पर जनता को राजनीतिक और सामाजिक दोनों प्रकार की कुशिक्षा प्राप्त होती है।

इस प्रकार आधुनिक रूप में लोकतन्त्री शासन में अनेक दोष हैं। किन्तु यदि हम यह ढूँढ़ने का उद्योग करें कि इन दोषों का मूल क्या है, तो हम यही पायेंगे कि ये दोष लोकतन्त्र के न होकर लोकतन्त्र के प्रयोगकर्त्ताओं अर्थात् शासनकर्त्ताओं और शासितों दोनों के हैं। वस्तुत: लोकतन्त्र के व्यवहार में ये दोष इसलिए आ जाते हैं कि उसे व्यवहार में लाने वाले लोग अपने को उस स्तर का नहीं रख पाते, जिस स्तर की लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यकता होती है। अत: इस आधार पर लोकतन्त्र को बुरा बतलाना और उसे त्यागने का विचार करना चिकित्सक की अयोग्यता के कारण चिकित्सा विज्ञान को बुरा बताने और उसे त्यागने के विचार के समान होगा। इसके अतिरिक्त यदि हम उसे त्यागना भी चाहें तो आधुनिक युग की अनुकूलता की दृष्टि से शासन का अन्य कोई प्रकार ऐसा नहीं दिखाई देता जिसके व्यवहार में दोष न पाये जाते हों और जिसे स्वीकार किया जा सके। इसलिये उन अनेक दोषों के होते हुए भी, जो उसके प्रयोग में हमारे समक्ष आये हैं, हमें **मिल** के उस मत से सहमत होना पड़ता है, जो उसने यह कहकर व्यक्त किया है कि "लोकतन्त्र के

विरोध में दी जाने वाली युक्तियों में जो कुछ आधार प्रतीत हुआ, उसको पूरा महत्त्व देते हुए भी मैंने सहर्ष उसके पक्ष में ही निश्चय किया।''[1] यदि सभी उसके आदर्श पर चलने के लिए प्रयत्नशील रहें, तो चूँकि सर्व व्यक्तियों को सर्वतोन्मुखी उन्नति समान रूप से लोकतन्त्र में ही हो सकती है, अत: लोकतन्त्र त्याज्य न होकर ग्राह्य ही है। जैसा **जिमेरिन** ने कहा है, ''चूँकि मनुष्य की आत्मा का निर्माण अपनी बुद्धि, निर्णय शक्ति, उत्तरदायित्व, साहस तथा आत्म-संयम के प्रयोग के लिये हुआ था और चूँकि बिना स्वतन्त्रता के मनुष्य का आधा व्यक्तित्व अविकसित रह जाता है, अत: वह आदर्श, जिसकी प्राप्ति की ओर सब प्रकार के सामाजिक और राजनीतिक प्रयत्न किये जाते हैं, स्वतन्त्र स्त्री-पुरुषों का पूर्ण सामूहिक साझेदारी का वह समाज ही है, जिसमें प्रत्येक एक साथ ही शासक और शासित होता है और प्रत्येक जानते हुए सबके लाभ के लिए अपनी सेवाएँ समर्पित करता है।''[2] यही कारण है कि **कारपेन्टर** जैसे विचारक को हम यह कहते हुये पाते हैं कि ''हे अनादृश्य लोकतन्त्र! मैं तुझसे प्रेम करता हूँ।''[3]

लोकतन्त्र की सफलता की आवश्यकताएँ

लोकतन्त्र के व्यवहार में जो दोष हमें मिलते हैं, उनका मूल लोकतन्त्र स्वयं न होकर लोकतन्त्र के प्रयोगकर्त्ता होते हैं। यदि लोकतन्त्र में कुछ दोष हमें दिखाई देते हैं, तो उसका कारण यह होता है कि जो लोग लोकतन्त्र का प्रयोग करते हैं वे दोषयुक्त होते हैं अथवा जिन परिस्थितियों में वे उनका प्रयोग करते हैं वे उस प्रयोग के लिए उपयुक्त नहीं होतीं। वस्तुत: लोकतन्त्र का विचार जिन सिद्धान्तों पर आधारित है वे पूर्णत: दोषमुक्त हैं और उसके प्रयोग में कोई दोष आ जाते हैं, तो उनका कारण यह होता है कि हम उन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते, जिनकी पूर्ति होना लोकतन्त्र की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। यहाँ हम उन्हीं आवश्यकताओं पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

---

1. "After giving full weight to all that appeared to me well-grounded in the arguments against democracy, I unhesitatingly decided in its favour."

   —Mill : Quoted by Hearnshaw in his *Democracy at the Crossways*, p. 48.

2. "Since the spirit of man was framed for wisdom and judgement, for responsibility, initiative and self-control : since a man without liberty is a being bereft of half of his method; the perfect common-wealth, the ideal towards which all social and political endeavour moves forward, is a society of freeman and women, each at once ruling and being ruled, each consciously giving his service for the benefit of all."

   Zimmern : *Nationality and Government*, p. 355.

3. "O! disrespectful democracy. I love thee."

   —Carpenter : Quoted by Harnshaw in his *Democracy at the Crossways*, p. 48.

यह आवश्यकताएँ स्थूल रूप से दो भागों में बाँटी जा सकती हैं—उन व्यक्तियों से संबंधित आवश्यकताएँ, जो लोकतन्त्र के प्रयोग में भाग लेते हैं तथा उन परिस्थिति से संबंधित आवश्यकताएँ, जिनमें लोकतन्त्र का प्रयोग होता है। परिस्थिति सम्बन्धी आवश्यकताओं को हम भौतिक आवश्यकताएँ भी कह सकते हैं। व्यक्तियों से सम्बन्धित आवश्यकताओं को दो भागों—नैतिक एवं बौद्धिक, तथा भौतिक आवश्यकताओं को आगे और तीन भागों—सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक में बाँटा जा सकता है। दोनों प्रकार की आवश्यकताएँ एक-दूसरे से बढ़कर अपरिहार्य हैं और दोनों में परस्पर साध्य और साधन जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

व्यक्तियों से संबंधित आवश्यकताएँ—लोकतन्त्र में साधारण व्यक्ति एक ही साथ कर्त्ता एवं कर्म अथवा शासक एवं शासित होता है। उसी के ऊपर अन्तिम रूप से लोकतन्त्र का भार एवं उत्तरदायित्व रहता है। अत: यह आवश्यक है कि व्यक्तियों का स्तर नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से ऐसा हो, जिससे लोकतन्त्र का प्रयोग सफल हो सके। दूसरे शब्दों में, यदि लोकतन्त्र के प्रयोग को सफल बनाना है, तो कुछ नैतिक एवं बौद्धिक आवश्यकताएँ हैं, जिन्हें पूरा करना व्यक्तियों के लिए आवश्यक है।

नैतिक आवश्यकताएँ—हर्नशा ने कहा है कि "लोकतन्त्र सिद्धान्तों का रूप अनिवार्यत: धार्मिक होता है।"[1] अत: धर्म की भाँति ही इसके लिए भी चरित्रशीलता की आवश्यकता होती है और यह आवश्यक होता है कि लोकतन्त्र के प्रयोग करने वाले व्यक्तियों का चरित्र कुछ नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित हो। जिन नैतिक सिद्धान्तों पर व्यक्तियों का चरित्र आधारित होना चाहिए उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं:

प्रथम, व्यक्तियों में स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ की भावना प्रबल होनी चाहिए। लोकतन्त्र की नींव मनुष्य की सहयोग की भावना में निहित होती है। इसका प्रारम्भ ही इस आधार पर होता है कि मनुष्य स्वभाव एवं आवश्यकतावश सामाजिक प्राणी है और इसलिए वह सदा अपने साथी मनुष्यों के साथ मिलकर चलता है और यह समझ कर कि उसका हित भी सार्वजनिक हित का अविभाज्य अंग है, सार्वजनिक हित की साधना के लिए कार्य करता है। लोकतन्त्र वस्तुत: नागरिकों को लोकसेवा की उस निस्वार्थ भावना पर फलता-फूलता है, जिसके कारण वे जानते हुए अपने क्षुद्र हितों को सार्वजनिक हितों के लिए बलिदान करते हैं। अत: यह आवश्यक है कि लोकतन्त्र के प्रयोग में भाग लेने वाले व्यक्तियों में परामर्श की भावना की प्रबलता हो जिससे मेरे-तेरे की भावना से ऊपर उठ कर वे सार्वजनिक हित की दृष्टि से कार्य कर सकें।

द्वितीय, नागरिकों में कर्त्तव्यपरायणता की भावना होनी चाहिए। लोकतन्त्र जनता द्वारा, जनता का, जनता के लिए शासन होता है। अत: यह आवश्यक है कि लोकतन्त्र के प्रयोगकर्त्ता व्यक्ति लोकतन्त्र से संबंधित कार्यों को कर्त्तव्य की दृष्टि से करें। लोकतन्त्र के

1. "The democratic principle is essentially religious in character."
—Hearnshaw : *Democracy at the Crossways*, p. 34.

अभिनय में कोरे दर्शक बन कर ही न रहें अपितु उसमें वे अभिनेता बन कर उसी लगन से कार्य करें जिस प्रकार धर्म का अनुयायी धर्म के लिए करता है। लोकतन्त्र को असफल बनाने वाली इससे अधिक भय की बात और कोई नहीं होती कि उसमें भाग लेने वाला नागरिक उसके प्रति उदासीन हो। ऐसी दशा में शासन-शक्ति अनुचित हाथों में पहुँच जाती है और लोकतन्त्र अधिनायकतन्त्र बन जाता है।

तृतीय, लोकतन्त्री देशें के नागरिकों को ईमानदार होना चाहिए। हम जानते हैं कि लोकतन्त्र में शासन-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विषयों और नीतियों से संबंधित निर्णय जनता द्वारा ही होते हैं। यदि नागरिक ईमानदार नहीं होंगे, तो वे. उन निर्णयों को ईमानदारीपूर्वक नहीं कर सकेंगे, तथा यदि उनका आदर्श ईमानदारी का होगा तो धन-दौलत का लालच, जाति-पाँति का लगाव, दलबन्दी और स्वार्थ उनके विवेक पर पर्दा नहीं डाल सकेंगे और उनके निर्णय के विवेकयुक्त होने के कारण शासन का संचालन भी विवेक एवं न्याय से होता रहेगा। वस्तुत: जनता की ईमानदारी की भावना और न्यायप्रियता पर ही लोकतन्त्र की सफलता निर्भर रहती है।

बौद्धिक आवश्यकताएँ—एकतन्त्र अथवा श्रेणीतन्त्र में राजसत्ताधारी एक व्यक्ति अथवा श्रेणी के बौद्धिक रूप में ठीक होने से राज्य चल सकता था, किन्तु लोकतन्त्र में चूँकि शासन का उत्तरदायित्व जनसाधारण का होता है, अत: यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण जनता का बौद्धिक स्तर ठीक हो। बौद्धिक दृष्टि से जनता में जिन गुणों का होना आवश्यक है, वे निम्नलिखित हैं:

प्रथम, सम्पूर्ण जनता में इतनी समझदारी (Common sense) होनी चाहिए, कि वे बुद्धिमता से प्रतिनिध्यात्मक सरकार का निर्वाचन कर सकें और देश की सभी प्रकार की आवश्यकताओं को भली-भाँति समझ सकें। लोकतन्त्री शासन की सच्ची सम्पन्नता तभी हो सकती है, जब साधारण जनता साझीदारी से युक्त हो और वह राज्य की समस्याओं को समझ कर उनके समाधान में अपना उचित सहयोग देने में समर्थ हो। समाज में अनेक कार्य ऐसे होते हैं जो राज्य के सूत्रों द्वारा पूरे नहीं किये जा सकते हैं। अत: उनको पूरा करने के लिये यह आवश्यक है कि जनसाधारण में समझदारी हो। जनता में समझदारी होनी चाहिए, इसका यही अभिप्राय नहीं है कि जनता उच्च शिक्षा प्राप्त हो, अथवा वह पढ़ने-लिखने में प्रवीण हो या गणित और विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों से पूर्णतया परिचित हो। समझदारी का अर्थ इतना ही है कि वह भले और बुरे की पहिचान कर सके, यह जान सके कि किस राजनीतिक दल के सिद्धान्त सार्वजनिक हित के लिए लाभप्रद हैं अथवा किन नेताओं के हाथ में देश की बागडोर सुरक्षित रह सकती है।

द्वितीय, जनता में निर्णय-शक्ति होनी चाहिए जिससे वह देश के समक्ष जो भी समस्याएँ आयें उन पर समयानुकूल अपना विवेकपूर्ण निर्णय दे सके। लोकतन्त्र का एक दोष यह बताया जाता है कि उसमें विचार-विनिमय के कारण निर्णय करने में अनावश्यक देरी होती हैं। यदि जनसाधारण की निर्णायक बुद्धि का स्तर अच्छा हो, तो लोकतन्त्र इस

दोष से मुक्त हो सकता है क्योंकि उस दशा में कठिन मामलों के निर्णय शीघ्र हो सकेंगे। आधुनिक जगत में निर्णायक बुद्धि की और भी अधिक आवश्यकता है, क्योंकि आजकल की समस्याएँ इतनी पेचीदा और शीघ्र निर्णय चाहने वाली होती हैं कि उनके विषय में जनता तब तक उचित और शीघ्र निर्णय नहीं ले सकती, जब तक उसकी निर्णय-शक्ति का स्तर अच्छा न हो। लोकतन्त्र में शासन लोकमत, विचार विनिमय तथा स्वस्थ आलोचना द्वारा चलता है। अतः यह नितान्त आवश्यक है कि जनता जिसमें लोकतन्त्री शासन की शक्ति निहित होती है, समझदार और अच्छी निर्णय-शक्ति वाली हो अन्यथा उचित विचार-विनिमय, स्वस्थ आलोचना और संयमित लोकमत इन तीनों में से एक भी सम्भव नहीं हो सकेगा।

भौतिक आवश्यकताएँ—मनुष्य जो कुछ बनता है, वह अपनी आन्तरिक शक्तियों के कारण तो बनता ही है, साथ ही उस पर उन परिस्थितियों का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है, जिनमें वह उत्पन्न होता है और जिनमें वह पलता है। इसलिए यदि जनता को उन्नत बनाना है, तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि उन परिस्थितियों को भी बनाया जाये जिनमें वह रहती है। अन्यथा परिस्थितियों के अनुकूल न होने से आन्तरिक दृष्टि से सद्‌गुणों से युक्त जनता भी उन्नत नहीं बन सकती। परिस्थितियाँ मनुष्य की उन्नति के लिए अनुकूल हों, इसके लिए कुछ ऐसी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आवश्यकताएँ हैं जिनका पूरा होना अनिवार्य होता है और जिनके बिना लोकतन्त्र पूर्ण सफल नहीं हो सकता।

सामाजिक आवश्यकताएँ—प्रथम सामाजिक आवश्यकता है कि समाज-व्यवस्था न्याय पर आधारित हो। सामाजिक न्याय के बिना लोकतन्त्र नहीं चल सकता। सामाजिक न्याय से तात्पर्य है कि समाज में जन्म, जाति, रंग, सम्प्रदाय और धर्म आदि के भेद के बिना मानव जगत में प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को समान आदर प्राप्त हो। सबके साथ कानून, न्याय और अवसर की दृष्टि से समान व्यवहार हो। जैसा **हर्नशा** ने कहा है "लोकतन्त्र की माँग है कि एक और सुविधा प्राप्त उच्च वर्ग अथवा लाभ उठाने वाले धर्म गुरुओं का वर्ग समाप्त हो, तो दूसरी ओर शोषित श्रमिक वर्ग अथवा दासता में फँसा हुआ किसान वर्ग समाप्त हो।"[1] इसका तात्पर्य यह है कि लोकतन्त्र में सामाजिक न्याय होना चाहिए। उसमें न कोई वर्ग सुविधा सम्पन्न रहे और न कोई सुविधा-रहित। उसमें तो सारी जनता का एक वर्गहीन समाज होना चाहिए।

दूसरी सामाजिक आवश्यकता यह है कि समाज में एकता की भावना होनी चाहिए। एकता की भावना भी ऐसी होनी चाहिए जिसके कारण देश के कौने-कौने में रहने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के साथ एकता के बन्धन में बँधे हों और व्यक्तिगत, सम्प्रदायगत अथवा वर्गगत हितों से ऊपर उठकर सम्पूर्ण देश के हित को अपने समक्ष रख कर उसकी साधना

---

1. "It demands elimination both of a privileged nobility or a benefitted clergy on the one side and an oppressed industrial proletariate or an oppressed industrial proletariate or an enslaved peasantry on the other."
—Hearnshaw : *Democracy at the Crossways,* p. 36.

कर सकें। इसी प्रकार की सामाजिक एकता से ही वह सामान्य इच्छा (General will) बनती है, जिसके आधार पर लोकतन्त्री शासन का संचालन होता है, प्रो. **हर्नशा** के इस कथन में कि "जिस जनता से लोकतन्त्री राज्य बनता है, इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के मतभेद होते हुए भी उसकी एक आवाज हो जाती है और अनेक सदस्यों की अस्वीकृति के उतार-चढ़ाव के होते हुए भी उसकी एक सामान्य इच्छा बन जाती है।"[1] इन्हीं एकता-सम्बन्धी आवश्यकताओं पर बल दिया है।

तीसरी सामाजिक आवश्यकता यह है कि लोकतन्त्र में जनता शिक्षित हो। यदि जनता यथेष्ठ रूप से शिक्षित होगी, तो निश्चय ही वह सार्वजनिक समस्याओं के समझने एवं उनका समाधान करने के लिये समर्थ होगी। शिक्षा वस्तुत: ऐसी वस्तु है जो व्यक्ति को विचारशील बनाती है और उसे इस बात का ज्ञान कराती है कि समाज में उसका क्या स्थान है। वही व्यक्ति को इस बात का ज्ञान कराती है वह स्वयं ही शासक और शासित है तथा वही उसे इस बात के लिए प्रेरित करती है कि अपने दोनों प्रकार के कर्त्तव्यों का पालन उत्तमता एवं योग्यतापूर्वक करे। आवागमन और संचार के साधनों की उन्नति के कारण संसार इतना छोटा हो गया है कि कोई भी देश संसार के अन्य देशों से पृथक् रहने की भावना के साथ रह ही नहीं सकता। अत: अपने राज्य के कार्यों के संचालन के लिये जनता के लिये यह आवश्यक है कि वह यह जाने कि देश और संसार के विभिन्न भागों में क्या हो रहा है। यह सब तब तक सम्भव नहीं हो सकता, जब तक जनता शिक्षित न हो। अत: शिक्षा लोकतन्त्र के सफल संचालन के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है।

आर्थिक आवश्यकताएँ—पहली आर्थिक आवश्यकता यह है कि समाज में आर्थिक समानता हो। निर्धनता और लोकतन्त्र साथ-साथ नहीं चल सकते। एक निर्धन व्यक्ति कर्त्तव्य और ईमानदारी के उच्च आदर्शों की ओर देख नहीं सकता। उसकी नैतिकता उसकी रोटी तक ही सीमित होती है। उसका मन रुपयों से खरीदा जा सकता है। उस समाज के प्रति उसका कोई लगाव नहीं हो सकता, जिसमें उसका भाग्य एक निर्धन मनुष्य का भाग्य हो। इसके अतिरिक्त निर्धन व्यक्ति में कुछ हीनता का भाव भी होता है और उसमें यह आत्मविश्वास नहीं होता जो लोकतन्त्र के नागरिक की एक मुख्य विशेषता होनी चाहिए। निर्धन व्यक्ति राजनीतिक अथवा सामाजिक लोकतन्त्र का लाभ नहीं उठा सकता। जब तक आर्थिक लोकतन्त्र का भी लाभ उसे प्राप्त न हो, तब तक वह राजनीतिक अथवा सामाजिक दृष्टि से मिली हुई अवसर की समानता से पूर्ण लाभ उठाने में वह बिल्कुल असमर्थ रहेगा।

---

1. "Not only does the democratic State assume the quasi organic unity of the community from which it is constituted, it also assumes that in spite of all the divergent opinions, it is able to speak with a single voice and that, in spite of the discordant volitions of its many members, it is possessed of a general will."

—Hearnshaw : *Democracy at the Crossways,* p. 44.

दूसरी आर्थिक आवश्यकता यह है कि अर्थ-सम्बन्धी न्यूनतम सुरक्षा सब को प्राप्त हो। यद्यपि लोकतन्त्र का आदर्श पूर्ण आर्थिक समानता होना चाहिए और इसके लिए लोकतन्त्री राज्य को सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए, तथापि आर्थिक न्यूनतम (Economic minimum) की सुरक्षा एक ऐसी स्थिति है, जिसके बिना हुए राजनीतिक अथवा सामाजिक लोकतन्त्र चल ही नहीं सकता। यह हम सभी जानते हैं कि व्यक्ति की सबसे प्रारम्भिक आवश्यकताएँ खाने, पहिनने, रहने आदि से सम्बन्धित होती हैं और जब तक उसकी यह आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती, वह जीवन के अन्य पहलुओं की परवाह नहीं करता। अत: व्यक्ति राज्य-सम्बन्धी मामलों की ओर आकर्षित हो कर उसमें भाग ले, इसके लिए यह आवश्यक है कि उसके लिए उसकी न्यूनतम आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के साधन प्राप्त हों।

राजनीतिक आवश्यकताएँ—पहली राजनीतिक आवश्यकता यह है कि देश में स्वतन्त्रता का वातावरण हो। लोकतन्त्र में शासन विचार-विनिमय द्वारा होता है तथा विभिन्न मतों की आलोचना उसकी आत्मा होती है। अत: लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि व्यक्तियों को अपनी सम्मति व्यक्त करने की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त हो। जब तक लोगों को विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता नहीं होगी, तब तक सबको सबके विचारों का ज्ञान नहीं हो सकेगा और न सरकार के कृत्यों की खुली और निर्भीक आलोचना ही हो सकेगी। परिणाम यह होगा कि शासन सर्वसाधारण के लोकमत के आधार पर न चलकर जिन लोगों को मत व्यक्त करने की सुविधा होगी, उसके मतानुसार चलेगा और वह इस प्रकार शुद्ध रूप में लोकतन्त्र न रहेगा। अत: लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि जनता को विचार भाषण तथा प्रेस सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो, जिससे स्वस्थ, स्वतन्त्र तथा लोक-कल्याणक लोकमत का निर्माण होता रहे।

दूसरी राजनीतिक आवश्यकता यह है कि सत्ताधारी दल विरोधी दलों अथवा अल्पसंख्यकों के विचारों का उचित आदर करे। दल-प्रणाली आधुनिक लोकतन्त्र का आधार है। अत: शासन के इस प्रकार में शासन का संचालन बहुसंख्यक दल द्वारा होता है और अन्य विरोधी दलों को केवल यही अधिकार प्राप्त होता है कि वे अपनी स्वस्थ आलोचना द्वारा सरकार के कृत्यों को उच्च आदर्श की ओर प्रेरित करने का उद्योग करते रहें। व्यवहार में यह तभी सम्भव हो सकता है जब बहुसंख्यक दल, जो सत्ताधारी दल होता है, विरोधी दल द्वारा व्यक्त विचारों का उचित आदर करे और पक्षपात रहित दृष्टि से उन पर विचार करके, उन्हें शासन-सम्बन्धी नीतियों के निर्माण में उचित स्थान प्रदान करे। यद्यपि शासन का वास्तविक कार्य बहुसंख्यक दल का ही होता है, तथापि उसे इस बात का उद्योग करना चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो वह विरोधी दलों का सहयोग भी प्राप्त करके चले। असहयोग की दशा में दलगत राजनीति का जोर हो सकता है और राष्ट्रीय हित की हानि होने के कारण लोकतन्त्र असफल हो सकता है।

तीसरी राजनीतिक आवश्यकता यह है कि देश में शान्ति और सुरक्षा हो। यदि देश में अशान्ति होगी और नागरिकों के जीवन की भी सुरक्षा नहीं होगी, तो जनता का ध्यान अपनी सुरक्षा पर ही केन्द्रित रहेगा और नागरिकता के कर्त्तव्यों की ओर उसका ध्यान

जा ही नहीं सकेगा। जब शांति का समय होता है, तो जनता को इस बात के लिए अवकाश मिलता रहता है कि देश के शासन से संबंधित कार्यों की ओर अपना ध्यान दे सके और उनमें सक्रिय सहयोग दे सके। व्यवहार में हमने देखा है कि युद्धकाल में निर्वाचन हटा देने पड़ते हैं अथवा देश का शासन एक व्यक्ति अथवा कुछ चुने हुए व्यक्तियों की समिति को सौंप दिया जाता है। उस समय में लोकतन्त्रीय ढंग से शासन का संचालन सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार लोकतन्त्र के सफल संचालन के लिये शान्ति और सुरक्षा का बना रहना अत्यन्त आवश्यक होता है।

चौथी राजनीतिक आवश्यकता यह है कि देश में स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था हो। यद्यपि स्थानीय स्वशासन एक प्रकार से लोकतन्त्र का ही भाग होता है तथापि इस भाग के अस्तित्व पर उसकी सफलता बहुत कुछ निर्भर करती है। लोकतन्त्र के सफल संचालन के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि जनता राजनीतिक रूप से शिक्षित हो। चूँकि स्थानीय स्वशासन ही वह पाठशाला है जहाँ जनता राजनीतिक शिक्षा का प्रथम पाठ ग्रहण करती है, अत: स्थानीय स्वशासन की प्राथमिक पाठशाला का अस्तित्व इसलिये आवश्यक है कि उसमें शिक्षा पाकर राजनीति के विद्यार्थी उच्चतर शिक्षालयों के लिये तैयार हो सकते हैं। चूँकि स्थानीय स्वशासन के अंगों—पंचायतों, जिला परिषदों, नगरपालिकाओं, आदि में प्राय: वैसा ही काम छोटे स्तर पर होता है, जैसा राज्य में बड़े स्तर पर होता है, अत: स्थानीय स्वशासन वह सीढ़ी होती है जिसके सहारे जनता राजकीय लोकतन्त्र के शासन की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँच सकती है।

SELECT READINGS

Beni Prasad : *A.B.C. of Civics*
Bluntschli : *Theory of the State.*
Bryce : *Modern Democracies*
Dicey : *Law and Opinion in England*
Garner : *Political Science and Government*
Gettell : *Readings in Political Science*
Gilchrist : *Principle of Political Science*
Hearnshaw : *Democracy at the Crossways*
Mill : *Representative Government*
Puntambekar : *Introduction to Civics & Politics*

❑❑❑

5
शासन के प्रकार
[संसदीय तथा अध्यक्षीय शासन]

"कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के सम्बन्ध के आधार पर सरकारों अथवा शासनों का वर्गीकरण मन्त्रिमण्डलीय, संसदीय अथवा उत्तरदायी शासन के रूप में तथा उस शासन के रूप में किया जा सकता है, जिसे और अधिक उपयुक्त शब्द न मिलने के कारण अध्यक्षीय शासन कहते हैं।" **—गार्नर**

राज्यों का वर्गीकरण करते समय कहा गया कि कार्यकारिणी तथा व्यवस्थापिका के सम्बन्ध के आधार पर यदि राज्यों का वर्गीकरण किया जाए, तो वह वर्गीकरण संसदीय शासन-प्रणाली और अध्यक्षीय शासन प्रणाली के रूपों में किया जा सकता है। यहाँ हम शासन के इन्हीं प्रकारों पर विस्तृत रूप में विचार करेंगे।

संसदीय शासन-प्रणाली (Parliamentary System of Government)

यह प्रणाली शासन की वह प्रणाली है, जिसमें कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण होता है। इस प्रणाली में कार्यपालिका व्यवस्थापिका की एक ऐसी समिति होती है, जो उसी से ली जाती है और उसी के प्रति उत्तरदायी होती है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की प्रणाली को केबिनेट शासन भी कहते हैं, क्योंकि इसके अन्तर्गत कार्यपालन की शक्ति एक व्यक्ति में निहित न होकर एक समिति (Cabinet) में निहित होती है और मुख्य कार्यपालक केवल नाम-मात्र का या ध्वजमात्र शासक होता है। संसदीय शासन-प्रणाली को उत्तरदायी शासन का प्रकार भी कहते हैं, क्योंकि इसके अन्तर्गत कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उसी प्रकार उत्तरदायी होती है, जिस प्रकार एक कार्यवाहक (Agent) अपने मालिक के प्रति अथवा कर्मचारी अपने स्वामी के प्रति उत्तरदायी होता है।

संसदीय शासन-प्रणाली की मुख्य विशेषतायें

इस प्रकार की शासन-प्रणाली की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित होती हैं—

वास्तविक व ध्वजमात्र कार्यपालक का भेद—इस प्रणाली की सबसे मुख्य विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत वास्तविक और ध्वजमात्र कार्यपालक में भेद होता है। कानूनी रूप का कार्यपालक केवल ध्वजमात्र कार्यपालक होता है जबकि वास्तविक कार्यपालक केबिनेट अर्थात् मन्त्रिमण्डल होता है। इंग्लैण्ड के राजा अथवा फ्रांस के राष्ट्रपति की तरह ध्वजमात्र कार्यपालक क्रमश: वंशाक्रमानुगत अथवा निर्वाचित हो सकता है तथा आजीवन अथवा नियत अवधि के लिए अपने पद पर रह सकता है। उसको प्राप्त शक्ति सर्वाङ्गीण तथा पूर्ण होती है और वह किसी के प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं होता। किन्तु वह सब केवल सिद्धान्त रूप से ही सत्य होता है। व्यवहार में वह केवल ध्वजमात्र कार्यपालक होता है। उसकी वह शक्तियाँ व्यवहार में वस्तुत: उन मन्त्रियों द्वारा प्रयोग में ली जाती है, जिनकी सहमति से उसे कार्य करना होता है।

कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का घनिष्ठ सम्बन्ध—संसदीय शासन प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक-दूसरे से पृथक् न होकर परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बद्ध होती हैं। वास्तविक कार्यपालिका की नियुक्ति ध्वजमात्र कार्यपालक द्वारा व्यवस्थापिका के सदस्यों में से की जाती है और वह व्यवस्थापिका के प्रति अपने कार्यों और नीतियों के लिए उत्तरदायी होती है। कार्यपालिका के सदस्य अर्थात् मन्त्रिगण तभी तक अपने पदों पर रहते हैं, जब तक उन्हें व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त रहता है। यदि व्यवस्थापिका कार्यपालिका के विरुद्ध अविश्वास व्यक्त कर दे तो उसे तुरन्त त्यागपत्र देना पड़ता है। इस प्रकार कार्यपालिका की स्थिति वस्तुत: व्यवस्थापिका की एक आश्रित समिति की होती है। फिर भी इसके सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि वह समिति कानून के निर्माण और उसे क्रियान्वित करने में पूर्ण रूप से भाग लेती है। सामान्यत: शासन की नीति का निर्धारण यही समिति करती है और यही प्रशासन का संचालन करती है। इसे ही यह निश्चय करना पड़ता है कि राष्ट्रीय नीति को क्रियान्वित करने के लिए किस प्रकार के व्यवस्थापन की आवश्यकता है। यह संसद में व्यवस्थापन प्रस्तुत करती है तथा उससे सम्बन्धित सम्पूर्ण प्रक्रिया में भाग लेती हैं। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल का स्वरूप व्यवस्थापन समिति तथा कार्यपालक यन्त्र जैसा होता है।

कार्यपालिका के कार्यकाल की अनिश्चितता—इस प्रणाली की एक विशेषता इसके कार्यकाल की अनिश्चितता है। इस प्रणाली में मन्त्रिमण्डल तब तक अपने पद पर रहता है जब तक उसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त रहे। अत: इस प्रकार की शासन प्रणाली में मन्त्रिमण्डल निश्चित नहीं होता। इस प्रकार इस प्रणाली में कार्यपालिका की स्थिति इस सम्बन्ध में उस कर्मचारी की तरह होती है जिसका नौकरी में बना रहना अपने स्वामी की प्रसन्नता पर निर्भर करता है।

संसदीय शासन प्रणाली के गुण—

इस प्रणाली में जो गुण पाये जाते हैं, उन्हें हम निम्न प्रकार रख सकते हैं—

कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के मध्य सामंजस्य—इस प्रणाली के अन्तर्गत कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में सहयोग एवं सामंजस्य बना रहता है। मन्त्रिगण व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं व अन्य सदस्यों से उनका निकट का सम्पर्क होता है। अत: उन्हें व्यवस्थापिका के बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है और वे विधेयक को सरलतापूर्वक पारित करा सकते हैं। इसी प्रकार व्यवस्थापिका के सदस्य भी मन्त्रिमण्डल के सदस्यों को आवश्यक कानून प्रस्तुत करने के लिए तैयार कर सकते हैं। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल और व्यवस्थापन में सामंजस्य बना रहता है। फलत: शासन और व्यवस्थापन के कार्यों में विरोधाभास उत्पन्न नहीं होता और सम्पूर्ण शासनसूत्र एक ऐसी इकाई के रूप में कार्य करता है, जिसका उद्देश्य एवं कार्य एक होता है। इसके अतिरिक्त कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का यह सामंजस्य राजकीय व्यय की अनुदान सम्बन्धी समस्याओं को सरल बना देता है। कहा जाता है कि राज्य का धन जनता का होता है, जनता के प्रतिनिधियों की व्यवस्थापिका होती है और उसकी प्रतिनिधि कार्यपालिका होती है, अत: दोनों आपसी सहयोग से जनता के धन का सदुपयोग करने में समर्थ होती हैं।

लोकमत व लोककल्याण का आदर—इस प्रणाली में लोकमत को उचित आदर प्राप्त होता है और उनके अनुसार लोक-कल्याणकारी कार्यों की साधना होती है। मन्त्रिगण व्यवस्थापिका के माध्यम से जनता के प्रतिनिधि होते हैं। अत: यह स्वाभाविक है कि वे व्यवस्थापिका के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाते हुए लोकमत का भी उचित आदर करें। इस प्रकार इस शासन प्रणाली में शासन-संचालन का परिणाम यह होता है कि लोकहित की साधना होती है। इसके अतिरिक्त मन्त्रिमण्डल निरंकुश भी नहीं होने पाते, क्योंकि उन्हें इस बात का भय रहता है कि उनके मनमानेपन का परिणाम यह भी हो सकता है कि जनता के प्रतिनिधियों की व्यवस्थापिका उन्हें पदच्युत कर दे। संसदीय प्रणाली में इस प्रकार आवश्यक रूप से शासन लोकमत के अनुकूल और लोक-कल्याण के उद्देश्य से प्रेरित होता है।

अवसर अनुकूलता—इस प्रणाली में यह गुंजाइश रहती है कि असाधारण अथवा संकटकालीन अवसरों पर शासन सूत्र किसी एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों के हाथों में दिया जा सके। संसद को यह अधिकार होता है कि ऐसे अवसरों पर कानून द्वारा वह किसी सर्वमान्य नेता अथवा कुछ व्यक्तियों की समिति को ऐसे अधिकार प्रदान कर दे, जिनके प्रयोग द्वारा वह अपनी योग्यता के अनुकूल शासन का संचालन करके संकटकाल में राज्य की नैया पार लगा दे। इसके अतिरिक्त ऐसे विशेष अवसरों पर इस प्रणाली के अन्तर्गत सर्वदलीय सम्मिलित सरकार भी बन सकती है, जिससे सबके सहयोग से विशेष अवसरों पर देश का शासन चलाया जा सके। इंग्लैण्ड में जहाँ संसदीय शासन प्रणाली है, अनेक बार ऐसा हो चुका है। 1914-1918 के महासमर में लायड जार्ज को ऐसी ही विशेष शक्ति

दी गई थी, जिसके प्रयोग द्वारा उन्होंने अपने नेतृत्व में महासमर का संचालन किया था। इसके बाद इंग्लैण्ड में आर्थिक-संकट के समय श्री रामजे मेकडानल्ड के नेतृत्व में संयुक्त सरकार बनाई गई थी। 1939-45 में द्वितीय महासमर के समर चर्चिल को अमर्यादित शासन-शक्ति प्रदान की गई थी और उनके मन्त्रिमण्डल में सभी दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित किये गये थे। अध्यक्षीय शासन में ऐसा सम्भव नहीं होता, क्योंकि निर्वाचित राष्ट्रपति निश्चित अवधि के पहले अपने पद से पृथक् नहीं किया जा सकता, चाहे जनता उसे संकटकालीन अवस्था में शासन संचालन के योग्य समझती हो या नहीं। इसी प्रकार अध्यक्षीय शासन में विभिन्न राजनीतिक दलों से आवश्यक रूप से सहयोग भी स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहाँ मन्त्रिपरिषद् की नियुक्ति ऐसे राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर होती है, जो अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापक विभाग के प्रति उत्तरदायी नहीं होता।

योग्य, अनुभवी व लोकप्रिय व्यक्तियों का शासन—इस प्रणाली में योग्य और अनुभवी व्यक्ति शासन का संचालन करते हैं और इसलिए शासन में दक्षता बनी रहती है। इस प्रणाली में जो लोग मन्त्रिपरिषद् के सदस्य नियुक्त किये जाते हैं, वे प्राय: संसद के योग्यतम व्यक्ति और जनता के नेता होते हैं। संसद के योग्य व्यक्ति होने के कारण वे शासन-कार्य को भली-भाँति समझते हैं और जनता के प्रतिनिधि होने के कारण वे शासन को जनहित की दृष्टि में रखकर संचालित करते हैं। इस प्रकार इस प्रणाली में शासन कार्य उन व्यक्तियों के हाथों में होता है, जो अपने अनुभव के कारण शासन कार्य में दक्ष ही नहीं होते, अपितु जो संसद के सदस्य होने के कारण लोकप्रिय भी होते हैं। ये दोनों बातें राष्ट्रपति के अधीन शासन-प्रणाली में सम्भव नहीं होतीं, क्योंकि उसके अन्तर्गत केवल राष्ट्रपति लोकप्रिय शासक होता है और मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्य उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति होते हैं।

संसदीय शासन प्रणाली के दोष

संसदीय शासन-प्रणाली में जो दोष पाये जाते हैं, उन्हें हम निम्न प्रकार रख सकते हैं—

शक्ति के पृथक्करण का उल्लंघन—इस प्रणाली का सबसे मुख्य दोष यह है कि यह शक्ति के पृथक्करण के उल्लंघन पर आधारित है। लोकतन्त्र का यह एक मुख्य सिद्धान्त है कि शासन व्यवस्थापन और न्याय सम्बन्धी शासन की शक्तियाँ अलग-अलग हाथों में रहें, जिससे जनता शक्ति के अनावश्यक केन्द्रीयकरण के दुष्प्रभाव से बची रहे। किन्तु शक्ति का यह पृथक्करण संसदीय शासन-प्रणाली में पूर्णत: सम्भव नहीं हो पाता, क्योंकि इसके अन्तर्गत मन्त्रिपरिषद् जिसके हाथों में शासन का कार्य होता है, उस व्यवस्थापिका की केवल एक समिति ही होती है, जिसका कार्य व्यवस्थापन करना होता है। आवश्यक कानूनों का स्वरूप निर्धारण करना, उनके विधेयक बनाना, उन्हें व्यवस्थापिका में प्रस्तुत करना तथा पारित कराना आदि अनेक ऐसे कार्य मन्त्रिपरिषद् द्वारा किये जाते हैं, जो मूलत: शासन-सम्बन्धी न होकर व्यवस्थापन सम्बन्धी होते हैं। इसी प्रकार मन्त्रिगण के कार्यों का सिंहावलोकन या उसकी आलोचना आदि अनेक ऐसे कार्य व्यवस्थापिका द्वारा किये जाते

हैं, जो मुख्यत: व्यवस्थापन-सम्बन्धी न होकर शासन-सम्बन्धी होते हैं। संसदीय प्रणाली में पाया जाने वाला शासन सम्बन्धी शक्तियों का यह सम्मिश्रण शक्ति के पृथक्करण के उस सिद्धान्त का उल्लंघन है, जिसे लोकतन्त्र का मूल माना जाता है।

दलीय अधिनायकतन्त्र का भय—इस प्रणाली में यह सरलतापूर्वक सम्भव हो सकता है कि शक्ति बहुमत वाले दल के हाथों में केन्द्रित हो जाए तथा उस दल का अधिनायकतन्त्र स्थापित हो जाए। जब तक व्यवस्थापिका में बहुमत बना रहे, सत्ताधारी दल मनमानी कर सकता है और जनसाधारण के हितों का हनन कर सकता है। इसके अतिरिक्त जो बहुसंख्यक दल एक बार सत्ता प्राप्त कर लेता है, वह इस बात की कोशिश करता है कि वह सत्ता हथियाता रहे और इसके लिए वह अनेक भ्रष्ट उपायों तक का सहारा लेने से नहीं चूकता। निर्वाचन के समय ही वह ऐसे साधनों का प्रयोग करके सत्ता प्राप्त करने का उद्योग नहीं करता, अपितु सत्तारूढ़ होकर भी वह सार्वजनिक हित की दृष्टि से नहीं अपितु दलीय हित साधन की दृष्टि से शासन करता है। इस प्रकार संसदीय शासन प्रणाली में सरलतापूर्वक शासक का स्वरूप दलीय अधिनायक का हो जाता है।

इस दलीय अधिनायकतन्त्र के परिणामस्वरूप दलबन्दी के कुपरिणाम भी देश को भुगतने पड़ते हैं। बहुमत दल का कार्य साधारणत: अपने दल के हितों की दृष्टि से शासन चलाना और विरोधी दल का कार्य साधारणत: सत्तारूढ़ दल के प्रत्येक अच्छे-बुरे कृत्य का विरोध करके अपना बहुमत बनाना ही होता है। दोनों दल जो कार्य करते हैं, उसका आधार सार्वजनिक हितों का साधन न होकर बहुमत की प्राप्ति होता है। जैसा **लार्ड ब्राइस** ने कहा है ''इस प्रणाली में दलबन्दी की भावना बहुत प्रबल होती है। राष्ट्र के समक्ष किसी महत्त्वपूर्ण नीति से सम्बन्धित प्रश्न हो तब भी पदों की प्राप्ति के लिए संघर्ष जारी रहता है। एक दल पदारूढ़ है, दूसरा पद अपने लिए चाहता है और झगड़े का अन्त नहीं होता। व्यवस्थापिका में इसके कारण समय और शक्ति का अत्यधिक अपव्यय होता है। यद्यपि सिद्धान्त रूप में विरोधी दल का कार्य यह है कि वह केवल बुरे प्रस्तावों का विरोध करे तथा प्रशासन के केवल बुरे कृत्यों की आलोचना करे, परन्तु व्यवहार में वह उनके प्राय: सभी प्रस्तावों का विरोध करता है और उनके सभी कृत्यों की आलोचना करता है।''[1]

मन्त्रिमण्डल की अस्थिरता—इस प्रणाली का अन्य दोष यह है कि इसके अन्तर्गत मन्त्रिमण्डल का कार्यकाल निश्चित न होकर व्यवस्थापिका के समर्थन पर आधारित होता है। परिणाम यह होता है कि कार्यपालिका उन योजनाओं को पूर्ण रूप से क्रियान्वित नहीं

1. "It intensifies the spirit of party and keeps it always on the boil. Even if there are no important issues of policy before the nation, there are always the offices to be fought for. One party holds them, the other desires them and conflict is unending .... In the legislature it involves an immense waste of time and force. Though in theory the duty of the opposition is to oppose only the bad measures and to expose only the misdoings of the administration, in practice it opposes most of their measures and criticise most of their acts."
—Lord Bryce : *Modern Democracies,* Vol. II, pp. 466-468.

कर पाती, जिनके पूरे होने के लिए अधिक समय की आवश्यकता होती है। मन्त्रिमण्डल की अस्थिरता उन देशों में और भी अधिक होती है, जिनमें अनेक राजनीतिक दल होते हैं और जिनमें कोई भी राजनीतिक दल पर्याप्त रूप से स्थायी सरकार नहीं बना पाता। तीसरे और चौथे गणराज्य-संविधान के अन्तर्गत फ्रांस में यही स्थिति रही थी। वहाँ प्रायः चार-छः महीने में मन्त्रिमण्डल बदल जाया करते थे क्योंकि कोई भी एक दल बहुमत में न होने से मन्त्रिमण्डल को अनेक दलों का समर्थन प्राप्त करना होता था जो अपेक्षाकृत लम्बी अवधि तक प्राप्त नहीं रहता था। मन्त्रिमण्डल की यह अस्थिरता शासन-सम्बन्धी नीतियों को कार्यान्वित करने की दृष्टि से बहुत हानिकर होती है तथा ऐसी स्थिति में किसी भी कार्यक्रम या नीति को क्रियान्वित करना बड़ा कठिन होता है। इसके विपरीत उन देशों में जहाँ कोई एक दल पूर्ण बहुमत में होता है प्रायः ऐसी स्थिति नहीं होती हैं तथा दलीय अनुशासन के कारण वहाँ मन्त्रिमण्डल अधिक स्थिर होते हैं। इंग्लैण्ड व भारत में अधिकतर ऐसे ही मन्त्रिमण्डल रहे हैं।

शीघ्र निर्णय का अभाव—संसदीय प्रणाली के अन्तर्गत नीति सम्बन्धी प्रस्ताव उतनी शीघ्रता के साथ पारित नहीं किये जा सकते हैं, जितनी शीघ्रता के साथ उन्हें करने की आवश्यकता असाधारण तथा संकटकालीन परिस्थितियों में होती है। पृथक्-पृथक् मन्त्रियों के होते हुए, उस समय शीघ्र निर्णय करने में बड़ी कठिनाई होती है जब राज्य को किसी परिस्थिति विशेष अथवा युद्ध की आपत्ति का सामना करना पड़ता है। युद्ध की आपत्ति के समय के लिए तो यह इसलिए अनुपयुक्त है कि बिना खुले विवाद के इस प्रणाली में निर्णय नहीं किये जा सकते और इस दशा में यह गोपनीयता नष्ट हो जाती है, जिसकी युद्ध आदि संकट काल में अति आवश्यकता होती है।

अनभिज्ञों का शासन—इस प्रणाली के गुणों का विवेचन करते हुए यह कहा गया है कि इसमें शासन लोकप्रिय व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। परन्तु कुछ लोगों के विचारानुसार यही इस प्रणाली का दोष है, क्योंकि इस प्रकार से शासन की बागडोर कोरे अनाड़ियों के हाथ में सौंप दी जाती है। उनका कहना है कि जिन व्यक्तियों को लोकप्रिय मन्त्री कहा जाता है और जिन्हें शासन के विभिन्न भागों का उत्तरदायी बना दिया जाता है, वस्तुतः वे शासन से अनभिज्ञ व्यक्ति होते हैं, उनमें से अधिकतर तो ऐसे होते हैं, जिन्हें मन्त्रिमण्डल में आने से पहले शासन-कार्य का कोई अनुभव प्राप्त नहीं होता। मन्त्रिमण्डल में आने के पश्चात् भी उन्हें शासन-कार्य का अनुभव प्राप्त करने का अवसर बहुत कम मिलता है, क्योंकि उनका अधिकतर समय संसदीय वाद-विवाद अथवा फिर अपने संसद सदस्य व मन्त्री चुने जाने की व्यवस्था में निकल जाता है, जिसके लिए उन्हें सदा सार्वजनिक सभाओं में भाषण देने जैसे कार्यों को करते फिरते रहना पड़ता है। इस प्रकार इस प्रणाली में जो व्यक्ति शासन के विभागों के मन्त्री बनते हैं, वे शासन के सम्बन्ध में अनाड़ी होते हैं और प्रायः वैसे ही चले जाते हैं। अतः बहुत से लोग इस बात के प्रबल प्रतिपादक हैं कि संसदीय प्रणाली में जो शासन होता है उसे या तो अनाड़ियों का शासन कहा जा सकता है या कर्मचारीतन्त्र (Bureaucracy); क्योंकि जबकि मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को शासन कार्य

के संचालन का समय प्राय: नहीं मिलता, तो इसे कर्मचारीगण का शासन ही कहा जा सकता है जो उसे वास्तव में सम्भालते हैं।

मन्त्रिपरिषदीय अधिनायकवाद की प्रवृत्ति—मन्त्रिपरिषदीय शासन का एक अन्य दोष उसकी यह प्रवृत्ति है कि सम्पूर्ण शासन शक्ति मन्त्रिपरिषद् के हाथ में आ जाती है और संसद उसके हाथों की कठपुतली बन जाती है। ऐसा प्राय: देखा गया है कि मन्त्रिपरिषद् का कार्य-क्षेत्र व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों अथवा उसके द्वारा निर्णीत नीतियों को क्रियान्वित करने तक ही सीमित न रह कर इतना बढ़ जाता है कि वह प्राय: व्यवस्थापन पर भी छा जाता है। प्राय: सर्वत्र संसद सदस्यों की संख्या इतनी अधिक होती है कि उनके लिए व्यवहार रूप में कानून बनाने का कार्य करना असम्भव होता है। परिणाम यह होता है कि सभी कानूनों का वास्तविक निर्माण मन्त्रिपरिषद् करती है और मन्त्रिपरिषद् ही यह निश्चय करती है कि कौनसे कर जनता पर बढ़ाये या घटाये जायें। संसद का कार्य इतना अवश्य होता है कि मन्त्रिपरिषद् के किये हुए निर्णयों पर तथा उसके द्वारा निर्मित कानूनों पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे। इस प्रकार सिद्धान्त रूप में जहाँ व्यवस्थापिका को कार्यपालिका से ऊपर नियन्त्रण करना चाहिए, वहाँ व्यवहार में कार्यपालिका व्यवस्थापिका पर नियन्त्रण करती है और संसदीय शासन प्रणाली में एक प्रकार से मन्त्रिपरिषद् का अधिनायकतन्त्र स्थापित हो जाता है।

अध्यक्षीय शासन प्रणाली (Presidential System of Government)

इस शासन-पद्धति में कार्यपालिका वैधानिक रूप से व्यवस्थापिका से पृथक् होती है। न तो वह उसमें ले ली जाती है और न उनके प्रति उत्तरदायी होती है। इस शासन प्रणाली में मुख्य कार्यपालक ध्वजमात्र शासक न होकर वास्तविक शासक होता है और संविधान द्वारा दी हुई शक्तियों का आबाधित प्रयोग करता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार की शासन प्रणाली में भी एक मन्त्रिपरिषद् होती है, जो मुख्य कार्यपालक को उसके कार्य में सहायता देती है; किन्तु उसके व्यक्ति व्यवस्थापिका से लिए हुए नहीं होते और वे व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी न होकर मुख्य कार्यपालक के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इसके अतिरिक्त मुख्य कार्यपालक का कार्यकाल संविधान द्वारा निश्चित होता है और व्यवस्थापिका से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों का कार्यकाल मुख्य कार्यपालक की मर्जी पर निर्भर करता है।

अध्यक्षीय शासन प्रणाली की विशेषताएँ

कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का पृथक्करण—इस शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका से कार्यपालिका पूर्णत: पृथक् होती है। न तो वह व्यवस्थापिका से ली जाती है और न वह उसके प्रति उत्तरदायी ही होती है। इसलिए व्यवस्थापिका के निन्दा अथवा अविश्वास के प्रस्ताव का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। व्यवस्थापिका द्वारा उसे पद से हटाया जा सकता है परन्तु ऐसा तब हो सकता है जब उस पर महाभियोग (Impeachment)

सिद्ध हो जाए। परन्तु महाभियोग की प्रक्रिया बड़ी कठिन होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के लम्बे समय के इतिहास में एक महाभियोग रखा गया था और वह भी पारित नहीं हो सका था। अत: कार्यपालिका की सत्ता व्यवस्थापिका से पूर्णतः स्वतन्त्र और पृथक् होती है।

कार्यपालिका की वास्तविक शक्ति—इस पद्धति में राज्य-शक्ति वास्तविक रूप में राज्य के अध्यक्ष द्वारा प्रयुक्त की जाती है और वह ध्वजमात्र व वास्तविक दोनों प्रकार का शासक होता है। इस प्रणाली में मुख्य कार्यपालिका को एक ओर यदि वास्तविक शक्ति प्राप्त होती है, तो दूसरी ओर वह ध्वज मात्र कार्यपालिका के कार्य भी करता है। एक ओर यदि वह शासन का वास्तविक संचालन करता है, तो दूसरी ओर वह औपचारिक (Ceremonial) गतिविधियों में भी राज्य का नेतृत्व करता है। वस्तुतः मुख्य कार्यपालिका या राष्ट्रपति अपने दल का नेता भी होता है और वह राष्ट्र का नेता भी होता है। उसे अपने दल की उन नीतियों और कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना होता है जिन्हें मतदाता स्वीकृति प्रदान करते हैं और उसे ही दलगत विचारधारा से ऊपर उठकर राष्ट्र की आवाज भी बनना होता है।

कार्यपालिका के कार्यकाल की निश्चितता—इस प्रणाली में मुख्य कार्यपालक का निर्वाचन एक निश्चित समय के लिए होता है और उसके कार्यकाल का व्यवस्थापिका के विश्वास अथवा अविश्वास से कोई सम्बन्ध नहीं होता। सिवाय महाभियोग के द्वारा उसे उस कार्याविधि से पहले किसी अन्य प्रकार से हटाया नहीं जा सकता।

अध्यक्षीय और संसदीय शासन-प्रणालियों का अन्तर

इस प्रकार हम देखते हैं कि अध्यक्षीय शासन प्रणाली और संसदीय शासन-प्रणाली में कुछ मुख्य अन्तर है। उन अन्तरों को हम निम्न प्रकार रख सकते हैं—

मुख्य कार्यपालक की स्थिति से सम्बन्धित अन्तर—संसदीय शासन-प्रणाली में मुख्य कार्यपालक केवल नाममात्र का कार्यपालक होता है। वह राज्य करता है, शासन नहीं। यद्यपि शासन के सब कार्य संसदीय प्रणाली में मुख्य कार्यपालक के नाम से ही किये जाते हैं, तथापि शासकीय निर्णय मन्त्रियों द्वारा किये जाते हैं। मुख्य कार्यपालिका का कार्य इतना होता है कि वह संसद के अधिवेशनों का उद्‌घाटन करे, संसद द्वारा पारित विधियों को स्वीकृति प्रदान करे या अन्य ऐसे ही औपचारिक कार्यक्रमों का नेतृत्व करे। अध्यक्षीय शासन प्रणाली में राष्ट्रपति द्वारा ये सारे औपचारिक कार्य तो सम्पादित किये ही जाते हैं, इसके साथ-साथ वह वास्तविक शासक भी होता है। शासन के सब कार्य उसके नाम से तो किये ही जाते हैं, साथ ही उससे सम्बन्धित निर्णय भी वही करता है। उसकी शक्ति नाममात्र की न होकर वास्तविक होती है। कानून द्वारा प्राप्त अपने अधिकारों का वह स्वयं वास्तविक प्रयोग करता है।

व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के सम्बन्ध से सम्बन्धित अन्तर—संसदीय शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका का सम्बन्ध शक्ति के पृथक्करण पर आधारित न होकर सहयोग पर आधारित होता है। उसमें कार्यपालिका की स्थिति व्यवस्थापिका

की उपसमिति जैसी होती है। वह व्यवस्थापिका में से ही चुनी जाती है और कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका की बैठकों में भाग लेते हैं और व्यवस्थापन कार्य में उसका पथ-प्रदर्शन करते हैं। चूँकि वे अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं, अत: यदि व्यवस्थापिका उनके किसी कार्य को अस्वीकृत करदे अथवा उनके विरुद्ध निन्दा अथवा अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार कर दे, तो उन्हें पदत्याग करना पड़ता है। इस प्रकार सिद्धान्त रूप से कार्यपालिका की स्थिति व्यवस्थापिका के अधीन उसकी एक उपसमिति की होती है। परन्तु अध्यक्षीय शासन में दोनों का सम्बन्ध शक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित होता है। इसमें कार्यपालिका की स्थिति व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र व उसकी समानपदी होती है और संविधान द्वारा निश्चित अपने-अपने क्षेत्र में ते साधारणत: स्वतन्त्र होती है। कार्यपालिका इस पद्धति में न व्यवस्थापिका में से ली जाती है। और न इसके प्रति उत्तरदायी होती है। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका की बैठकों में न भाग लेते हैं और न व्यवस्थापन कार्य का कोई प्रत्यक्ष पथ-प्रदर्शन करते हैं। व्यवस्थापिका का उनके विरुद्ध निन्दा अथवा अविश्वास का प्रस्ताव उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इस प्रकार इस पद्धति में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की स्थिति समानता की स्थिति होती है।

अधिकार व कर्त्तव्यों से सम्बन्धित अन्तर—संसदीय शासन-प्रणाली में मन्त्रिपरिषद् के सदस्य अपने-अपने विभागों का शासन ही नहीं चलाते हैं, अपितु वे व्यवस्थापन सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य भी करते हैं। उन्हीं के द्वारा व्यवस्थापन के सरकारी विधेयक व्यवस्थापिका में प्रस्तुत किये जाते हैं और वे ही उन्हें पारित कराते हैं। संक्षेप में, वे अपने-अपने विभाग के सर्वेसर्वा होते हैं और चूँकि उन्हीं की मन्त्रणा के अनुसार सम्बन्धित विभागों के कार्य चलते हैं, अत: उन्हें मन्त्री कहा जाता है। इसके विपरीत अध्यक्षीय शासन-प्रणाली में मुख्य कार्यपालिका का सलाहकार मण्डल वस्तुत: मन्त्रिपरिषद् (Cabinet Ministers) न होकर सचिव-मण्डल (Secretariat) होता है, क्योंकि सदस्यों का स्तर मन्त्री (Minister) का न होकर सचिव (Secretary) का होता है और वे राष्ट्रपति के मन्त्री न होकर सचिव होते हैं। अतएव व्यवस्थापन-सम्बन्धी विधेयकों आदि को प्रस्तुत करने अथवा उन्हें पारित करने से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता।

कार्यकाल से सम्बन्धित अन्तर—संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका का कार्यकाल व्यवस्थापिका के विश्वास पर निर्भर होता है। जितने समय तक उसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त रहता है, उतने समय तक ही कार्यपालिका अपने पद पर रह सकती है। इस प्रकार संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका का कार्यकाल अनिश्चित होता है। परन्तु राष्ट्रपति के अधीन शासन प्रणाली में ऐसा नहीं होता। उसके अन्तर्गत कार्यपालिका का कार्यकाल संविधान द्वारा निश्चित होता है और उसका व्यवस्थापिका से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

अध्यक्षीय शासन-प्रणाली के गुण :

इस प्रकार के शासन में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं—

शासन संगठन का स्थायित्व व उसकी क्षमता—अध्यक्षीय शासन-प्रणाली में मुख्य-कार्यपालक जनता द्वारा निश्चित समय के लिए निर्वाचित होता है और उसका कार्यकाल

व्यवस्थापिका की परिवर्तनीय इच्छा पर निर्भर नहीं होता। कार्यकाल की उस निश्चितता का यह परिणाम होता है कि शासन-सम्बन्धी नीति और कार्य-संचालन में स्थायित्व बना रहता है। एक निश्चित कार्यकाल के लिए पदारूढ़ राष्ट्रपति उन सब कार्यक्रमों को पूर्ण निश्चितता और भरोसे के साथ पूरा कर सकता है जिनको पूरा करने के लिए वह जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है। उसे व्यवस्थापिका के निंदा अथवा अविश्वास प्रस्ताव का कोई भय नहीं होता। इसके अतिरिक्त चूँकि कार्यपालिका की शक्ति व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होती है, अत: वह अधिक साहस, स्वतन्त्रता और निर्णय-कुशलता से कार्य कर सकता है। चूँकि उसके सदस्यों को व्यवस्थापिका में बैठकर व्यवस्थापन कार्य के पथ-प्रदर्शन में समय नहीं व्यतीत करना पड़ता, अत: वे अपना सम्पूर्ण समय पूर्ण मनोयोग के साथ शासन कार्य में लगा सकते हैं। राज्य-शक्ति और शासन कार्यों का पूर्ण पृथक्करण होने के कारण इस प्रणाली में कार्यपालिका का कार्य केवल शासन का संचालन ही होता है, अत: शासन कार्य अधिक कुशलतापूर्वक चलता है। इस प्रकार राष्ट्रपति के अधीन शासन-प्रणाली में शासन में स्थायित्व और कुशलता बनी रहती है।

असाधारण परिस्थितियों के लिए उपयुक्तता—असाधारण परिस्थितियों अथवा संकटकालीन अवस्था के लिए अध्यक्षीय शासन अत्यन्त उपयुक्त होता है। जैसा ऊपर कहा गया है, इस प्रणाली में शासन की शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है और उसके सचिव-मण्डल के सदस्यों का कार्य राष्ट्रपति द्वारा निर्मित नीति को कार्यान्वित करना होता है। इस प्रकार इस शासन-प्रणाली में मतभेदों की सम्भावना नहीं होती और न नीतियों के सम्बन्ध में कोई विवाद होने की सम्भावना ही होती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत शीघ्र निर्णय और सरलीकृत कार्यप्रणाली सम्भव है जो संसदीय अथवा मन्त्रिपरिषदीय प्रणाली में नहीं है। चूँकि विशेष परिस्थितियों में अथवा युद्ध आदि की संकटकालीन अवस्थाओं में निर्णय की शीघ्रता और कार्य की तत्परता की अति आवश्यकता होती है, अत: अध्यक्षात्मक शासन की प्रणाली ऐसी परिस्थितियों और अवस्थाओं के लिए अत्यन्त उपयुक्त समझी जाती है।

राष्ट्रीय एकता का सम्वर्द्धन—इस प्रणाली में राष्ट्रीय एकता दृढ़ होती है और दलबन्दी की बुराइयों को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता। यह ठीक है कि इस प्रणाली वाले देशों में भी सुसंगठित राजनीतिक दल होते हैं, किन्तु उनके कार्यकलाप अधिकतर निर्वाचन के समय ही देखने में आते हैं और इसके बाद उनके लिए ऐसे अवसर ही नहीं होते कि वे अपनी दलबन्दी का प्रयोग करके दलीय हितों की साधना कर सकें। एक बार राष्ट्रपति का चुनाव होने के बाद सभी राजनीतिक दलों को एक निश्चित समय के लिए यह मानना पड़ जाता है कि अब उतने समय तक उन्हें चुप रहना ही पड़ेगा, क्योंकि संसदीय प्रणाली की भाँति निन्दा अथवा अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा राष्ट्रपति को पद से पृथक् नहीं किया जा सकता। इस प्रकार दलबन्दी के दलदल से कम से कम एक निश्चित काल के लिए छुटकारा ही नहीं मिल जाता और एकता की भावना को प्रोत्साहन ही नहीं मिलता, अपितु इससे शासन और व्यवस्थापन की कार्य-कुशलता भी बढ़ती है, क्योंकि राष्ट्रपति निश्चित होकर, दलबन्दी की चिन्ता छोड़कर शासन-कार्य करता है और व्यवस्थापिका के सदस्य दलबन्दी

से विमुख होकर शासन द्वारा प्रस्तावित कानूनों की आलोचना करने और ऐसे कानूनों को स्वीकृत करने में अपनी शक्ति को लगाते हैं, जो राज्य के लिए हितकर हों। इस प्रकार संसदीय शासन-प्रणाली में दलबन्दी की भावना जहाँ स्थायी बनी रहती है, अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में वह अस्थायी होती है और इसके अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता का संवर्द्धन होता है।

राज्यशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का पालन—यह शासन-प्रणाली लोकतन्त्रवाद के उस सिद्धान्त के अधिक अनुकूल है, जिसे राज्य-शक्ति के पृथक्करण का सिद्धान्त कहते हैं और जिसके अनुसार यह आवश्यक समझा जाता है कि कार्य-पालन, व्यवस्थापन एवं न्याय सम्बन्धी शासन की शक्तियाँ पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के हाथों में हों। इसका यह तात्पर्य नहीं कि शासन के इन तीनों अंगों का एक-दूसरे से कोई सरोकार नहीं होता। वस्तुतः इनमें सहयोग व इनके कार्यों के संयोजन के लिए एक अन्य सिद्धान्त होता है जिसे 'नियन्त्रण व सन्तुलन' का सिद्धान्त कहते हैं।

अध्यक्षीय शासन के दोष

इस प्रकार के शासन के निम्न दोष माने जाते हैं—

निरंकुशता की सम्भावना—इस प्रणाली के आलोचकों का कहना है कि इसके अन्तर्गत सरकार के निरंकुश होने की सम्भावना अधिक रहती है, क्योंकि इसमें मुख्य कार्यपालक अपने कार्यकाल के लिए निर्वाचित होने के पश्चात् न जनता के नियन्त्रण में रहता है और न उन निर्वाचित प्रतिनिधियों के नियन्त्रण में रहता है, जो व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं। वह अपनी शक्ति का प्रयोग जैसे चाहे वैसे कर सकता है और नियमानुसार न व्यवस्थापिका को और न जनता को कोई ऐसी शक्ति प्राप्त होती है, जिससे वह उसे ठीक मार्ग पर ला सके, क्योंकि वह अपने कार्यों के लिए किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। राष्ट्रपति को उसके पद से महाभियोग सिद्ध करके अवश्य हटाया जा सकता है, किन्तु ऐसा करना साधारणतः सरलतापूर्वक सम्भव नहीं होता। फिर यह किसी अत्यन्त गम्भीर अपराध के लिए ही लगाया जा सकता है। अतः ऐसे कार्यों को छोड़कर जिनके लिए महाभियोग लगाया जा सके, वह जो चाहे सो मनमानी कर सकता है। यह सम्भव हो सकता है कि राष्ट्रपति इस भय से कि वह फिर दुबारा उस पद के लिए नहीं चुना जा सकेगा, लोकमत के अनुसार कार्य करे, किन्तु यदि वह दुबारा राष्ट्रपति बनने की लालसा छोड़ दे, तो फिर वह पूर्ण निरंकुशता से शासन कर सकता है। वस्तुतः अमरीका के सन्दर्भ में हम यही देखते हैं कि विभिन्न राष्ट्रपतियों के काल में वहाँ शनैः-शनैः व्यवस्थापिका की शक्तियाँ सीमित की जाती रही हैं। विशेष कर विदेश नीति एवं युद्ध घोषणा सम्बन्धी नीति के क्षेत्रों में ऐसा हुआ है।

कुशासन की सम्भावना—इस शासन-प्रणाली में शासन और व्यवस्थापन विभाग पूर्णतः पृथक् होते हैं। उनमें कोई समन्वय और सामंजस्य नहीं होता। न तो शासन विभाग को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह व्यवस्थापन में प्रत्यक्ष रूप से कोई भाग ले सके

और न व्यवस्थापन विभाग को इस बात का अधिकार होता है कि वह शासन विभाग के कार्यों पर कोई प्रत्यक्ष नियन्त्रण रख सके। न व्यवस्थापन विभाग नियमित रूप से यह ठीक से जान सकता है कि शासन-विभाग किस प्रकार का व्यवस्थापन चाहता है और न शासन विभाग नियमित रूप से यह जान सकता है कि व्यवस्थापन-विभाग किस प्रकार शासन का संचालन चाहता है। परिणाम यह हो सकता है, विशेषत: तब जब राष्ट्रपति बहुमत दल का व्यक्ति न हो, शासन का संचालन दक्षतापूर्ण ढंग से नहीं हो सकता। ऐसी दशा में राष्ट्रपति व शासन-विभाग जिन कानूनों को राज्य के लिए हितकर समझते हैं, उन्हें व्यवस्थापन विभाग द्वारा स्वीकार कराना सुगम नहीं होता और न जिस योजना को वे शासन-विभाग के संचालन के लिए आवश्यक समझते हैं उसकी स्वीकृति ही मिल पाती है। इस प्रकार इस शासन-प्रणाली में ऐसे कुशासन की सम्भावना रहती है, जिसमें गत्यावरोध और रोज की खींचतान का बोलबाला हो।

असाधारण परिस्थितियों के लिए अनुपयुक्त—इस प्रणाली के समर्थक कहते हैं कि अध्यक्षात्मक शासन असाधारण परिस्थितियों के लिए उपयुक्त होता है और उसके लिए यह तर्क उपस्थित करते हैं कि राष्ट्रपति असाधारण परिस्थितियों में उनके अनुकूल शासन तत्परतापूर्वक चला सकता है। किन्तु दूसरी दृष्टि से यदि इसे देखा जाए तो यह विशेष परिस्थितियों के लिए उपयुक्त नहीं सिद्ध होता। इस व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिए होता है और उन्हें उनकी कार्यावधि के अन्त से पहले हटाया नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में, यह समझ लिया जाता है कि कार्यावधि में राज्य के समक्ष वे ही समस्याएँ आयेंगी अथवा उसे केवल वे ही कार्यक्रम पूरे करने पड़ेंगे, जिनको लेकर चुनाव लड़ा गया था। किन्तु ऐसा समझ लेना त्रुटिपूर्ण है। भविष्य सदा अनिश्चित होता है और यह सदा सम्भव नहीं होता कि प्रत्येक कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका भविष्य में आने वाली सभी समस्याओं का सफल समाधान कर सके। ऐसी दशा में यह सम्भव है कि जनता राष्ट्र का नेतृत्व बदलना चाहे, किन्तु ऐसा होना राष्ट्रपति के अधीन शासन में सम्भव नहीं होता, क्योंकि उसके अन्तर्गत राष्ट्रपति और व्यवस्थापिका का कार्यकाल निश्चित होता है। अत: इस प्रकार की शासन प्रणाली विशेष परिस्थितियों के लिए उपयुक्त न होकर अनुपयुक्त ही समझी जा सकती है।

उत्तरदायित्व की अवहेलना—इस शासन-प्रणाली में यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता कि शासन और व्यवस्थापन में निर्बलता अथवा बुराई के लिए शासन विभाग अथवा व्यवस्थापन विभाग में से कौन उत्तरदायी है। व्यवस्थापिका जो कानून या प्रस्ताव पारित करती है, स्वतन्त्र रूप से करती है और शासन-विभाग कह सकता है कि हानि का उत्तरदायित्व कानून पारित करने वाले विभाग अर्थात् व्यवस्थापन विभाग का है और व्यवस्थापन-विभाग कह सकता है कि उत्तरदायित्व कानून के अनुसार शासन चलाने वाले विभाग अर्थात् शासन-विभाग का है, क्योंकि वे दोनों एक-दूसरे से पृथक् होते हैं। इस प्रकार दोनों विभागों में अपने-अपने उत्तरदायित्व की इस प्रकार की अवहेलना से राज्य के हित की हानि होने की सम्भावना रहती है।

शासन की एकता के सिद्धान्त का उल्लंघन—यह शासन प्रणाली शासन के सम्बन्ध में प्रचलित उस सिद्धान्त का उल्लंघन है, जिसके अनुसार शासन में प्राणी शरीर (Organism) जैसी एकता मानी जाती है। यह प्रणाली शक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है और इस कारण इसमें शासन पूर्णतः पृथक विभागों में बाँट दिया गया है, जबकि उसमें वस्तुतः प्राणी-शरीर जैसी एकता मानी जाती है। शासन के सब विभागों को पूर्णतः पृथक् कर देने का परिणाम यह होता है कि उन सब विभागों में वह आपसी सहयोग नहीं रहता, जिसका होना सुशासन के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। इसके विपरीत उनमें आपसी खींचा-तानी होती है, जिसके परिणामस्वरूप शासन में गतिरोध पैदा होता है।

संसदीय और अध्यक्षीय शासनों का मूल्यांकन

उपर्युक्त विवेचन में हमने देखा कि दोनों प्रकार की शासन प्रणालियों में गुण-दोष हैं। वस्तुतः दोनों ही प्रणालियों में अपने-अपने ढंग से शक्ति के प्रयोग को नियन्त्रण करने की व्यवस्था है। संसदीय शासन में कार्यपालिका को सीधे व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाकर और अध्यक्षीय शासन में शक्तियों के पृथक्करण के माध्यम से उक्त लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न निहित है, क्योंकि लोकतन्त्र का एक प्रमुख लक्षण यह भी है कि सत्ता का दुरुपयोग न हो और वह जनता के दमन का माध्यम न बने। मूल्यांकन के लिए यदि यह देखा जाए कि क्या वास्तव में ऐसा कहीं सम्भव हो सका है अथवा क्या किसी एक संस्था में शक्ति के केन्द्रीयकरण को रोका जा सका है तो दिखाई यही देता है कि अधिकांश ऐसा नहीं हुआ है। आज के शासक चाहे वे संसदीय हों अथवा अध्यक्षीय सभी प्रायः कार्यपालिका प्रधान होते हैं जिनमें कार्यपालिका का प्रभाव, उसकी शक्ति और उसका महत्त्व व्यवस्थापिका के प्रभाव उसकी शक्ति तथा उसके महत्त्व से बढ़कर है। कार्यपालिका अब सर्वत्र प्रायः शासन के दोनों अंगों—**व्यवस्थापिका और न्यायपालिका**—को प्रभावित कर सकने की स्थिति में होती है और स्वयं बहुत कम प्रभावित होती है। ऐसा प्रायः बहुत कम होता है कि कार्यपालिका अपने मनोनुकूल विधेयकों को व्यवस्थापिका से पारित न करवा सके पर दूसरी ओर व्यवस्थापिका प्रायः इस स्थिति में नहीं होती कि वह कार्यपालिका की इच्छा के विरुद्ध उससे अपने द्वारा वांछित कानून स्वीकार करवा सके। वह कार्यपालिका की प्रशासकीय त्रुटियों एवं अनियमितताओं पर भी सार्थक नियन्त्रण नहीं रख पाती है। वस्तुस्थिति इस सम्बन्ध में यह है कि संसदीय और अध्यक्षीय शासन के बीच के सैद्धान्तिक अन्तर व्यवहार में अब बहुत कम हो गया है तथा दोनों प्रणालियों में अब व्यवस्थापिका कार्यपालिका की अनुगामी हो गई है।

सिद्धान्त व व्यवहार में इस प्रकार का अन्तर होने का सबसे प्रमुख कारण राजनीतिक दलों का विकास है। अठाहरवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीतिक चिन्तकों एवं नेताओं को इस बात की कल्पना भी नहीं होगी कि बीसवीं शताब्दी में राजनीतिक दलों का उदय इतनी अधिक शक्तिशाली संस्थाओं के रूप में होगा और वे एक ओर जनता व शासन के बीच तथा दूसरी ओर कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच इतने अधिक प्रभावशाली

सम्पर्क सूत्र सिद्ध होंगे। सिद्धान्ततः कार्यपालिका व्यवस्थापिका की समिति होती है। इस कारण उससे यह आशा की जाती है कि वह शासन कार्य व्यवस्थापिका की इच्छा के अनुकूल तथा उसके अधीन रह कर करेगी। पर व्यवहार में वह उस राजनीतिक दल के शीर्षस्थ नेताओं से बनी समिति होती है, जिसकी सरकार होती है। अतः व्यवस्थापिका से अधिक उसे उस दल की परवाह होती है, जिसके नेताओं से वह बनी होती है। व्यवस्थापिका में भी बहुमत प्रायः उसी दल का होता है जिसकी सरकार होती है तथा कार्यपालिका को उस बहुमत का समर्थन सदा प्राप्त रहता है। अतः बहुमत के समर्थन की शक्ति के आधार पर कार्यपालिका को उस बहुमत का समर्थन सदा प्राप्त रहता है। अतः बहुमत के समर्थन की शक्ति के आधार पर कार्यपालिका विधायिका का नेतृत्व करती है तथा विधायिका का अनुगामी बनना पड़ता है।

दलीय दृष्टि से भी प्रभुत्व व महत्त्व उन नेताओं का ही होता है, जो दल के नेता और कार्यपालिका के सदस्य दोनों ही होते हैं। दलों की कार्यप्रणाली का जो ढंग होता है उसमें धीरे-धीरे गुट निर्माण की प्रवृत्ति आ जाती है तथा इस प्रवृत्ति के कारण निर्मित गुट ही दलों के सर्वेसर्वा बन जाते हैं। ये गुट व्यवहार में दलों पर छाये रहते हैं तथा दलों को उनका अनुगामी होकर कार्य करना होता है। अन्तःदलीय दृष्टि से भी शक्ति उन्हीं लोगों के हाथों में रहती है जो दल के सर्वेसर्वा होने के साथ कार्यपालिका के भी सर्वेसर्वा होते हैं तथा जो साधारण सदस्यों के अनुगामी होने के बजाय उन्हें अपने पीछे चलाते हैं। यह इसलिए भी सम्भव होता है क्योंकि कार्यपालिका के प्रमुख सदस्य दलीय कार्यकारिणी के भी सदस्य होते हैं। दलीय नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वय के नाम पर व्यवस्थापिका के बहुमत दल के सदस्यों को विधेयकों पर वैसा ही मत देना होता है जैसा दल के नेताओं का निदेश होता है। दलीय अनुशासन यदि न हो तो सदस्य अपनी इच्छानुसार मत देने को स्वतन्त्र हो सकते हैं और तब इस सिद्धान्त का भी कोई महत्त्व हो सकता है कि व्यवस्थापिका अपनी इच्छा के कानून पारित करने को स्वतन्त्र है और इस रूप में वह जनता की आवाज को प्रतिध्वनित करती है पर दलीय अनुशासन की कठोरता के कारण अब ऐसा नहीं है और इसलिए अब उस मान्यता का भी महत्त्व कम हो गया है जिसका प्रतिपादन पहले कभी **कार्लायिल** (Carlyle) यह कहकर किया करता था कि "मैं तुम्हारा नेता हूँ और इसलिए मुझे तुम्हारा अनुकरण करना चाहिए।" ऐसी दशा में व्यवस्थापिका की तुलना में कार्यपालिका की स्थिति दृढ़तर रहती है तथा लोकतन्त्र का क्रियान्वय राजनीतिक दलों के माध्यम से होने के कारण वह व्यवस्थापिका जिसे सिद्धान्ततः कार्यपालिका का निदेशन करना चाहिए व्यवहार में कार्यपालिका की अनुगामी हो जाती है।

राजनीतिक दलों के विकास के अतिरिक्त कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि होने के कुछ अन्य कारण भी हैं। इनमें से एक कारण राज्य के कल्याणकारी स्वरूप की मान्यता और राज्य की गतिविधियों का विस्तार है, जिसके कारण कार्यपालिका के निर्णयों का प्रभाव जन-जीवन पर सीधा पड़ने लगा है और जनता अब कार्यपालिका की मुखापेक्षी हो गई है। संचार एवं सम्पर्क के साधनों का तीव्र विकास एक अन्य कारण है, क्योंकि कार्यपालिका

अब सीधे जनता से सम्पर्क कर सकती है और मध्यस्थों के रूप में व्यवस्थापिका के सदस्यों की अब अधिक आवश्यकता नहीं रहती है। इनके अतिरिक्त एक कारण कार्यपालिका की महत्त्वपूर्ण स्थिति भी होती है क्योंकि अपनी महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण वह अनेक प्रकार के प्रलोभनों द्वारा व्यवस्थापिका के सदस्यों को अपने पक्ष में कर सकती है। अमरीका में यह देखा गया है कि अनेक बार इन प्रलोभनों के वशीभूत होकर प्रतिपक्षी दल के सदस्य भी राष्ट्रपति का समर्थन करने लगते हैं।

इन परिवर्तनों के कारण जहाँ कार्यपालिका का महत्त्व बढ़ा है वहाँ संसदीय एवं अध्यक्षीय शासकों के बीच की दूरी भी कम हुई है। परन्तु इसके बावजूद हम देखते हैं कि अध्यक्षीय शासन में कार्यपालिका को अधिक स्वच्छन्दता प्राप्त होती है और राजनीतिक अस्थायित्व का भय भी अधिक नहीं रहता है। इसलिए फ्राँस ने 1958 में संसदीय शासन के स्थान पर संसदीय व अध्यक्षीय दोनों प्रणालियों के मिश्रण को अपनाया है। विकासशील देशों में यह प्रवृत्ति और भी बढ़ रही है। अफगानिस्तान, इंडोनेशिया आदि ने भी अध्यक्षीय शासन प्रणाली को अपनाया है। भारत में भी 1967 के बाद से अध्यक्षीय शासन प्रणाली अपनाये जाने की मांग अनेक बार उठी है। पर इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि इस प्रवृत्ति में काफी सीमा तक लोकतान्त्रिक शक्तियों पर अंकुश लगाने का प्रयास निहित है, यद्यपि कुछ सीमा तक इससे राजनीतिक स्थायित्व अवश्य प्राप्त किया जा सकता है।

SELECT READINGS

Bluntschli : *Theory of the State*

Bryce : *Modern Democracies*

Dicey : *Law and Opinion in England*

Garner : *Political Science and Government*

Gettell : *Readings in Political Science*

Gilchrist : *Principles of Political Science*

Mill : *Representative Government*

Pennock and Smith : *Political Science : An Introduction*

❑❑❑

6
शासन के प्रकार
[एकात्मक व संघात्मक शासन]

"शक्ति के केन्द्रीयकरण और वितरण तथा केन्द्रीय और स्थानीय शक्तियों के सम्बन्ध की दृष्टि से विचार करने पर शासनों का वर्गीकरण एकात्मक (अथवा केन्द्रीय) तथा संघात्मक शासनों के रूप में किया जा सकता है।"

—गार्नर

राज्यों का वर्गीकरण करते समय हमने देखा कि एक आधार, जिस पर उनका वर्गीकरण किया जा सकता है, यह भी है कि राज्य-शक्ति का प्रयोग एक स्थान पर केन्द्रित है अथवा वह केन्द्र अथवा स्थानीय सरकारों में वितरित है और इस प्रकार की केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों का परस्पर क्या सम्बन्ध है। इस आधार पर वर्गीकरण करने से हमारे समक्ष शासन के दो अन्य प्रकार आते हैं, जिन्हें हम एकात्मक अर्थात् केन्द्रीय और संघात्मक अथवा संघीय शासन कहते हैं। यहाँ हम शासन के इन्हीं दो प्रकारों पर विस्तार से विचार करेंगे।

एकात्मक शासन प्रणाली (Unitary System of Government)

एकात्मक शासन वह शासन होता है, जिसमें शासन की सम्पूर्ण शक्ति संविधान के अनुसार केन्द्र में निहित होती है और विविध स्थानीय सरकारों को अपनी शक्ति केन्द्रीय सरकार से प्राप्त होती है। इस प्रकार सर्वोच्च शासन-शक्ति केन्द्र को प्राप्त होती है और वह उसका प्रयोग उन सब शासन की इकाइयों के ऊपर करता है, जिनसे मिलकर राज्य बना होता है। शासन की सुविधा की दृष्टि से राज्य को अनेक इकाइयों में बाँटा जा सकता है,

किन्तु उनको शासन सम्बन्धी यदि कोई अधिकार प्राप्त होते हैं, तो वे केन्द्र द्वारा प्रदत्त होते हैं। एकात्मक शासन का स्वरूप उसकी निम्न विशेषताओं से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है—

(1) इस शासन-प्रणाली में राज्य-शक्ति केवल एक केन्द्रीय सरकार में निहित होती है और उसका विभाजन और वितरण केन्द्र और इकाइयों की सरकारों के बीच में नहीं किया जाता। शासन की सुविधा की दृष्टि से राज्य प्रदेशों अथवा प्रान्तों में बाँटा जा सकता है, किन्तु इन प्रादेशिक और प्रान्तीय सरकारों की कोई पृथक् व स्वतन्त्र शक्ति नहीं होती। जो कुछ प्रशासकीय अधिकार प्रादेशिक सरकारों को प्राप्त होते हैं, उनका स्रोत केन्द्र ही होता है, अलग से संविधान नहीं। चूँकि उनका अस्तित्व ही पूर्णतः केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर रहता है, अतः यदि केन्द्रीय सरकार चाहे तो प्रदेशों अथवा प्रान्तों का सीमा-सम्बन्धी पुनर्गठन कर सकती है, उनकी शासन-प्रणाली में हेर-फेर कर सकती है तथा उनकी शक्ति और उनके अधिकारों पर नियन्त्रण कर सकती है। इस प्रकार प्रान्तों अथवा प्रादेशिक सरकारों को संविधान द्वारा कोई मौलिक एवं स्वतन्त्र शक्ति प्राप्त नहीं होती। वे जो कुछ प्रशासकीय कार्य करती हैं, केन्द्र की प्रतिनिधि सरकारों के रूप में करती है।

(2) **प्रभुशक्ति** (Sovereignty) के आश्रय की दृष्टि से एकात्मक शासन की विशेषता यह होती है कि उसमें प्रभु-शक्ति केवल एक स्थान अर्थात् केन्द्र में निहित होती है, संघात्मक शासन की भाँति विविध स्थानों पर नहीं। दूसरे शब्दों में, संघ की तरह इसकी इकाइयाँ स्वयं प्रभुसत्तावान नहीं होती हैं। एकात्मक राज्य में चूँकि प्रभुशक्ति केन्द्र में निहित होती है, अतः उसकी अभिव्यक्ति और प्रयोग भी केन्द्र द्वारा ही होता है अर्थात् कानून बनाने की सर्वोच्च शक्ति केन्द्र को ही प्राप्त होती है। जो शक्ति प्रान्तों अथवा प्रदेशों को प्राप्त होती है, वह केवल प्रशासकीय होती है, व्यवस्थापन-सम्बन्धी नहीं। इस तथ्य को निम्न चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है—

एकात्मक ढाँचा
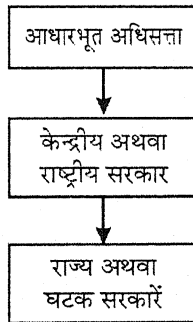
(3) सम्पूर्ण राज्य में नागरिकता एक होती है।

एकात्मक शासन प्रणाली के गुण :

इस प्रणाली में निम्न गुण पाये जाते हैं—

शासन की एकरूपता और शक्ति-सम्पन्नता—एकात्मक शासन में शासन की एकरूपता पाई जाती है। सम्पूर्ण राज्य में एक-सा कानून होता है, और सर्वत्र एक से केन्द्रीय निर्देश में एक ही तरह उनको कार्यान्वित किया जाता है। अतः सम्पूर्ण राज्य में शासन की एकरूपता बनी रहती है। इस एकरूपता का परिणाम यह होता है कि शासन की शक्ति सम्मिलित बनी रहती है और उसमें वह क्षीणता नहीं आने पाती जो उस दशा में अनिवार्य हो जाती है, जब कानून के विभिन्न स्रोत होते हैं अथवा उसको विभिन्न प्रकारों से क्रियान्वित किया जाता है। एकात्मक शासन में चूँकि शासन-सम्बन्धी अन्तिम उत्तरदायित्व केवल केन्द्र का होता है और शासन-सम्बन्धी निर्णय शीघ्रतापूर्वक लिया जा सकता है, अतः वह शक्तिपूर्वक और प्रभावशाली ढंग से उसका संचालन करने में समर्थ रहता है।

नीति सम्बन्धी एकरूपता—एकात्मक शासन में नीति-सम्बन्धी एकरूपता बनी रहती है। अतः राज्य को नीति सम्बन्धी गत्यावरोधों का सामना नहीं करना पड़ता। इस प्रकार के शासन में जो भी नीति सम्बन्धी निर्णय होते हैं, वे एक स्थान अर्थात् केन्द्र पर होते हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्र को नीति-सम्बन्धी निर्णयों के लिए प्रान्तों अथवा प्रदेशों की सरकार की ओर देखना नहीं पड़ता। अतः स्वभावतः इसमें नीति-निर्णय-सम्बन्धी वह एकरूपता आ जाती है जिसकी किसी राज्य की सफलता के लिए अति आवश्यकता होती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तो इस प्रकार की एकरूपता की और भी अधिक आवश्यकता होती है, क्योंकि इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय समझौते, सन्धि तथा युद्ध आदि जैसी जिन समस्याओं का राज्य को सामना करना पड़ता है, उनके समाधान के लिए नीति और नीति के क्रियान्वय सम्बन्धी एकरूपता चाहिए। उदाहरणार्थ, किसी अन्य राज्य से युद्ध की अवस्था में उस संघात्मक राज्य की अपेक्षा जिसको तत्सम्बन्धी निर्णय करने के लिए अपनी इकाइयों का परामर्श लेना आवश्यक होगा, वह एकात्मक राज्य शीघ्र निर्णय कर सकेगा जिसे निर्णय करने से पहले किसी से परामर्श करने की आवश्यकता नहीं होगी। इसी प्रकार निर्णय करने के पश्चात् उसे कार्यान्वित करने में भी उस आधार पर संघात्मक शासन की अपेक्षा एकात्मक शासन अधिक समर्थ सिद्ध होगा।

राष्ट्रीय एकता—एकात्मक शासन संघात्मक शासन की अपेक्षा राष्ट्रीय एकता के संवर्द्धन के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। शासन की एकात्मकता के कारण राज्य के प्रत्येक भाग में एक-से कानून, शासन का एक-सा ढंग तथा न्याय का एक-सा ढंग आदि होते हैं। अतः एकसी परिस्थितियों में रहने के कारण यह स्वाभाविक होता है कि राज्य के सभी भागों के नागरिकों में अन्तर्राष्ट्रीय एकता का वह बन्धन और भी दृढ़ हो जिसकी राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यकता होती है।

मितव्ययता—एकात्मक शासन में मितव्ययता भी रहती है, क्योंकि इसमें वह व्यय बच जाता है जो कि एक ही स्थान पर केन्द्र तथा प्रान्तों की ओर से राज्य कर्मचारी नियुक्त करने के लिए करना पड़ता है। यही नहीं प्रान्तीय इकाइयों में अलग से मन्त्रिमण्डल व व्यवस्थापिका की आवश्यकता न रहने से भी काफी खर्च बच जाता है।

एकात्मक शासन प्रणाली के दोष

एक शासन प्रणाली में अग्र प्रकार के दोष पाये जाते हैं—

शासन में अक्षमता—यह हो सकता है कि एकात्मक शासन अधिक शक्ति-सम्पन्न हो, क्योंकि उसमें शासन-शक्ति एक स्थान पर केन्द्रित होती है, किन्तु एकात्मक शासन को उपयुक्तता की दृष्टि से ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि देश में एक स्थान पर स्थित केन्द्रीय सरकार से यह आशा करना अनुचित है कि वह देश के प्रत्येक भाग की आवश्यकताओं को पूर्णत: ठीक-ठीक समझ कर उनके लिए उपयोगी व्यवस्था करने में समर्थ होगी। अत: राज्य के सब भागों के हित की साधना केन्द्रीय सरकार द्वारा तो हो ही नहीं सकती, उसकी साधना स्थानीय अथवा प्रान्तीय सरकारों द्वारा भी नहीं हो सकती, क्योंकि उन्हें इस सम्बन्ध में सब कार्यों के लिए केन्द्र का मुँह ताकना पड़ता है। इस प्रकार, एकात्मक शासन में शासन सबल तो हो सकता है परन्तु सब दृष्टियों से उपयुक्त और सक्षम नहीं।

राजनीतिक शिक्षण की दृष्टि से अनुपयुक्तता—स्थानीय अथवा प्रान्तीय स्वशासन लोकतन्त्र का प्राण माना जाता है। चूँकि एकात्मक शासन में स्थानीय अथवा प्रान्तीय स्वराज्य को वह महत्त्व प्राप्त नहीं होता, जो उसे लोकतन्त्र में मिलना चाहिये, अत: यह कहा जाता है कि एकात्मक शासन लोकतन्त्र की भावना के विरुद्ध होता है। साधारण जनता किसी बात में तभी दिलचस्पी लेती है, जब उससे उसका घनिष्ठ और सीधा सम्बन्ध हो। उसे राजनीतिक शिक्षा भी तभी मिलती है, जब ऐसी बातों का समाधान उसे स्वयं ढूँढ़ने का अवसर प्राप्त होता हो। चूँकि एकात्मक शासन में स्थानीय जनता को अपने मामलों के विषय में निर्णय करने और उसका प्रबन्ध करने का अवसर नहीं मिलता और दूर के केन्द्रीय महत्त्व के मामलों में वह उतनी दिलचस्पी नहीं लेती, अत: इस प्रकार के शासन में जनता को राजनीतिक शिक्षण एवं परीक्षण का अवसर कम मिलता है। इस प्रकार एकात्मक शासन में लोकतन्त्र के एक उस बड़े उद्देश्य की पूर्ति सुगमता से नहीं होती, जिसे हम सार्वजनिक राजनीतिक शिक्षण कहते हैं।

अव्यावहारिक—छोटे-छोटे राज्यों में एकात्मक शासन सफल भले ही हो जाएँ, बड़े राज्यों में उसका प्रयोग सफल नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त उन देशों के लिए तो एकात्मक शासन प्राय: अव्यावहारिक सिद्ध होता है, जिनमें भाषा, नस्ल तथा धर्म सम्बन्धी विभिन्नताएँ हों, क्योंकि उन विभिन्न समूहों के हितों की साधना एकात्मक शासन में सुगमता से सम्भव नहीं होती। यही कारण है कि ऐसे राज्यों में भी जिनमें शासन एकात्मक है, यदि उक्त प्रकार की विभिन्नताएँ होती हैं, तो उसे उन विभिन्नताओं के आधार पर प्रान्तों में बाँट दिया जाता है और एकात्मक शासन होते हुए भी उन्हें अधिकाधिक स्थानीय स्वशासन देने की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार से ऐसे राज्यों का स्वरूप वास्तव में एकात्मक न होकर संघात्मक हो जाता है। भारतीय संघ की शासन-व्यवस्था में कुछ ऐसी ही प्रवृति पाई जाती है।

संघात्मक शासन प्रणाली (Federal System of Government)

संघात्मक शासन वह शासन होता है, जिसमें राज्य-शक्ति केन्द्रीय अर्थात् संघ की सरकार तथा राज्यों की सरकारों के बीच विभाजित होती है। संघवाद का अंग्रेजी पर्यायवाची

'फेडरलिज्म' शब्द लैटिन फोइडस (Foedus) शब्द से लिया गया है, जिसका अर्थ उस भाषा में सन्धि अथवा संविदा (समझौता) होता है। संघ इस प्रकार संधि अथवा समझौते पर आधारित शासन का प्रकार होता है। जिस प्रकार किसी संविदा के लिए एक से अधिक स्वाधीन पक्षों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार संघ दो या इससे अधिक स्वतन्त्र राज्यों के मध्य हुए ऐसे समझौते के परिणामस्वरूप स्थापित होता है। ये राज्य इस बात का समझौते करते हैं कि अमुक विषयों के प्रबन्ध के लिए वे संघ की सरकार द्वारा शासित होंगे। इस प्रकार संघ में विविध स्वतन्त्र राज्य अपनी सहमति से एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना करते हैं और सहमति के अनुसार राष्ट्रीय महत्त्व के कुछ विषयों का शासन-प्रबन्ध केन्द्र को देकर शेष विषयों के प्रबन्ध के सम्बन्ध में अधिकार स्वयं रखते हैं। यद्यपि पुराने संघ इसी प्रकार बने हैं, तथापि संघ कुछ नये ऐसे भी हैं, जिनमें केन्द्र की ओर से पहल की गई है तथा संविधान के माध्यम से राज्यों को कुछ शक्तियाँ दी गई हैं। भारत ऐसा ही संघ है। इस प्रकार के शासन की निम्न विशेषताएँ उसके स्वरूप को भली-भाँति स्पष्ट कर देंगी—

प्रभुत्व-शक्ति का दुहरा प्रयोग—संघात्मक शासनों में प्रभुत्व-शक्ति की अभिव्यक्ति दो स्थानों से केन्द्रीय या संघीय सरकार द्वारा तथा राज्य इकाइयों की सरकारों द्वारा होती है। यद्यपि प्रभुत्व-शक्ति का विभाजन नहीं हो सकता और संघात्मक शासन में भी प्रभुत्व-शक्ति अविभाज्य होती है, तथापि उसकी अभिव्यक्ति अवश्य दो साधनों अर्थात् केन्द्रीय सरकार और स्थानीय सरकारों—द्वारा होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संघात्मक शासन में जो इकाइयाँ होती हैं, वे शासन की सुविधा से बनाये हुए प्रान्त अथवा प्रदेश नहीं होते और उन्हें उनकी सत्ता संघ से प्राप्त नहीं होती, अपितु वे अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र राज्य होते हैं, और उसकी सत्ता उन्हें भी उसी संविधान से प्राप्त होती है, जिससे वह संघ की सरकार को प्राप्त होती है। इस प्रकार संघ में इकाइयों की स्थिति अधीनता की न होकर संघ के समकक्ष की होती है। इस स्थिति को रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार दर्शाया जा सकता है—
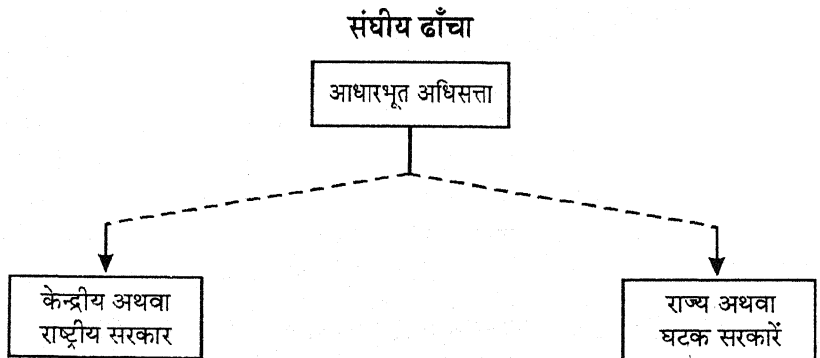
शक्तियों व कार्यों का वितरण—संघात्मक शासन में दो प्रकार की सरकारों का अस्तित्व होता है, एक केन्द्रीय तथा दूसरी राज्य की। राज्य-शक्ति इन दोनों प्रकार की सरकारों में स्पष्ट रूप से विभाजित होती है। इस प्रकार की इस प्रणाली में एक प्रकार का द्वैध शासन होता है, जिसमें कुछ विषयों से सम्बन्धित शासकीय शक्ति राज्य सरकारों में और कुछ से सम्बन्धित शासकीय-शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित होती है। शक्ति के इस विभाजन के परिणामस्वरूप केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारों के कार्यों का विभाजन भी स्पष्ट ही होता है और अपने-अपने कार्यक्षेत्र में दोनों प्रकार की सरकारें पूर्ण स्वतन्त्र होती हैं।

साधारणतः यह कार्य-विभाजन इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर किया जाता है कि वे विषय जो संघ की सब इकाइयों के साथ समान सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् जो राष्ट्रीय महत्त्व के होते हैं, केन्द्रीय सरकार के सुपुर्द किये जाते हैं तथा वे विषय जो क्षेत्रीय महत्त्व के होते हैं, इकाइयों की सरकारों के सुपुर्द किये जाते हैं। इस प्रकार वैदेशिक सम्बन्ध, सन्धि और युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, मुद्रा-स्फीति तथा आवागमन के साधन आदि विषय केन्द्रीय सरकार के कार्य-क्षेत्र में रखे जाते हैं और आन्तरिक सुरक्षा एवं शान्ति, स्थानीय स्वशासन तथा भूमिकर आदि विषय राज्य सरकारों के कार्य-क्षेत्र में रखे जाते हैं। यद्यपि किन्हीं संघों में स्थानीय सरकारों के सीधे वैदेशिक सम्बन्ध भी हो सकते हैं तथापि साधारणतः अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से संघ के राज्यों की कोई स्थिति नहीं होती। इस प्रकार उन विषयों की दृष्टि से, जिनसे सम्बन्धित शक्ति केन्द्र में निहित होती है, राज्य का एक रूप एकात्मक होता है और उन विषयों की दृष्टि से जिनकी सम्बन्धित शक्ति इकाइयों की सरकारों में निहित होती है उसका रूप संघात्मक होता है।

संघ और उसकी इकाइयों में शक्ति एवं कार्यों के विभाजन करने में साधारणतः दो पद्धतियों का अवलम्बन लिया जाता है। एक पद्धति वह है जिसे 'परिगणन एवं अवशेष' (Enumeration and residium) कहते हैं। जिसके अनुसार केन्द्र तथा क्षेत्रीय सरकारों में से किसी एक की शक्तियों और कार्यों को परिगणित करके अवशिष्ट को दूसरे का मान लिया जाता है। दूसरी पद्धति वह है जिसे हम पूर्ण परिगणन की पद्धति कह सकते हैं और जिनके अनुसार केन्द्रीय और स्थानीय दोनों सरकारों की शक्तियों और कार्यों का परिगणन स्पष्ट रूप से कर दिया जाता है और फिर भी यदि कोई बात अवशिष्ट रह जाए, तो उसे केन्द्रीय अथवा स्थानीय दोनों में से किसी प्रकार की सरकार के सुपुर्द कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, संयुक्त-राज्य अमेरिका के संघ में प्रथम प्रणाली अपनाई गई है। वहाँ संघ सरकार के कार्यों का परिगणन करके शेष स्थानीय सरकारों के सुपुर्द कर दिये गये हैं। परन्तु भारत के संघ में द्वितीय प्रणाली अपनाई गई है। यहाँ केन्द्र तथा इकाइयों दोनों के कार्यों का परिगणन करके शेष को केन्द्र के सुपुर्द कर दिया गया है।

संविधान की सर्वोच्चता—संघात्मक शासन समझौते द्वारा स्थापित शासन होता है। समझौते का पालन सभी पक्ष ठीक से करते रहें तथा यदि उसमें कोई परिवर्तन हो, तो वह सोच-विचार कर सभी पक्षों की सहमति द्वारा हो, इसके लिए यह आवश्यक होता है

कि उस समझौते को संविधान का रूप दिया जाए तथा उसमें उसके परिवर्तन की विधि भी निश्चित की जाए। अत: संघात्मक शासन की एक विशेषता यह होती है कि उसमें संविधान की सत्ता को सर्वोच्च माना जाता है; क्योंकि वही वस्तुत: संघ का आधार होता है। संघ के अन्तर्गत सभी सरकारों को चाहे वह केन्द्रीय सरकार हो अथवा स्थानीय, संविधान के अनुसार कार्य करना पड़ता है तथा कोई भी व्यवस्थापिका ऐसा व्यवस्थापन नहीं कर सकती जो संविधान के अनुकूल न हो।

न्यायपालिका की सर्वोच्चता—सब सरकारें संविधान का पालन ठीक से करती हैं, यह देखने के लिए तथा संविधान की व्याख्या करने के लिए प्राय: सभी संघात्मक राज्यों में एक सर्वोच्च न्यायालय की व्याख्या होती है। इस न्यायालय का कार्य यह देखना होता है कि संघ के अन्तर्गत सब व्यवस्थापिकाएँ वे ही कानून पारित करें, जो संविधान के अनुकूल हों, और यदि कोई कानून ऐसा हो जो संविधान के अनुकूल हो, तो यह उसे अवैध घोषित कर दे। इसके अतिरिक्त यह न्यायालय केन्द्र और इकाइयों की सरकारों तथा इकाइयों और इकाइयों की सरकारों के बीच न्यायाधिकरण का कार्य भी करता है और उनमें यदि कोई संवैधानिक झगड़ा उठ खड़ा होता है, तो उसका निर्णय भी वही करता है। इसके अतिरिक्त उन राज्यों में जिनके शासन का रूप अध्यक्षात्मक (Presidential) होता है, यह न्यायालय सरकारों के विभिन्न विभागों के झगड़ों का भी निर्णय करता है। इस प्रकार संघात्मक शासन में न्यायपालिका की सर्वोच्चता रहती है।

दोहरी नागरिकता—प्रभुत्व-शक्ति के दोहरे प्रयोग की भाँति ही संघात्मक शासन में नागरिकता भी दोहरी होती है। इसमें साधारणत: प्रत्येक व्यक्ति दो राज्यों का नागरिक होता है, एक तो संघ राज्य का और दूसरा संघ की उस इकाई के राज्य का जिसमें उसका निवास हो। उसकी भक्ति और निष्ठा भी इसी प्रकार उक्त प्रकार की भिन्न-भिन्न सत्ताओं के प्रति होती है। वह दोनों राज्यों के कानूनों का पालन करता है और दोनों को कर देता है। परन्तु इस व्यवस्था के अब कुछ अपवाद भी हैं। उदाहरणार्थ भारत में नागरिकता एक ही प्रकार की है। यहाँ सभी अलग राज्यों के नागरिक न होकर भारत के नागरिक हैं। परन्तु व्यावहारिक व्यवस्था देश में भी संवैधानिक व्यवस्था से भिन्न भी हो जाती है और नागरिकता दोहरा स्वरूप ग्रहण कर लेती है क्योंकि अनेक राज्यों में अपने नागरिकों को दूसरे राज्यों के निवासियों के मुकाबले अधिक सुविधाएँ देने की प्रवृत्ति भी आ जाती है।

संघों के निर्माण की आवश्यक शर्तें

संघों का निर्माण प्रत्येक प्रकार के राज्यों अथवा कहीं भी स्थित राज्यों में हो सकता हो, ऐसी बात नहीं है। वस्तुत: वे कुछ विशेष राज्यों में ही बन सकते हैं क्योंकि वहाँ कुछ विशेष परिस्थितियाँ होती हैं, जिनमें उनका निर्माण अधिक सुगमतापूर्वक होता है। उन परिस्थितियों का विवेचन हम निम्न प्रकार कर सकते हैं—

संघ बनाने वाले राज्यों की भौगोलिक एकता—संघ के निर्माण की सबसे पहली आवश्यकता यह है कि संघ बनाने वाले राज्यों में भौगोलिक एकता हो अर्थात् वे

भौगोलिक रूप से पास-पास स्थित हों। जो राज्य पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों पर स्थित हों अथवा जिन्हें समुद्र ने अत्यधिक दूर कर रखा हो, उन राज्यों का संघ सुगमता से नहीं बन सकता क्योंकि उस दशा में शासन की वह सुविधा सब राज्यों में सम्भव नहीं हो पाती जिसके बिना संघ सफलतापूर्वक नहीं चल सकता। उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य अमेरिका का संघ सम्भव हो सका, किन्तु यदि उस समय के ब्रिटिश साम्राज्य को संघ के रूप में बाँधा गया होता, तो वह सम्भव नहीं हो सकता था। बंगला देश और पाकिस्तान के अलग-अलग हो जाने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि दोनों क्षेत्र परस्पर 9000 मील से भी अधिक की दूरी पर स्थित थे और ऐसी स्थिति में न तो भावात्मक एकता का सृजन सरलता से सम्भव था और न दोनों का साथ रहना ही सम्भव था। फिर भी यह स्मरणीय है कि भौगोलिक एकता ही संघ बनाने की एकमात्र शर्त नहीं होती अन्यथा मलेशिया संघ से सिंगापुर अलग नहीं हुआ होता।

भाषा, संस्कृति और हितों की एकता—संघ बनाने वाले राज्यों में मौलिक रूप से भाषा, संस्कृति, धर्म, ऐतिहासिक सम्बन्ध और हितों की न्यूनाधिक समानता होनी चाहिए, यद्यपि यह हो सकता है कि सभी राज्यों की भाषा, संस्कृति, धर्म-सम्बन्धी विश्वासों तथा प्रथाओं, इतिहास और स्थानीय हितों में छोटी-मोटी बातों की भिन्नता पाई जाती हो, किन्तु दृढ़ संघ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि सब राज्यों में उक्त विषयों की मौलिक समानता अवश्य पाई जाए, अन्यथा संघ की जनता में एकता की वह भावना नहीं आने पाती, जिसका होना संघ की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। सामान्य तत्त्वों के अभाव में ही प्रोटैस्टेंट धर्मी इंग्लैण्ड व कैथोलिक धर्मी दक्षिणी आयरलैण्ड साथ-साथ न रह सके।

अपने अस्तित्व की भावना के साथ व्यापक रूप से ऐक्य भावना—संघ के निर्माण की तीसरी आवश्यकता यह होती है कि संघ बनाने वालों में अपने-अपने अस्तित्व बनाये रखने की भावना के साथ-साथ व्यापक रूप से सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक होने की भावना भी हो। डायसी के मतानुसार सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु संयुक्त होने की भावना होने के साथ-साथ राज्यों में अपने-अपने अस्तित्व को पृथक्-पृथक् बनाये रखने की भावना होना भी आवश्यक है, अन्यथा अपने-अपने अस्तित्व को पृथक् बनाये रखने की भावना से शून्य राज्यों के मिलने से संघात्मक राज्य न बन कर एकात्मक राज्य बनेगा।

संघ बनाने वाले राज्यों की समानता—संघ के निर्माण की चौथी आवश्यकता यह है कि उसकी इकाइयाँ समान शक्ति एवं स्थिति वाली हों। उन राज्यों का संघ साधारणतः सफल नहीं होता, जिनकी स्थिति एवं शक्ति में परस्पर बहुत अन्तर होता है, क्योंकि एक अधिक शक्तिशाली राज्य संघ के अन्य कम शक्तिशाली राज्यों पर हावी हो सकता है और उस दशा में संघ नष्ट हो सकता है। जर्मनी के प्रशासन को हम इसके उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं, जिसकी शक्ति की अधिकता के कारण वहाँ संघात्मक शासन न चल सका। संयुक्त राज्य अमेरिका के निर्माण से पूर्व भी छोटे राज्यों को सीनेट में बराबर महत्त्व देने का आश्वासन देना पड़ा था।

राजनीतिक योग्यता—संघ के निर्माण के लिए पाँचवीं आवश्यकता जनता की राजनीतिक योग्यता है। यों तो जनता का राजनीतिक दृष्टि से योग्य होना प्रत्येक प्रकार के राज्य के लिए आवश्यक होता है, किन्तु इस प्रकार की आवश्यकता संघ बनाने के लिए और भी अधिक होती है। संघ तभी चल सकता है जब जनता राजनीतिक दृष्टि से सचेत हो और प्रान्तीयता की संकुचित भावना से ऊपर उठ कर संघ की आवश्यकताओं के लिए कार्य करने में सक्षम हो। संघ में जनता की नागरिकता दोहरी होती है, अतः दोहरी नागरिकता का उत्तरदायित्व निभाने के लिए जनता राजनीतिक रूप से अधिक योग्य होनी चाहिए।

एकात्मक और संघात्मक शासनों का अन्तर :

एकात्मक और संघात्मक शासनों के इस प्रसंग में दोनों का अन्तर देख लेना भी उपयोगी होगा, जो निम्न प्रकार है—

शक्तियों व कार्यों के विभाजन का अन्तर—एकात्मक शासन में शक्ति का स्रोत केवल केन्द्रीय सरकार होती है। यदि अन्य स्थानीय सरकारों को कोई शक्ति प्राप्त होती है, तो वह केन्द्र द्वारा प्रदत्त होती है। इसके विपरीत संघात्मक शासन में यह केन्द्रीय सरकार में ही केन्द्रीभूत न होकर, क्षेत्रीय सरकारों में भी वितरित होती है और उसका स्रोत एक ही संविधान होता है। इस प्रकार एकात्मक शासन में यदि शक्ति का केन्द्रीकरण होता है, तो संघात्मक शासन में उसका विकेन्द्रीकरण होता है।

स्थानीय सरकारों की स्थिति का अन्तर—एकात्मक शासन में इकाइयाँ अथवा ग्रान्त केन्द्र के अधीन उसके कार्यवाहक होते हैं। उनका अपना कोई स्वतन्त्र स्तर नहीं होता और न वे प्रभुत्व-सम्पन्न होते हैं। संघात्मक शासन में इकाइयाँ स्वशासन-प्राप्त Autonomous) तथा अपने-अपने क्षेत्र में प्रभुत्व-सम्पन्न होती हैं। परन्तु यह अन्तर द्धान्तिक अधिक और व्यावहारिक कम होता है। एक ओर ब्रिटेन जैसे एकात्मक राज्यों में शासन की स्थानीय इकाइयों को कुछ सीमा तक स्वायत्तशासी माना जाता है और कतिपय त्रों में व्यवहार में उन्हें पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं, तथापि व्यवहार में केन्द्र इकाइयों की ासन व्यवस्था में हस्तक्षेप करता है। संघात्मक व्यवस्था के उदाहरणस्वरूप हम संयुक्त राज्य मेरिका को ले सकते हैं जहाँ प्रारम्भ में केन्द्र काफी कमजोर था, परन्तु जहाँ वह अब रे-धीरे राज्यों के मुकाबले काफी शक्तिशाली हो गया है। भारत में भी कानून व व्यवस्था, षि, शिक्षा आदि के उन क्षेत्रों में जिन्हें संविधान ने राज्यों को सौंपा है, केन्द्र की ओर से तक्षेप होने लगा है। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से संघात्मक व एकात्मक शासनों में द्र व इकाइयों की स्थिति का अन्तर अब पूर्ण न होकर केवल आंशिक रह गया है।

नागरिकों की स्थिति का अन्तर—एकात्मक शासन में व्यक्तियों की नागरिकता ़ होती है, जबकि संघात्मक शासन में नागरिकता दोहरी होती है। एक व्यक्ति एक साथ राज्यों का नागरिक होता है, एक संघ राज्य का और एक उस इकाई राज्य का, जिसमें का निवास होता है। परन्तु इस अन्तर के अपवाद भी हैं, जैसे भारत जहाँ नागरिकता हरी ही है।

संविधान के रूप सम्बन्धी अन्तर—एकात्मक राज्यों में संविधान लिखित और अलिखित दोनों प्रकार का हो सकता है क्योंकि इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण शासन-शक्ति एक ही स्थान पर केन्द्रित होती है और उसका कोई विभाजन न होने के कारण उसे दिखाने की दृष्टि से संविधान का लिखित होना आवश्यक नहीं होता। इसके विपरीत संघात्मक शासन में शासन की शक्ति केन्द्र तथा स्थानीय सरकारों में विभक्त होती है। अतः उस विभाजन को निश्चित रूप देने के लिए लिखित संविधान होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त संघात्मक शासनों में संविधान में संशोधन की प्रक्रिया भी एकात्मक शासनों की अपेक्षा जटिल रखी जाती है, जिससे उसका संशोधन पूर्ण विचार-विनिमय के पश्चात् सब इकाइयों की सहमति से ही हो सके।

न्याय पद्धति के स्वरूप सम्बन्धी अन्तर—संघात्मक शासन में न्यायपालिका का रूप केन्द्र तथा इकाइयों अथवा इकाइयों और इकाइयों के मध्य निर्णायक का होता है। सर्वोच्च न्यायालय संघ तथा किसी इकाई अथवा किन्हीं इकाइयों तथा इकाइयों के परस्पर अधिकार-सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय करता है। इसके विपरीत एकात्मक शासन में न्याय पद्धति का रूप उस प्रकार के निर्णायक का नहीं होता है। उसमें उसका कार्य यही देखना हो सकता है कि व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून ठीक से कार्यान्वित हो रहे हैं या नहीं।

संघात्मक शासन-प्रणाली के गुण :

संघात्मक शासन में निम्न गुण पाये जाते हैं—

निर्बल राज्यों को शक्तिशाली बनाने की योजना—संघात्मक शासन निर्बल राज्यों को सबल बनाने की एक अत्यन्त उत्तम योजना है। संघ द्वारा छोटे-छोटे राज्यों को यह अवसर प्राप्त हो जाता है कि परस्पर मिलकर वे एक शक्तिशाली संगठन बना सकें और उस संगठन की शक्ति से स्वयं लाभ उठा सकें। एक संघ के संगठन में सम्मिलित होने से राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय बल तो प्राप्त होता ही है, आन्तरिक क्षेत्र में भी वे बलशाली हो जाते हैं, क्योंकि आन्तरिक अव्यवस्था अथवा विद्रोह की दशा में उन्हें संघ से सहायता मिलने का भरोसा रहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के राज्यों को जो महत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्राप्त है, अथवा आन्तरिक दृष्टि से जो शक्ति उन्हें मिली हुई है, वह सम्भव नहीं थी, यदि वे संयुक्त राज्य अमेरिका के संघ के रूप में एक न होते। उसी प्रकार भारतीय संघ में जो राज्य सम्मिलित हैं, उनकी स्थिति उस अवस्था से अधिक शक्तिशाली ही है जबकि वे सब पृथक्-पृथक् होते।

शक्ति के केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीकरण एवं राष्ट्रीय एकता व स्थानीय स्वराज्य का सुयोग—संघ बनाने वाले राज्यों का व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता और साथ-साथ उनका एक नया व्यक्तित्व—राष्ट्रीय व्यक्तित्व—और उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार की शासन-प्रणाली में राष्ट्रीयता और स्थानीय स्वशासन के लाभों का सुन्दर सम्मिश्रण रहता है और इस प्रकार केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों में सुन्दर सामंजस्य स्थापित हो जाता है। एक ओर इस प्रकार का शासन क्षेत्रीय विभिन्नताओं को स्वीकार करता है और उन्हें इस

बात का अवसर देता है कि वे पूर्णत: समृद्ध हो सकें, तो दूसरी ओर वह क्षेत्रीय विभिन्नताओं के कुप्रभाव से राष्ट्रीय एकता के हितों की रक्षा भी करता रहता है। संघ की सरकार को वे कार्य दिये जाते हैं जिनका महत्त्व सब राज्यों के लिए समान अर्थात् राष्ट्रीय होता है। अन्य कार्य जो स्थानीय महत्त्व के होते हैं, इकाइयों की सरकारों पर छोड़ दिये जाते हैं। वस्तुत: संघात्मक शासन ही ऐसा शासन है, जिसमें जनता की विभिन्नता एवं एकता के तत्त्वों का समन्वय होता है। यदि संघ के रूप में उसकी एकता की अभिव्यक्ति होती है, तो इकाइयों के राज्यों के रूप में उसकी विभिन्नता को मूर्तरूप धारण करने का अवसर मिलता है।

स्थानीय स्वराज्य का लाभ—संघात्मक शासन में स्थानीय स्वराज्य का प्रयोग अधिक सफलतापूर्वक होता है और जनसाधारण को उन लाभों की प्राप्ति होती है जो साधारणत: स्थानीय स्वराज्य से प्राप्त होती हैं। संघात्मक शासन में इकाइयों को स्वयं अपने-अपने क्षेत्रों में शासन करने का अवसर मिलता है। अत: इस प्रणाली से इकाइयों की जनता को अपनी उन्नति करने का और अपना शासन स्वयं जैसे चाहे वैसे करने का अवसर मिलता है। चूँकि स्थानीय जनता स्थानीय आवश्यकताओं से अधिक परिचित होती है, अत: वह अपनी इकाई में अपनी उन्नति करने में अधिक सफल होती है। इसके अतिरिक्त इस प्रयोग से उसे शासन-सम्बन्धी मामलों की शिक्षा भी मिलती है। वे स्वयं स्थानीय मामलों का प्रबन्ध करती हैं और वहाँ का प्रबन्ध उस अवस्था से अधिक अच्छी तरह कर लेती हैं, जबकि वह केन्द्रीय सरकार द्वारा होता। इस प्रकार उनकी स्वशासन की योग्यता बढ़ती है। इसके अतिरिक्त इस पद्धति में शासन के कार्यों में श्रम-विभाजन होता है और उससे शासन की क्षमता और भी बढ़ती है।

बड़े राज्यों के लिए उपयुक्तता—संघात्मक शासन-प्रणाली विशाल राज्यों के लिए अति उपयुक्त शासन-प्रणाली है। प्राय: विशाल राज्यों में भाषा, धर्म तथा अन्य हितों की विभिन्नता पाई जाती है और दूरी के प्रभाव से वह भिन्नता ऐसी हो जाती है कि उसके आधार पर विभिन्न क्षेत्र बन जाते हैं। इन क्षेत्रीय विशिष्टताओं की रक्षा संघात्मक शासन में सम्भव है, क्योंकि राज्य सरकारों को उनके मामलों में पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त होती है। दूसरी ओर संघीय शासन के माध्यम से राष्ट्रीय एकता भी अक्षुण्ण रहती है। वस्तुत: संघीय शासन में सहिष्णुता अधिक रहती है। अत: बड़े देशों के लिए संघात्मक शासन अत्यन्त उपयुक्त होता है। आन्तरिक कानून व्यवस्था, भू-प्रबन्ध, शिक्षा तथा स्वास्थ्य आदि स्थानीय महत्त्व के विषयों का प्रबन्ध इकाइयों की सरकारें सुचारु रूप से कर सकती हैं और डाक-तार, बाह्य सुरक्षा और यातायात आदि राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों का प्रबन्ध-संघ की सरकार अच्छी तरह कर सकती है।

आर्थिक लाभ—संघात्मक शासन आर्थिक बचत की दृष्टि से भी उत्तम होता है, क्योंकि संघ की स्थापना के कारण वे अनेक व्यय से बच जाते हैं, जो संघ की प्रत्येक इकाई को अलग रहते हुए उन कार्यों पर करने पड़ते जो संघ की सरकार सभी की ओर से करने लगती हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिका के संघ की अनुपस्थिति में उसके 50 राज्यों के पृथक् विदेश विभाग होते और उनके लिए प्रत्येक राज्य की ओर से अलग-अलग दूतावास

प्रत्येक अन्य देश में खोले जाते। संघ बनाने से सबका एक विदेश विभाग हो गया और सब की ओर से एक-एक दूतावास जहाँ आवश्यक हुआ खुल गया और पर्याप्त व्यय की बचत हो गई। इस प्रकार जितने विषयों का प्रबन्ध संघ सरकार को दे दिया जाता है, उतने का व्यय अलग-अलग होने के स्थान पर एक स्थान पर होने लगता है और व्यय की भारी बचत होती है।

निरंकुशता की औषधि—संघात्मक शासन में इस बात की सम्भावना कम रहती है कि कोई व्यक्ति अथवा समुदाय सम्पूर्ण राज्य-शक्ति अपने हाथ में करके एकतन्त्र अथवा किसी दल का श्रेणीतन्त्र स्थापित कर ले, क्योंकि इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण राज्य-शक्ति केन्द्र ही पर नहीं रहती, अपितु वह संघ की इकाइयों में भी निहित होती है। सब ओर से शक्ति को समेट कर एक व्यक्ति अथवा श्रेणी उसे अपने अधिकार में कर ले, यह इस पद्धति में इतनी सुगमता से सम्भव नहीं होता, जितनी सुगमता से वह एकात्मक पद्धति में सम्भव होता है क्योंकि उसमें सम्पूर्ण राज्य-शक्ति एक ही स्थान अर्थात् केन्द्र पर केन्द्रीभूत होती है। संघात्मक शासन इस प्रकार निरंकुशता की औषधि कहा जा सकता है।

संघात्मक शासन-प्रणाली के दोष

इस प्रणाली के निम्न दोष पाये जाते हैं—

आन्तरिक शासन सम्बन्धी निर्बलता—आन्तरिक शासन की दृष्टि से संघात्मक शासन निर्बल होते हैं। संघात्मक शासन प्रणाली में एक प्रकार से दोहरा शासन होता है और शक्ति का विभाजन हो जाने के कारण उसका प्रभाव कम हो जाता है। जिन विषयों का शासन संघ की इकाइयों के सुपुर्द है, उनके विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार के कानून होते हैं। अत: कानूनों की इस भिन्नता के कारण राष्ट्रीय एकता को हानि पहुँचती है और समष्टि रूप से संघ की शक्ति अवश्य निर्बल होती है। दोहरे कानून, दोहरी नागरिकता तथा राजभक्ति आवश्यक रूप से निर्बल करने वाली तथा कुप्रभावकारी होती है। इसके अतिरिक्त दोहरे शासन के कारण प्रबन्ध में अनावश्यक देरी भी होती है और अनावश्यक व्यय भी होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय निर्बलता—जिन संघों का विधान ढीला होता है और इकाइयों को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व और शक्ति प्राप्त होते हैं, वे प्राय: अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी अपने उत्तरदायित्व का पूर्ण निर्वाह नहीं कर सकते। संघात्मक शासन में चूँकि इकाइयों को भी पर्याप्त अधिकार प्राप्त होते हैं, अत: वे ऐसी स्थिति में होते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में केन्द्र पर जैसा चाहे वैसा दबाव डाल सकें। उदाहरणार्थ, हम संयुक्त-राज्य अमेरिका के संघ को ले सकते हैं, जहाँ संघात्मक शासन का यह दोष अच्छी तरह देखने में आया है और अनेक बार राज्यों की सरकारों ने अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को पूरा करने के मार्ग में केन्द्र के लिए रोड़े अटकाये हैं। भारत में भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समझौतों के मामलों में आसाम, केरल आदि राज्यों की ओर से आपत्तियाँ उठाई जाती रही हैं।

रूढ़िवाद का भय—संघात्मक शासन में शासन का आधार वह लिखित और प्राय: दुष्परिवर्तनीय संविधान होता है, जिसके अनुसार संघ की स्थापना होती है। इस प्रकार

का संविधान स्वभावतः उन बातों के प्रति विमुख और उदासीन होता है, जिनकी आवश्यकता परिवर्तनशील परिस्थितियों के कारण उत्पन्न हो जाती है। संवैधानिक शक्ति-विभाजन के अनुसार प्रत्येक इकाई को पर्याप्त शक्ति प्राप्त होती है और संविधान में संशोधन साधारणतः तभी हो सकते हैं, जब निश्चित संख्या में इकाइयों की स्वीकृति प्राप्त हो जाए। ऐसी दशा में कभी-कभी ऐसे अवसर उपस्थित हो जाते हैं कि अति आवश्यकता होने पर भी संविधान में परिवर्तन होना सम्भव नहीं होता, चाहे उसके कारण राष्ट्रीय प्रगति में बाधा ही क्यों न पड़ जाए। इसके अतिरिक्त समय के परिवर्तन के साथ-साथ यह हो सकता है कि पहले इकाइयों के अधिकार में लिये गये किसी विषय को केन्द्र के अधिकार में लाना आवश्यक हो। किन्तु संघात्मक प्रणाली में चूँकि इकाइयों में अपने अधिकारों को सुगमता से न त्यागने की प्रवृत्ति होती है, अतः उक्त परिवर्तन सुगमतापूर्वक सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार संघात्मक प्रणाली में संविधान की दुष्परिवर्तनीयता के कारण प्रायः रूढ़िवादिता को प्रोत्साहन मिलता है।

इकाइयों द्वारा पृथक् होने की सम्भावना—जिन संघात्मक शासनों की स्थापना राज्यों की इच्छा से केवल सीमित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होती है, उनमें विविध राज्यों के शासन पर केन्द्र का नियन्त्रण दृढ़ नहीं होता। अतः ऐसा समय आ सकता है जब किसी मतभेद के कारण कोई राज्य अथवा कुछ राज्य मिलकर संघ की नीति का विरोध करने लग जाएं अथवा उसके विरुद्ध विद्रोह करके उससे पृथक् हो जाएँ। उदाहरणार्थ, हम संयुक्त राज्य अमेरिका को ले सकते हैं वहाँ जब केन्द्र ने दास प्रथा का अन्त करने का निश्चय किया, तो अनेक राज्यों ने उसका विरोध किया था और उसी को लेकर ऐसा विद्रोह प्रारम्भ हुआ था, जिसने गृह-युद्ध का रूप धारण कर लिया था। भारत में भी इस प्रकार की सम्भावना कभी-कभी होने लगती है, विशेषकर तब जबकि क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिए केन्द्र द्वारा कोई कदम उठाया जाए। एकात्मक राज्यों में जिनमें शासन की शक्ति एक स्थान पर होती है, ऐसा सरलता से सम्भव नहीं हो पाता।

अपव्ययता—पृथक्-पृथक् राज्यों की तुलना में जहाँ संघात्मक शासन मितव्ययी होता है, वहाँ एकात्मक शासन की तुलना में वह अपव्ययी होता है, क्योंकि उनमें राजपदाधिकारी प्रायः दुहरे रखने पड़ते हैं और उन पर दुहरा खर्च करना पड़ता है।

संघात्मक शासन प्रणाली का भविष्य

राज्यों के रूपान्तरों के इतिहास को यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है कि छोटे-छोटे राज्य मिलकर बड़े राज्यों में रूपान्तरित होते रहते हैं। राज्य के विकास के अनुसार पहले-पहल संसार में छोटे-छोटे नगर राज्यों का अस्तित्व था और इस प्रकार के राज्य ग्रीस, भारत, इटली तथा चीन आदि सभी देशों में पाये जाते थे। धीरे-धीरे इन सभी देशों में राज्यों में परस्पर संगठित होकर बड़े राज्यों में परिवर्तित होने की प्रवृत्ति उदय हुई और ग्रीक नगर-राज्यों ने अपने को संघों में परिवर्तित किया। जर्मन

राज्यों ने पहले अपने को परिसंघ (Confederation) और फिर संघ (Federation) में संगठित किया। इटली के नगर-राज्यों से रोमन साम्राज्य और भारत के छोटे-छोटे राज्यों से पाटलिपुत्र का साम्राज्य बना था। इस प्रकार हम देखते हैं कि छोटे-छोटे राज्यों की परस्पर मिलकर बड़ा राज्य बन जाने की प्रवृत्ति अति प्राचीन काल से चली आ रही है। आधुनिक युग में जब वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण आवागमन के साधन इतने बढ़ गये हैं कि सम्पूर्ण जगत एक हो गया है, इस प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहन मिल रहा है। अमेरिका, पूर्व सोवियत रूस तथा भारत आदि अनेक ऐसे रूपान्तरित राज्य तो विद्यमान हैं ही, अनेक स्थानों में नवीन संघात्मक शासनों की स्थापना की चर्चा सुनने में आ रही है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी यूरोप के अनेक राज्य मिलकर अपना एक संघ बनालें, यह विचार निरन्तर जोर पकड़ रहा हैं। ऐसा ही विचार अनेक अफ्रेशियायी देशों में भी जोर पकड़ रहा है तथा अनेक ऐसे संगठनों की स्थापना होती चली जा रही है। इससे छोटे-छोटे राज्यों द्वारा मिलकर एक होकर बड़े राज्यों की स्थापना की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। राष्ट्रमण्डल (Commonwealth of Nations) तथा संयुक्त-राष्ट्र संघ (United Nations Organisation) जैसी संस्थाओं की स्थापना से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विश्व के विविध राज्यों में परस्पर एक बड़े समुदाय बनाने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे विकसित हो रही है और यदि इस प्रवृत्ति ने और बल पकड़ा तो यह असम्भव नहीं है कि अब सम्पूर्ण विश्व के सभी राज्य एक विश्व संघ में संगठित हो जायें। अत: संघात्मक शासन-प्रणाली का भविष्य अति उज्ज्वल है। विश्व संघ जैसे स्वप्नों की पूर्ति इसी शासन-प्रणाली द्वारा सम्भव हो सकती है।

परन्तु दूसरी ओर कुछ देशों में विघटनात्मक प्रवृत्तियाँ भी देखने को मिलती हैं। संयुक्त अरब गणराज्य के रूप में गठित मिश्र और सीरिया के संघ का विघटन, मलेशिया संघ से सिंगापुर का सम्बन्ध-विच्छेद, बंगला देश की आजादी आदि इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। नाइजीरिया के संघ की सुरक्षा के लिए हुआ भीषण संघर्ष एवं जनसंहार अभी तक भुलाया नहीं जा सका है। यही नहीं ब्रिटेन जैसे विकसित देशों में भी विघटन की प्रवृत्ति दिखाई देती है। समष्टि रूप में यह कहा जा सकता है कि विकसित राज्यों में संघ बनाने व विकासशील राज्यों में क्षेत्रीय संघर्षों की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

विकसित किन्तु छोटे राज्यों की समस्या आर्थिक कम तथा सुरक्षा सम्बन्धी अधिक होती है। अत: सुरक्षा की व्यवस्था करने के लिये उनमें संघ बनाने की प्रवृत्ति बलशाली रहती है। दूसरी ओर विकासशील देशों की समस्या मुख्यत: आर्थिक होती है तथा आर्थिक सम्पन्नता व विपन्नता पर निर्भित वर्गों में से आर्थिक दृष्टि से विपन्न वर्ग जब यह अनुभव करता है कि सम्पन्न वर्ग शासन के माध्यम से उसका शोषण कर रहा है तो उन देशों में संघर्ष होता है तथा विघटन की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। इस आधार पर संघवाद के भविष्य के विषय में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ज्यों-ज्यों आर्थिक सुरक्षा बढ़ती जायेगी संघवाद का भविष्य उज्ज्वल होता जायेगा।

SELECT READINGS

Bluntschli	:	*The Theory of the State.*
Bryce	:	*The American Commonwealth.*
Corry and Abraham	:	*Elements of Democratic Government.*
Dicey	:	*The Law of the Constitution.*
Gettell	:	*Readings in Political Science.*
Gilchrist	:	*Principles of Political Science.*
Leacock	:	*The Limitations of Federel Governments.*
Mill	:	*Representative Government.*
Pennock and Smith	:	*Political Science : An Introduction.*

❑❑❑

7

मताधिकार, निर्वाचन तथा प्रतिनिधित्व

''आधुनिक राज्य प्राचीन ग्रीक नगर राज्यों की अपेक्षा विस्तार में अधिक बड़े हैं और नागरिकों के लिए यह असम्भव है कि कानूनों पर विचार-विनिमय करने के लिए वे एक स्थान पर इकट्ठे हो सकें। अतः आधुनिक जनतन्त्र प्रतिनिधित्व प्रणाली पर आधारित होता है, जिसके द्वारा सब नागरिक कानून बनाने वाली सभा में भाग लेने के बजाए औरों को उसके लिये निर्वाचित करते हैं।'' —गिलक्राइस्ट

आधुनिक राज्य का स्वरूप वह नहीं रहा है, जो प्राचीन ग्रीस के नगर-राज्यों का होता था और न अब जनतन्त्रवाद का वह स्वरूप सम्भव है, जो उन नगर राज्यों में होता था। आधुनिक राज्यों में विस्तार के कारण प्रत्यक्ष अथवा शुद्ध जनतन्त्रवाद सम्भव नहीं है। अब हमें केवल अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक जनतन्त्रवाद से ही सन्तुष्ट होना पड़ता है, क्योंकि क्षेत्रफल की दृष्टि से इतने विस्तृत आधुनिक राज्यों में जनता के प्रभुत्व की मर्यादा की रक्षा उसके द्वारा व्यवस्थापिका सभाओं के निर्वाचन तथा उनके द्वारा सरकारों की नियुक्ति की व्यवस्था द्वारा की जाती है। आधुनिक जनतन्त्रवाद में जनता राज्यों के शासन में स्वयं वैयक्तिक रूप से नहीं, अपितु अपने द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा सामूहिक रूप से भाग लेती है। इस प्रकार जनतन्त्रवाद के आधुनिक युग में निर्वाचन की समस्या का महत्व अत्यधिक हो गया है। यहाँ हम निर्वाचन सम्बन्धी विविध समस्याओं का अध्ययन करेंगे।

मताधिकार का आधार

निर्वाचन पर विचार करते समय सबसे पहली समस्या हमारे समक्ष यह आती है कि निर्वाचन सम्बन्धी अधिकार अर्थात् मताधिकार का आधार क्या हो ? मताधिकार के सम्बन्ध में साधारणतः दो प्रकार की विचारधाराएँ हैं। एक विचारधारा के अनुसार यह माना जाता है कि प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार प्रकृतिदत्त है कि वह मतदाता हो। दूसरे शब्दों में,

प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के सदस्य होने के नाते यह नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है कि वह राज्य के शासन में भाग ले सके और उसके लिये उन प्रतिनिधियों के निर्वाचन में हाथ बटा सके, जिन्हें राज्य का शासन चलाना है। दूसरी विचारधारा के अनुसार निर्वाचन में भाग लेने अथवा मत देने का अधिकार एक विशेष अधिकार है, जो प्राकृतिक रूप से सभी को प्राप्त नहीं होता, अपितु जो उपयोगिता की दृष्टि से केवल उन्हीं लोगों अथवा नागरिकों को दिया जाता है जो उसका उचित प्रयोग करने की क्षमता रखते हैं। दूसरे शब्दों में इस विचारधारा के अनुसार मतदाता का भी एक पद उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार अन्य कोई राजकीय पद होता है और वह केवल ऐसे व्यक्तियों को दिया जाता है जो उसके लिए योग्य हों तथा जो उसका कार्य उत्तरदायित्व तथा योग्यता से कर सकें।

आधुनिक लोकतन्त्रवाद को हम अप्रत्यक्ष लोकतन्त्रवाद भी कह सकते हैं। उसके प्रारम्भ के समय प्रथम विचारधारा का प्रभाव अधिक था और आधुनिक लोकतंत्रवाद को जन्म देने वाले क्रांतिकारी विचारकों का यही विचार था कि मतदान का अधिकार जन्मसिद्ध एवं प्राकृतिक है और इसलिए वह सभी को प्राप्त होना चाहिये। **मौन्टेस्क्यू** का विचार था कि "प्रतिनिधियों को चुनने के लिये मत देने का अधिकार राज्य के उन निवासियों को छोड़कर, जिनकी दशा इतनी हीन हो कि उनकी अपनी कोई इच्छा ही न हो, सबको प्राप्त होना चाहिए।"[1] प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक रूसो का विचार था कि चूँकि राज्य की संप्रभुत्व-शक्ति जनता में निहित होती है, अतः प्रत्येक नागरिक को यह प्राकृतिक अधिकार है कि वह संप्रभुत्व-शक्ति में हाथ बंटाने के लिये मतदान का अधिकारी हो। क्रान्तिकारी नेता रोबस्पियर का भी ऐसा ही विचार था कि संप्रभुत्व-शक्ति सम्पूर्ण जनता में निहित होती है, अतः प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार है कि वह उन कानूनों के निर्माण में भाग ले जिसके द्वारा उस पर शासन होता है, तथा उन प्रतिनिधियों के निर्वाचन में भाग ले जिनके द्वारा उन कानूनों का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार क्रान्तिकारी विचारक और नेतागण मताधिकार की प्राकृतिकता का समर्थन करने वाले थे। फिर भी जब लोकतन्त्र की स्थापना हुई तो मतदान का स्वरूप पूर्णतः प्राकृतिक नहीं रह सका और सिद्धान्त को व्यवहार में लाते समय उसका स्वरूप व्यावहारिक हो गया। फलतः उस विचारधारा का अनुसरण किया गया जिसके अनुसार मत देने का अधिकार सबको नहीं वरन् केवल उन्हीं को दिया गया जो उसके योग्य थे। उदाहरणार्थ, 1991 के फ्रांसीसी संविधान में सब व्यक्तियों को सामान्य और सक्रिय (Active), इन दो नागरिक वर्गों में बाँटा गया और मत देने का अधिकार केवल उन्हीं लोगों को दिया गया, जो सक्रिय नागरिक थे। इस प्रकार मताधिकार को नैसर्गिक अधिकार न मानकर एक ऐसा राज्य प्रदत्त पद माना गया जो किसी योग्यता के आधार पर ही दिया जा सकता था। इसके बाद मताधिकार के विषय में सदैव यही सिद्धान्त माना जाता रहा है, यद्यपि

1. "All inhabitants.................ought and have a right of voting at the selection of representatives, except such as are in so mean a situation as to be deemed to have no will of their own."

—Montesquieu : *Spirit des Lois,*Bk, XI, Ch. 6.

वह योग्यता जिसके आधार पर यह अधिकार व्यक्ति को प्रदान किया जाना चाहिए, समय-समय पर और देश-देश में विभिन्न रही है। योग्यता के सम्बन्ध में भी अनेक विचारकों ने विभिन्न मत प्रतिपादित किये हैं। कुछ लोग उस साधारण मताधिकार का समर्थन करते हैं जिसका तात्पर्य वयस्क मताधिकार से होता है। मिल (Mill) ने शिक्षा को मताधिकार की कसौटी बताया है। उसके मतानुसार अशिक्षित व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिए। कुछ विचारकों के अनुसार मताधिकार एक निश्चित अनुपात में सम्पत्ति के स्वामित्व की शर्त द्वारा प्रतिबन्धित होना चाहिए। कुछ विचारक इस मत के भी समर्थक रहे हैं कि स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिये। इस प्रकार उस मापदण्ड के विषय में जिस पर मताधिकार की योग्यता निर्भर होनी चाहिए, अनेक प्रकार के विचारों का प्रतिपादन हुआ है। अब हम एक-एक करके मताधिकार सम्बन्धी योग्यता से संबंधित इन समस्याओं पर विचार करेंगे।

सम्पत्ति संबंधी योग्यता

कहा जाता है कि सम्पत्तिशाली व्यक्तियों को समाज में व्यवस्था बनाये रखने की चिन्ता निर्धन लोगों से अधिक होती है, क्योंकि समाज में अव्यवस्था होने से उनकी सम्पत्ति का रहना कठिन हो जाता है। चूँकि निर्धन लोगों को इस बात की कोई चिन्ता नहीं होती, अत: वे इसकी भी विशेष पर वहा नहीं करते कि समाज में राजनीतिक व्यवस्था बनी ही रहे। अतएव मताधिकार के सम्बन्ध में एक मत यह प्रतिपादित किया गया है कि देश के राजनीतिक जीवन को श्रेष्ठ व सुन्दर बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि मताधिकार केवल धनी वर्ग के लोगों को ही प्राप्त हो। मिल (Mill) ने भी इस विषय में ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं तथा कहा है कि उन लोगों जो स्वयं कोई कर नहीं दे सकते यदि मताधिकार द्वारा दूसरों की सम्पत्ति पर कर लगाने का और उसे व्यय करने का अधिकार प्राप्त होगा, तो वे स्वभावत: राष्ट्रीय सम्पत्ति का अपव्यय करेंगे। अत: यह आवश्यक है कि मताधिकार केवल उन्हीं लोगों को दिया जाये जो कर देने वाले अर्थात् धनी वर्ग के हों।

परन्तु अब सम्पत्ति पर आधारित मताधिकार का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जाता तथा सम्पत्ति का स्वामित्व अब मताधिकार की आवश्यक योग्यता नहीं समझा जाता। अब यह सर्वत्र स्वीकार किया जाने लगा है कि सम्पत्ति ही मनुष्य की योग्यता की कसौटी नहीं है और आवश्यक नहीं है कि धनिक वर्ग ही लोक कल्याण की भावना से मतदान करे और समाज में व्यवस्था बनाये रखने के समर्थक हों। सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त होना प्रायः योग्यता का पुरस्कार न होकर उत्तराधिकार अथवा किसी अनुचित ढंग के प्रयोग का परिणाम होता है। अत: धनी व्यक्तियों को मताधिकार देना और निर्धनों को उससे वंचित रखना सरासर अन्यायपूर्ण है। कर देने के आधार पर धनिकों को मताधिकार देने को न्याय ठहराना भी अनुचित है, क्योंकि कर का भार केवल उन्हीं लोगों पर नहीं पड़ता, जो प्रत्यक्ष रूप से कर देते हैं, अपितु वह उन लोगों पर भी पड़ता है जो देश की अर्थव्यवस्था से किसी भी रूप से सम्बद्ध होते हैं।

शिक्षा सम्बन्धी योग्यता

कुछ विचारकों के अनुसार मताधिकार उन लोगों को मिलना चाहिये जो शिक्षित अथवा कम से कम साक्षर अवश्य हों। इसी आधार पर मिल ने कहा है कि सर्वसाधारण में मताधिकार प्रचलित करने से पहले हमें उनको शिक्षित बनाने की व्यवस्था करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में जो तर्क उपस्थित किया जाता है वह यह है कि अशिक्षित व्यक्ति साधारणत: इस योग्य नहीं होते कि वे राजनीतिक समस्याओं को ठीक से समझ सकें। इसलिये मतदान के विषय में उनके निर्णय भी अशुद्ध होते हैं। आधुनिक युग में तो मतदाता के लिए शिक्षा का महत्त्व और भी अधिक है क्योंकि राजनीतिक समस्याओं के विषय में विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा किये गये प्रचार को समझने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह शिक्षित हों।

इसमें संदेह नहीं कि मताधिकार के उचित तथा विवेकपूर्ण प्रयोग के लिये यह आवश्यक रूप से लाभदायक है कि मतदाता शिक्षित हो फिर भी यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि मतदाता के लिये शिक्षा का स्तर क्या होना चाहिये। मतदाता को ग्राम पंचायत के चुनाव से लेकर संसद के चुनाव तक विभिन्न स्तरों की समस्याओं के आधार पर विभिन्न स्तरों के चुनावों में भाग लेना पड़ता है। अत: ऐसी दशा में यह निश्चय करना कि शिक्षा का अमुक स्तर मतदाता के लिये उपयुक्त होगा, अत्यन्त कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। इसके अतिरिक्त यह मान लेना कि केवल शिक्षित व्यक्ति ही राजनीतिक समस्याओं को ठीक से समझ सकता है अथवा सभी शिक्षित व्यक्ति सभी राजनीतिक समस्याओं को ठीक से समझते हैं, अनुचित है। अत: साक्षरता का तो कहना ही क्या, हम शिक्षा को ही मताधिकार के अनिवार्य आधार के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। राजनीतिक समस्याओं के उचित ज्ञान के लिये और उसके परिणामस्वरूप विवेकपूर्ण भावना के लिये साधारण विवेक, बुद्धि और समस्याओं के समझने के प्रति लगन की आवश्यकता शिक्षा से कम नहीं होती है। वस्तुत: जैसा **गार्नर** ने कहा है। "विज्ञान अथवा ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में उच्च बौद्धिक सफलता से ही सार्वजनिक मामलों के विषय में अज्ञान पर रोक नहीं लग जाती है।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि मताधिकार के विवेकपूर्ण प्रयोग के लिए मतदाता का शिक्षित होना आवश्यक है तथापि शिक्षा की योग्यता मताधिकार के लिये अनिवार्य नहीं समझी जा सकती।

धर्म सम्बन्धी योग्यता

किसी समय में धर्म-सम्बन्धी योग्यता भी मताधिकार का आधार मानी जाती रही है और मताधिकार केवल उन्हीं लोगों को दिया जाता रहा है जो राज्य द्वारा प्रवर्तित अथवा समर्थित धर्म के अनुयायी हों। किन्हीं राज्यों में धर्म के आधार पर लोगों को मताधिकार के अयोग्य भी समझा गया है। इंग्लैण्ड आदि कुछ देशों में कुछ धर्म अथवा सम्प्रदाय के लोगों

---

1. "High intellectual attainments is science or other fields of knowledge is no guarantee against gross ignorance in respect to public affairs."
—Garner : *Political Science and Government*, p. 579.

को मताधिकार से वंचित रखा जाता रहा है। किन्तु मताधिकार के लिए धर्म-सम्बन्धी योग्यता की बात अब उस युग में जिसमें राजनीति धर्म से प्राय: पृथक् हो चुकी है और प्रवृत्ति राज्य की धर्म निरपेक्षता की ओर है, मताधिकार की योग्यता अथवा अयोग्यता से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है।

नस्ल सम्बन्धी योग्यता

किन्हीं देशों में मतदाताओं की योग्यता का आधार नस्ल माना जाता है और उसके अनुसार किसी नस्ल विशेष के लोगों को मत देने का अधिकार दिया जाता है अथवा किसी नस्ल विशेष के व्यक्तियों को मताधिकार से वंचित रखा जाता है। उदाहरणार्थ, दक्षिणी अफ्रीका में अनेक राज्यों में केवल श्वेतों को ही मत देने का अधिकार प्राप्त होता है तथा शेष लोगों को इस आधार पर मताधिकार से वंचित रखा जाता है कि वे काली नस्ल के हैं। किन्तु आधुनिक युग में जाति अथवा रंग-भेद की मान्यता समाप्त हो रही है और जहाँ कहीं भी इस प्रकार का मतभेद अब भी विद्यमान है, उसे सब हेय समझते हैं। उसे समाप्त करने की दिशा में सर्वत्र आन्दोलन हो रहा है।

लिंग-सम्बन्धी योग्यता

अनेक राज्यों में लिंग को मताधिकार का आधार माना जाता रहा है और केवल पुरुषों को ही मतदान का अधिकार दिया जाता रहा है। स्विट्जरलैण्ड में यह सिद्धान्त मान्य रहा है। यूरोप के अनेक राज्यों में भी जहाँ रोमन कैथोलिक धर्म का प्राधान्य है केवल पुरुषों को मताधिकार प्राप्त है और स्त्रियाँ मताधिकार से वंचित हैं। स्त्रियों को मताधिकार दिया जाना चाहिए अथवा नहीं, यह विषय अत्यन्त विवादग्रस्त है। जो लोग इस मत के मानने वाले हैं कि स्त्रियों को मताधिकार नहीं मिलना चाहिये, अपने पक्ष के समर्थन में निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं:

(1) प्रकृति ने स्त्री को माता बनने को उत्पन्न किया है। अत: उसका एकमात्र कर्त्तव्य सन्तान उत्पन्न करना और उसे देश का उत्तम नागरिक बनाना है। अपने इस कर्त्तव्य का पालन स्त्री केवल तभी कर सकती है, जब उसका कार्यक्षेत्र राजनीति का मंच न होकर घर हो। राजनीति के पचड़ों में पड़कर वह अपने उस महत्वपूर्ण कर्त्तव्य का निर्वाह नहीं कर सकती, जिसके लिए उसे प्रकृति ने उत्पन्न किया है।

(2) स्त्रियों को मताधिकार दिये जाने से गृहस्थ जीवन में क्लेश उत्पन्न होने का भय रहता है। यदि किसी गृहस्थी में स्त्री व पुरुष में मतदान के विषय पर एकमत न हुआ तो वहाँ गृह कलश उत्पन्न हो जायेगा तथा गृहस्थी उस राजनीतिक कलह और प्रतिस्पर्द्धा का केन्द्र बन जायेगी जो निर्वाचन की सहगामिनी होती है। इसके अतिरिक्त यदि स्त्रियाँ अपने पति द्वारा चुने हुए उम्मीदवार को ही मत दें, तो उनके मतों का कोई मूल्य नहीं हो सकता। अत: उन्हें मताधिकार मिलना ही व्यर्थ है।

(3) स्त्रियाँ स्वभावत: शारीरिक दृष्टि से प्राय: कोमलांगी होती हैं। अत: वे उन कार्यों को करने के लिए अयोग्य होती हैं, जो पुरुष नागरिक के रूप में करने में समर्थ होते

हैं। उदाहरणार्थ, स्त्रियाँ सेना अथवा पुलिस में प्रवेश करके देश की रक्षा में भाग नहीं ले सकतीं। इस प्रकार जब स्त्रियाँ नागरिकता के उक्त प्रकार के आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन करने की क्षमता नहीं रखतीं, तो उन्हें मताधिकार की माँग करने का कोई अधिकार नहीं है।

(4) सामाजिक जीवन में स्त्रियाँ प्राय: पुरुषों पर निर्भर रहती हैं और उनका सम्पूर्ण जीवन पुरुष के संरक्षण में ही कटता है। स्वभावत: उनमें आत्म-निर्णय की शक्ति की कमी होती है। मतदान के समय उनके निर्णय अन्ध-विश्वास और संकीर्णता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाते। ऐसे मतदाताओं के मतदान के परिणास्वरूप यह भी सम्भव हो सकता है कि अवांछित प्रकार के उम्मीदवारों का निर्वाचन हो जाये और ऐसा निर्वाचन देश की उन्नति एवं प्रगति के लिए बाधक सिद्ध हो।

(5) अनुभव यह बताता है कि स्त्रियाँ प्राय: मतदान के प्रति उदासीन होती हैं और वे मतदान केन्द्रों तक जाने के लिए भी ओरों का मुँह जोहती हैं। कहा जाता है कि जिन देशों में स्त्रियों को मताधिकार मिला हुआ है, वहाँ भी स्त्रियों ने उसका प्रयोग कम ही किया है और इसलिए जब स्त्रियाँ उस अधिकार के प्रति उदासीन हैं तो उन्हें अधिकार देना व्यर्थ है।

इसके विपरीत वे लोग जो इस मत को मानने वाले हैं कि स्त्रियों को मताधिकार मिलना चाहिए, निम्न युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं :

(1) कोई भी व्यक्ति, जो राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना है, मत देने का अधिकारी होता है। यह आवश्यक नहीं कि कर्त्तव्य का पालन सबके लिए सब तरह से समान होता हो। पुरुष के समान स्त्रियाँ भी राज्य के प्रति कर्त्तव्यों का पालन करती हैं। चूँकि पुरुष व स्त्री दोनों ही अपने कर्त्तव्यों का पालन अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार ही करते हैं, अत: दोनों को ही मत देने का अधिकार होना चाहिये। स्त्रियों को केवल इस आधार पर कि वे स्त्रियाँ हैं, मताधिकार से वंचित नहीं रखा जाना चाहिए।

(2) राज्य सार्वजनिक हित की साधना करता है और व्यक्ति मताधिकार द्वारा स्वयं उस हित-साधना में भाग लेता है। मतदान द्वारा अपने हित की साधना करना पुरुष के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक वह स्त्री के लिए भी है। अत: जिस आधार पर पुरुषों को मताधिकार मिलता है, उसी आधार पर स्त्रियों को भी वह मिलना आवश्यक है, क्योंकि उन्हें भी अपने हितों की रक्षा करना आवश्यक होता है। राज्य मानव-हित साधन के जो कानून बनाता है अथवा अन्य व्यवस्थाएँ करता है, उनका सम्बन्ध स्त्रियों के हितों से भी होता है। अत: आवश्यक है कि ऐसे कानूनों का निर्माण अथवा ऐसी व्यवस्थाओं का संचालन उन व्यक्तियों द्वारा हो, जिनके निर्वाचन में स्त्रियों ने भी भाग लिया हो।

(3) नागरिकता के अन्य अनेक अधिकार स्त्री पुरुष दोनों को ही प्राप्त होते हैं। पुरुषों के ही समान स्त्रियों को भी सम्पत्ति पर स्वत्व रखने का अधिकार होता है, अपनी आजीविका कमाने का अधिकार होता है तथा स्वतन्त्र रूप से जीवन व्यतीत करने का अधिकार

होता है। स्त्रियों को जब नागरिकों के अन्य अधिकार प्राप्त होते हैं, तब यह कहना उन्हें मत देने का अधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिए, सर्वथा अनुचित है।

(4) मताधिकार द्वारा यदि स्त्रियाँ राजकार्य के संचालन में भाग लेंगी तो उसका परिणाम हितकर ही होगा। स्त्रियों के स्वभाव के विषय में कहा जाता है कि वे साधारणत: शान्ति और व्यवस्था प्रिय होती हैं। अत: उनकी उपस्थिति से राज्य के कार्यों का संचालन शान्ति और व्यवस्था की दिशा में होने की सम्भावना अधिक हो सकती है। मानव हितकारी व्यवस्थापन के लिये यह आवश्यक है कि स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त हो।

(5) यह कहा जाता है कि चूँकि स्त्रियाँ अधिकतर अपने मताधिकार का प्रयोग अपने पुरुषों की इच्छा के अनुसार ही करती हैं, अत: उन्हें मताधिकार देना व्यर्थ है। किन्तु इस आधार पर उन्हें मताधिकार से वंचित रखना अनुचित है। जिस प्रकार हम यह सम्भव समझते हैं कि स्त्रियाँ पुरुषों की इच्छा के अनुसार मत देती हैं, उसी प्रकार क्या यह सम्भव नहीं है कि अनेक पुरुष भी स्त्रियों की इच्छानुसार मतदान करते हों। इस आधार पर कि अमुक व्यक्ति मताधिकार का प्रयोग ठीक ढंग से नहीं करेगा, उसे मताधिकार न देना सर्वथा अनुचित है। वस्तुत: मताधिकार मिलने से व्यक्ति में राजनीतिक चेतना उत्पन्न होती है और वह उत्तम नागरिक बनता है। यह बात जितनी पुरुषों के विषय में लागू है, उतनी ही स्त्रियों के विषय में लागू है।

स्त्रियों के मताधिकार के विषय में इस प्रकार का वाद-विवाद बहुत दिन से चलता रहा है, किन्तु फिर भी अब प्रवृत्ति यही है कि स्त्रियों को भी पुरुषों के ही समान मताधिकार दिया जाये। संसार ने यह देख लिया है कि स्त्रियों का कार्य क्षेत्र अब घर तक ही सीमित नहीं रह गया है और वे जीवन के अनेक क्षेत्रों में घर से बाहर भी कार्य करने लगी हैं। यदि आर्थिक क्षेत्र में देखा जाये तो हम स्त्रियों को कार्य करते पाते हैं, सामाजिक क्षेत्र में देखा जाये तो हम स्त्रियों को समाज सेवा के कार्यों में रत पाते हैं, और राजनीतिक क्षेत्र में देखा जाये तो भी हम उन्हें सक्रिय पाते हैं। अब प्राय: सर्वत्र अविवाहित अथवा विधवा स्त्रियाँ ही नहीं, विवाहित स्त्रियाँ भी अपनी आजीविका के उपार्जन के लिए घर से बाहर कार्य करती हैं तथा सामाजिक एवं राजनीतिक आन्दोलनों में पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर काम करती हैं। राजनीतिक आन्दोलनों में ही नहीं, राज्य के रक्षा-सम्बन्धी कार्यों में भी स्त्रियाँ अब पूर्ण रूप से भाग लेने लगी हैं। बीसवीं शताब्दी के दोनों विश्वयुद्धों में स्त्रियों ने सहायक सेवाओं (Auxiliary Services) में कार्य करके किस प्रकार युद्धों में सक्रिय भाग लिया यह हम सभी जानते हैं। सारांश यह है कि अब स्त्रियाँ घरों की चहारदीवारी के अन्दर ही जीवन नहीं बिताती, अपितु वे जीवन-संघर्ष में पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलती हैं, उन्हीं की तरह स्वतन्त्र रूप से आजीविका का उपार्जन करती हैं और जीवन के सभी प्रकार के कार्य करती हैं और देश की रक्षा में भी भाग लेती हैं। ऐसी दशा में उन्हें मताधिकार से वंचित रखा जाना उचित नहीं समझा जाता और प्राय: सभी प्रगतिशील राज्यों में स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त हैं अथवा होता जा रहा है।

वयस्कता की योग्यता

प्राय: सर्वत्र अब वयस्कता को मताधिकार का आधार माना जाता है और सम्पत्ति, शिक्षा, नस्ल तथा लिंग आदि के भेद के बिना उन सब व्यक्तियों को मत देने का अधिकार प्रदान किया जाता है, जो वयस्क होते हैं। वयस्क मताधिकार को ही लोग सर्वसाधारण मताधिकार भी कहते हैं। इसके अनुसार जो अल्पवयस्क, विक्षिप्त, दिवालिए, अपराधी और विदेशी लोग मताधिकार से वंचित रह जाते हैं उनका वंचित रहना ही उचित समझा जाता है। इसके समर्थकों का कहना है कि मताधिकार नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है। मताधिकार का आधार वयस्कता होना चाहिये। इसके पक्ष में वे निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं:

(1) प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का समान अवसर मिलना चाहिये। चूँकि शासन द्वारा निर्मित परिस्थितियों से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है, अत: शासन के क्रिया-कलापों का सम्बन्ध सभी व्यक्तियों से प्राय: समान होता है, मतदान द्वारा शासन के प्रतिनिधियों का निर्वाचन करके और शासन-कार्य में भाग लेकर व्यक्तित्व के विकास का अवसर समान रूप से सबको मिल सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि मताधिकार सर्वसाधारण को वयस्कता के आधार पर प्राप्त हो।

(2) निर्वाचन का एक लाभ यह माना जाता है कि उसके द्वारा जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है। निर्वाचन के समय विभिन्न राजनीतिक दल राजनीतिक शिक्षण का कार्य करते हैं। इस राजनीतिक शिक्षण का लाभ उतना ही अधिक होगा जितने अधिक समझदार लोग मतदान के अधिकारी होने के कारण उसके प्रति आकर्षित होंगे। अत: व्यापकतम राजनीतिक शिक्षण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि मताधिकार का आधार वयस्कता हो।

(3) लोकतन्त्र का शुद्ध रूप वही कहा जा सकता है, जिसमें सभी वर्गों के हितों की उचित साधना होती रहे। सब वर्गों के हितों और उनके अधिकारों का उचित संरक्षण तभी हो सकता है, जब प्रत्येक वर्ग के लोगों को अपने मतों द्वारा शासन की नीतियों और उसके कार्यों को प्रभावित करने का अवसर प्राप्त हो। चूँकि ऐसा अवसर अधिक से अधिक वर्गों के लोगों को तभी प्राप्त हो सकता है, जब मताधिकार का आधार वयस्कता हो, अत: वयस्क मताधिकार वर्ग हित की दृष्टि से भी वांछनीय है।

(4) आधुनिक युग में राज्य का कार्यक्षेत्र व्यक्ति के राजनीतिक जीवन तक ही सीमित नहीं रह गया है, अपितु उसका सामाजिक और आर्थिक जीवन भी उसके कार्य-क्षेत्र में आ गया है। चूँकि राज्य के कार्यों का प्रभाव व्यक्ति के सामाजिक और आर्थिक जीवन पर भी पड़ता है, अत: केवल राजनीतिक हितों की ही दृष्टि से नहीं, अपितु सामाजिक और आर्थिक हितों की रक्षा की दृष्टि से भी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह शासन-कार्य में भाग ले। शासन-कार्य में भाग लेने का अवसर अधिक से अधिक लोगों को तभी मिल सकता है, जब मताधिकार का आधार वयस्कता हो।

(5) लोकतन्त्र के सफल संचालन के लिए यह आवश्यक है कि जिन लोगों के हाथ में शासन की बागडोर हो, उन्हें अधिक से अधिक जनता का विश्वास प्राप्त होना चाहिए।

यदि मताधिकार सीमित होगा, तो शासन के संचालक जनता के किसी अंश द्वारा ही निर्वाचित होंगे और उन्हें सम्पूर्ण जनता का विश्वास प्राप्त नहीं होगा। निर्वाचित व्यक्तियों को अधिक से अधिक जनता का विश्वास तभी प्राप्त होगा, जब उनका निर्वाचक वयस्क मताधिकार के आधार पर होगा। अतः विश्वस्त लोगों द्वारा लोकतन्त्र के सफल संचालन के लिये मताधिकार का आधार वयस्कता होना आवश्यक है।

वयस्क मताधिकार के पक्ष में दी जाने वाली उपर्युक्त युक्तियों में दर्शाये गये गुणों के होने के बावजूद अनेक आलोचकों ने, जिनमें मिल, हेनरी मेन तथा लॉक आदि मुख्य हैं, वयस्क मताधिकार का खण्डन किया है। वयस्क मताधिकार के आलोचकों का मुख्य तर्क यह है कि मताधिकार जन्मसिद्ध अधिकार न होकर एक समाज अथवा राज्य-प्रदत्त अधिकार है, जो केवल उन्हीं लोगों को दिया जाता है जो उसका उचित प्रयोग करने की क्षमता रखते हों। वयस्क मताधिकार के आलोचक इसके विरोध में निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं:

(1) सर्वसाधारण में इतनी योग्यता नहीं होती कि वे अपना वास्तविक हित ठीक-ठीक समझ सकें। अतः यदि सभी को मताधिकार दे दिया जाये, तो यह सम्भव है कि सर्वसाधारण मतदाताओं का हित होने के स्थान पर अहित हो जाये। अतः मताधिकार सब वयस्कों को न होकर केवल उन्हीं को प्राप्त होना चाहिए जिन्हें सार्वजनिक हित अथवा अहित का उचित ज्ञान हो।

(2) सर्वसाधारण लोग अधिकतर निर्धन होते हैं और उनके मत धन से खरीदे जा सकते हैं। अतः वयस्क मताधिकार द्वारा ऐसे सब लोगों को मताधिकार देना व्यर्थ है जो अपने मतों को बेच कर उसका दुरुपयोग करते हैं। जो वयस्क मताधिकार निर्धनों और धनिकों को समान स्तर पर रखकर घूँस और भ्रष्टाचार को जन्म देता है, उसे वांछनीय नहीं कहा जा सकता।

(3) शासन की समस्याएँ आजकल इतनी जटिल होती जा रही हैं कि सर्वसाधारण के लिये उनका समझना दुष्कर है। अधिकतर व्यक्तियों के पास इतना समय नहीं है कि वे उनको समझें और समझकर मतदान के सम्बन्ध में अपना निर्णय करें। अतः वयस्क मताधिकार का परिणाम यह होता है कि निर्वाचन राजनीतिक समस्याओं के ज्ञान के आधार पर न होकर सामयिक नारों के आवेश के आधार पर होता है। इस प्रकार चूँकि निर्वाचन के समय सर्वसाधारण अपने मताधिकार का उचित प्रयोग नहीं कर पाते, अतः मताधिकार का आधार वयस्कता होना व्यर्थ है।

(4) अधिकांशतः साधारण लोग रुढ़िवादी होते हैं। लोग साधारणतः उस प्रगति पथ के प्रति उदासीन होते हैं जिस पर बढ़ना आधुनिक राज्य के लिए आवश्यक होता है। चूँकि वयस्क मताधिकार द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से शासन की शक्ति उन लोगों के हाथ में पहुँच जाती है, जो प्रायः रुढ़िवादी होते हैं, अतः मताधिकार का वयस्कता पर आधारित होना उपयोगी नहीं है।

वयस्क मताधिकार की वांछनीयता-अवांछनीयता के विषय में इन मतभेद के मध्य यह देखना है कि सत्य क्या है। जो कुछ इसके विरोध में कहा गया है, उस पर यदि हम ध्यानपूर्वक विचार करें तो यह विदित हो जाता है कि यह सब प्राय: वही है, जो लोकतन्त्रवाद के विरोध में कहा जाता है। जिस प्रकार लोकतन्त्रवाद के विषय में यह कहा जाता है कि अधिकांश जनता में उसके प्रयोग करने की क्षमता नहीं होती; उसी प्रकार वयस्क मताधिकार के विषय में यह कहा जाता है कि साधारण जनता में उसके प्रयोग की क्षमता नहीं होती। वस्तुत: जनता की अक्षमता का कारण यही है कि उसे उसके प्रयोग का अवसर ही बहुत कम मिला है। इस सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण है कि चूँकि साधारण जनता मताधिकार के लिये अक्षम है, अत: उसे उसके प्रयोग का अवसर ही नहीं दिया जाना चाहिए। वस्तुत: इस सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि यदि हमें जनता को मताधिकार के लिए समर्थ और प्रगतिशील बनाना है, तो उसके लिए उसका अनुभव प्राप्त करने की व्यवस्था की जाये। अक्षमता के आधार पर जब तक जनता को मताधिकार से वंचित रखा जाएगा, वह तब तक अक्षम ही बनी रहेगी। यही कारण है कि अब प्राय: सभी राज्यों में प्रवृत्ति इसी ओर है कि मताधिकार का आधार वयस्कता हो।

निर्वाचन और मतदान की प्रणालियाँ

लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली का आधार निर्वाचन और मतदान होता है। इनसे सम्बन्धित अब तक अनेक प्रणालियाँ जगत के समक्ष आ चुकी हैं। निर्वाचन और मतदान के लिये जिन विविध प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है, उन पर संक्षेप में प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

बहुल तथा गुरुतापूर्ण मतदान प्रणाली (Plural & Weighted Voting) :

आजकल लोकतन्त्रवाद के युग में मतदान के विषय में साधारणत: यही सिद्धान्त स्वीकार्य समझा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक मत देने का अधिकार होना चाहिये। पर अनेक विचारकों ने इस बात का भी समर्थन किया है कि शासन की सफलता और उत्तमता के लिए यह आवश्यक है कि विशेष योग्यता के आधार पर व्यक्तियों को एक से अधिक मत देने का अधिकार भी दिया जाये। उनका मत है कि वयस्कता की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को एक मत देने के अधिकार के अतिरिक्त उन लोगों को एक से अधिक मत देने का अधिकार होना चाहिए, जो विद्या, धन अथवा अन्य किसी दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ हों। इस विचार को क्रियात्मक रूप देने के लिए दो प्रकार की मतदान प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है, प्रथम बहुल मतदान प्रणाली तथा द्वितीय गुरुतापूर्ण मतदान प्रणाली।

बहुल मतदान प्रणाली के अन्तर्गत एक ही व्यक्ति, उन सब निर्वाचन क्षेत्रों में पृथक्-पृथक् मत देने का अधिकारी होता है, जिनमें उसकी सम्पत्ति अवस्थित होती है अथवा एक ही व्यक्ति निर्धारित सम्पत्ति के स्वामी के रूप में, निर्धारित कर देने वाले के रूप में तथा निश्चित स्तर की शिक्षा के आधार के रूप में पृथक्-पृथक् मत देने का अधिकारी हो सकता है।

गुरुतापूर्ण मतदान-प्रणाली के अन्तर्गत उन व्यक्तियों को जो अपनी शिक्षा, आयु अथवा सम्पत्ति के कारण अधिक योग्य हैं, उन्हें अपने से कम योग्यता वाले व्यक्तियों की अपेक्षा, अधिक मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ बेल्जियम में 35 वर्ष की आयु के, 5 फ्रांक वार्षिक कर देने वाले तथा सन्तान सम्पन्न पुरुषों को दो मत देने का अधिकार तथा 35 वर्ष से अधिक आयु के निश्चित शिक्षा सम्बन्धी योग्यता प्राप्त अथवा स्वयं कुछ पदों पर काम करने वाले पुरुषों को तीन मत देने का अधिकार प्राप्त होता है।

इस प्रणाली के समर्थकों का कहना है कि इस प्रणाली से सर्वसाधारण मताधिकार के दोषों का निवारण हो जाता है। सर्वसाधारण मताधिकार द्वारा एक ओर यदि सामान्य जनता को अपना मत प्रकट करने का अवसर मिलता है, तो इस प्रणाली द्वारा योग्य व्यक्तियों की सम्पत्ति को भी उचित आदर प्राप्त होता है। इसके द्वारा कम योग्य जनता की संख्या-विषयक महत्ता का सन्तुलन हो जाता है और शासन की सत्ता कम योग्य बहुसंख्या के हाथ में जाने से बच जाती है। यही कारण है कि मिल जैसे विचारकों ने इसका प्रबल समर्थन करते हुए यह मत प्रकट किया है कि सब व्यक्तियों के मत को समान महत्त्व देना महान राजनीतिक भूल है, क्योंकि मतों की गणना न करके उनको तौला जाना चाहिए।

यद्यपि एक ओर इस प्रणाली को उक्त आधारों पर उचित ठहराया जाता है, तथापि दूसरी ओर इसके विरोध में यह कहा जाता है कि यह प्रणाली लोकतन्त्रवाद के सर्वथा प्रतिकूल है। 'एक व्यक्ति का एक मत' लोकतन्त्रवाद का सर्वमान्य सिद्धान्त है और यह सिद्धान्त उक्त मान्यता के पूर्णतः प्रतिकूल है। कोई व्यक्ति यदि अन्य व्यक्तियों से अधिक शिक्षित है, अथवा वह अन्यों से अधिक सम्पत्तिवान है, तो इसका यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि उसका व्यक्तित्व अन्य लोगों के व्यक्तित्व से उच्चतर समझा जाये। इसके अतिरिक्त यह मान भी लिया जाये कि उसकी राय का मूल्य अन्य साधारण व्यक्तियों की राय से अधिक है, तो फिर यह कठिनाई है कि उस अधिकता का मापदण्ड क्या हो और अधिक शिक्षित अथवा अधिक सम्पत्तिवान को कितने-कितने अधिक मत दिये जायें। इस प्रणाली के पक्ष में कहा जाता है कि चूँकि सम्पत्तिवान व्यक्तियों के शासन में अधिक हित निहित होते हैं, अतः मतदान में भी उन्हें अधिक अधिकार मिलने चाहिए। परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो मतदान-सम्बन्धी अथवा अन्य इसी प्रकार के संरक्षणों की आवश्यकता सम्पत्तिवान व्यक्तियों को नहीं अपितु निस्सम्पत्ति व्यक्तियों को होती है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली के कारण वर्ग शासन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। यही कारण है कि इस प्रणाली का प्रयोग अब प्रायः समाप्त होता जा रहा है।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली

जब मतदाता प्रत्यक्ष रूप से मतदान में भाग लेकर प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं तो उसे प्रत्यक्ष मतदान कहते हैं और इस प्रणाली के अन्तर्गत सम्पन्न निर्वाचन प्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता मतदान केन्द्र में जाकर अपनी इच्छा के प्रतिनिधि को मत दे आता है और मतगणना के पश्चात् निर्वाचन पूर्ण हो

जाता है। यह प्रणाली सबसे अधिक लोकप्रिय है और प्रायः सभी लोकतन्त्रात्मक राज्यों के कम से कम निम्न सदनों का निर्वाचन इसी प्रणाली द्वारा होता है। इसके विपरीत जब मतदाता केवल कुछ मध्यवर्ती निर्वाचकों का निर्वाचन करते हैं और मध्यवर्ती निर्वाचक लोग प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं, तो उसे अप्रत्यक्ष मतदान कहते हैं और इस प्रणाली के अन्तर्गत सम्पन्न निर्वाचन अप्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत पहले मतदाता कुछ व्यक्तियों को निर्वाचक चुनते हैं और उन निर्वाचकों का मण्डल प्रतिनिधियों का चुनाव करता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के अनेक गुण हैं। इससे मतदाताओं में राजनीतिक समस्याओं के प्रति रुचि उत्पन्न होती है। चूँकि प्रत्येक मतदाता यह जानता है कि उसके मत द्वारा प्रतिनिधियों का सीधा निर्वाचन होगा, वह प्रतिनिधियों और उनके दलों के कार्यक्रमों की अच्छाई या बुराई आदि को अच्छी तरह समझने का प्रयास करता है। परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली द्वारा जनता का राजनीतिक ज्ञान बढ़ता है, उसका दृष्टिकोण व्यापक होता है तथा वह स्वशासन की कला में निपुण हो जाती है। प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधिगण अपने को मतदाताओं का प्रतिनिधि समझते हैं और उनके साथ सम्पर्क बनाये रखते हैं और उनके लाभ के कार्य करने का प्रयत्न करते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में निर्वाचकों की संख्या अधिक होने के कारण भ्रष्टाचार की उतनी सम्भावना नहीं रहती, जितनी अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली में होती है, जिसमें वास्तविक निर्वाचकों की संख्या अपेक्षाकृत कम होने के कारण उनके मतों को घूँस द्वारा अथवा अन्य अनुचित प्रभाव द्वारा विचलित किया जा सकता है।

किन्तु प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली की कई दुर्बलताएँ भी हैं। साधारण मतदाता प्रायः इतने योग्य नहीं होते कि वे अपने मतों का उपयोग उचित रीति से कर सकें। इसलिये इस प्रणाली में यह सम्भावना अधिक रहती है कि प्रतिनिधियों का चुनाव दोष रहित न हो। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष निर्वाचन के निर्वाचक-मण्डल को राजनीतिक समस्याओं के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं होता और वह प्रायः उस क्षणिक आवेश में आकर अपने मत का प्रयोग कर जाते हैं, जिससे विविध राजनीतिक दल अपने-अपने राजनीतिक प्रचार द्वारा तत्कालीन वायुमण्डल को भर देते हैं।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन की भी अपनी उपयोगिता होती है। जब प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए निर्वाचन क्षेत्र का आकार बड़ा होता है, तो उस दशा में अप्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली अधिक उपयोगी होती है। इसके अतिरिक्त जिस राज्य में मतदाता अशिक्षित और पिछड़े हुए हों, वहाँ के लिए भी अप्रत्यक्ष प्रणाली ही अधिक उपयोगी होती है, क्योंकि अशिक्षित मतदाताओं के हाथ प्रतिनिधियों के महत्त्वपूर्ण चुनाव को छोड़ देना उचित नहीं कहा जा सकता है।

परन्तु अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली के दोष उनके उक्त गुणों से कहीं अधिक हैं और यही कारण है कि महत्त्वपूर्ण व्यवस्थापन सदनों का निर्वाचन प्रायः सर्वत्र अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा नहीं किया जाता। अप्रत्यक्ष निर्वाचन में जनता को राजनीतिक शिक्षण प्राप्त

नहीं हो पाता और मतदाताओं का सम्पर्क सीधा प्रतिनिधियों से स्थापित न होने के कारण वे राजनीतिक जीवन के प्रति उदासीन बने रहते हैं। अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली के पक्ष में यह कहा जाता है कि इसके अन्तर्गत जो निर्वाचक मण्डल बनता है वह अधिक समझदारी से प्रतिनिधियों का अन्तिम निर्वाचन करता है। किन्तु इस सम्बन्ध में भी वास्तविकता यह नहीं है। वस्तुत: दल-प्रणाली का प्रभाव आधुनिक लोकतन्त्र के जगत में इतना बढ़ गया है कि सभी निर्वाचन दलीय संगठन के आधार पर होते हैं और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष निर्वाचन से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार यह तर्क भी कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में अन्तिम निर्वाचन में मतदाताओं की संख्या कम होने के कारण भ्रष्टाचार की सम्भावना कम रहती है, अवास्तविक है, क्योंकि कम संख्यक व्यक्तियों की तोड़-फोड़ अधिक सरल होती है। इन्हीं सब दोषों के कारण अधिकतर राज्यों में अप्रत्यक्ष निर्वाचन का प्रयोग कम से कम तथा कम महत्त्वपूर्ण निर्वाचन के लिए किया जाता है।

प्रकट और गुप्त मतदान प्रणाली :

मतदान साधारणत: दो प्रकार से किया जाता है—प्रकट रूप से और गुप्त रूप से। पहले जब निर्वाचन का कार्य बैठकों में एकत्रित होकर मतदाता करते थे तो मतदान प्राय: प्रकट रूप से होता था और लोग हाथ उठाकर प्रतिनिधियों का समर्थन किया करते थे। यह प्रणाली उन्हीं निर्वाचनों में उपयोगी हो सकती थी जिनमें मतदाताओं की संख्या कम होती थी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के प्रकट मतदान में मतदाता स्वतन्त्रता और निर्भयतापूर्वक मतदान भी नहीं कर पाते थे। अत: अब जब निर्वाचन में करोड़ों लोग भाग लेते हैं और यह सभी स्वीकार करते हैं कि मतदाता को स्वतन्त्रता और निर्भयता के साथ मत देने की सुविधा मिलनी चाहिये, सर्वत्र प्राय: गुप्त मतदान (Secret Ballot) की प्रणाली को प्रयोग में लाया जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत मतदान एक मतपत्र (Ballot Paper) के द्वारा होता है। इस प्रकार के मतदान में भी दो ढंग प्रयोग में लाये जाते हैं। एक ढंग के अनुसार मतपत्र में विभिन्न उम्मीदवारों के नामों के सामने चिन्ह बना कर अपना मत प्रकट करके मतपत्र को मतपेटिका में डाल देते हैं और बाद में उनकी गिनती होकर परिणाम निकल आता है। दूसरा ढंग इस प्रणाली का यह होता है कि उम्मीदवारों की मतपेटिकाएँ रख दी जाती हैं, जिसमें से अपनी पसन्द के उम्मीदवार अथवा उम्मीदवारों की मत-पेटिका में मतदाता मतपत्र डाल देते हैं और बाद में मतगणना के पश्चात् परिणाम निकल आता है। गुप्त मतदान प्रणाली की विशेषता यह है कि मतदाता के अतिरिक्त अन्य कोई यह नहीं जान पाता कि उसने मत किसको दिया है तथा इस प्रकार मतदाता स्वतन्त्रता और निर्भयतापूर्वक अपने मत का प्रयोग अपनी इच्छानुसार कर सकता है।

निर्वाचन क्षेत्र

प्राचीनकाल में जब प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का युग था निर्वाचन क्षेत्रों की समस्या ही नहीं थी। उस समय सम्पूर्ण राज्य ही निर्वाचन क्षेत्र होता था और उसके नागरिक एकत्र होकर प्रत्यक्ष रूप से विविध विषयों पर और शासकों के निर्वाचन के लिये मतदान करते

थे। किन्तु आधुनिक अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र के युग में जब राज्य का आकार नगर राज्यों का न रह कर राष्ट्रीय राज्यों का हो गया है सम्पूर्ण राज्य निर्वाचन के लिये निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है। निर्वाचन क्षेत्र उम्मीदवार सदस्यों की संख्या की दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं—एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (Single-member constituency) तथा बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (Multi-member constituency)। जिन निर्वाचन क्षेत्रों में केवल एक सदस्य चुना जाता है उन्हें एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहा जाता है और जिन निर्वाचन क्षेत्र में एक से अधिक सदस्यों का निर्वाचन होता है, उन्हें बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहा जाता है। एक सदस्य वाली प्रणाली में सम्पूर्ण राज्य क्षेत्रफल अथवा जनसंख्या के आधार पर प्राय: समान आकार के अनेक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक-एक सदस्य का निर्वाचन होता है। अनेक उम्मीदवार चुनाव लड़ते हैं और बहुमत प्राप्त करने वाला उम्मीदवार निर्वाचित समझ लिया जाता है। बहु-सदस्य वाली प्रणाली में एक निर्वाचन क्षेत्र से एक से अधिक सदस्य निर्वाचित किये जाते हैं। अत: निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या निर्वाचन क्षेत्रों की संख्या के बराबर नहीं होती। प्रत्येक क्षेत्र से कितने सदस्य चुने जाने चाहिए, इसका निश्चय उसके क्षेत्रफल अथवा उसकी जनसंख्या के आधार पर किया जाता है।

एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था के अनेक लाभ हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत चूँकि निर्वाचन क्षेत्रों का आकार अपेक्षाकृत छोटा होता है अत: मतदाताओं और सदस्यों के बीच सम्पर्क बना रहता है। चुनाव क्षेत्र छोटा होने के कारण निर्वाचन का व्यय भी कम रहता है। अत: साधारण व्यक्ति भी चुनाव लड़ सकता है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में स्थानीयता का महत्त्व होने के कारण स्थानीय प्रतिभा को प्रोत्साहन का अवसर प्राप्त होता रहता है तथा राज्य के कोने-कोने के लोगों को राजनीति में भाग लेने का अवसर मिलता रहता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत विशेष निर्वाचन क्षेत्रों की स्थापना द्वारा अल्पसंख्यक वर्गों को भी प्रतिनिधित्व मिलने की व्यवस्था की जा सकती है।

परन्तु इस प्रणाली के अपने दोष भी हैं। इसके अन्तर्गत चूँकि चुनाव क्षेत्र बहुत छोटे होते हैं, अत: स्थानीय प्रभाव के कारण बहुधा अवांछनीय और निम्न कोटि के व्यक्ति भी निर्वाचित होने में सफल हो जाते हैं। छोटे क्षेत्र में मतदाता की जान-पहचान होने के कारण मतदान राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर न होकर जातिवाद, सम्प्रदायवाद अथवा ऐसे ही अन्य संकुचित विचारों के आधार पर होता है। इसके अतिरिक्त स्थानीय प्रभाव के कारण चुने हुये प्रतिनिधि प्राय: स्थानीय हित साधन को राष्ट्रीय हित साधन की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। छोटे-छोटे निर्वाचन क्षेत्र में शासन के प्रतिनिधि भी निर्वाचन पर अपना प्रभाव डालने में अधिक सफल रहते हैं। अन्त में इस प्रणाली का सबसे महत्वपूर्ण दोष यह है कि कभी-कभी अत्यन्त कम संख्या के समर्थन से ही प्रतिनिधि निर्वाचित हो जाता है और उन लोगों को कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता, जिनके समर्थित उम्मीदवार असफल हो जाते हैं। उदाहरण के लिये, किसी 1,000 मतदाताओं की संख्या वाले निर्वाचित क्षेत्र में पाँच उम्मीदवारों में से यदि पहले को 300, दूसरे को 250, तीसरे को 200, चौथे को 150 तथा

पाँचवें को 100 मत प्राप्त हों, तो पहला उम्मीदवार जिसे सम्पूर्ण मतदाताओं की संख्या के केवल 3/10 मत प्राप्त हुए हैं, निर्वाचित समझा जायेगा, यद्यपि शेष 700 मतदाता उसके विरोध में हैं। इस प्रकार इस प्रणाली के कारण प्रतिनिधित्व का रूप विकृत हो जाता है और जितने अधिक उम्मीदवार होते हैं, उतना ही कम प्रतिनिधित्व सफल सदस्य को प्राप्त होता है और फिर भी वह व्यक्ति उस क्षेत्र का प्रतिनिधि समझ लिया जाता है।

अनेक सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था में मतदाताओं की पसन्द यद्यपि व्यापक हो जाती है और उन्हें अपने उम्मीदवारों में से प्रतिनिधि चुनने का अवसर प्राप्त हो जाता है, तथापि यह प्रणाली अधिक लोकप्रिय नहीं है। इसकी इस अप्रियता का कारण यह है कि चूँकि मतदातागण उम्मीदवारों से प्रायः अपरिचित और उनके गुण-दोषों तथा योग्यता-अयोग्यता से अनभिज्ञ होते हैं, उनके लिये यह निर्णय करना बड़ा कठिन हो जाता है कि वे किस उम्मीदवार को मत दें। मतदाताओं की इस अनभिज्ञता की दशा में राजनीतिक दलों को इस बात का और अधिक अवसर प्राप्त होता है कि वे जनता को अतिशयोक्तिपूर्ण प्रचार द्वारा अपने दल के उम्मीदवारों को मत देने के लिए प्रेरित कर सकें।

प्रतिनिधित्व की समस्या

एक सदस्यीय निर्वाचन की प्रणाली में बहुमत के आधार पर प्रतिनिधियों का निर्वाचन होता है। उसके दोषों पर विचार करते समय हमने देखा कि बहुमत के प्रतिनिधित्व (Majority Representation) द्वारा वस्तुतः मतदाताओं का उचित प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। इसके अन्तर्गत एक निर्वाचन क्षेत्र से लड़ने वाले अनेक उम्मीदवारों में से वह उम्मीदवार निर्वाचित समझा जाता है, जिसे सबसे अधिक मत प्राप्त होते हैं, चाहे निर्वाचन की उस प्रक्रिया में वह सब मत देने वाले व्यक्तियों के अल्पमत का ही प्रतिनिधित्व क्यों न करता हो। जैसा पूर्व के उदाहरण से स्पष्ट है यदि 1,000 मतदाताओं के निर्वाचन क्षेत्र में पाँच उम्मीदवारों में से पहले को 300, दूसरे को 250, तीसरे को 200, चौथे को 150 तथा पाँचवें को 100 मत प्राप्त हों, तो पहला उम्मीदवार जिसे संपूर्ण मत संख्या का केवल 3/10 भाग प्राप्त होता है, निर्वाचित मान लिया जाता है तथा मतदाताओं का बहुमत प्रतिनिधित्व से वंचित रह जाता है। इसके अतिरिक्त यदि उम्मीदवारों की संख्या कम हुई, तो जहाँ बहुमत का उम्मीदवार निर्वाचित हो जाता है, वहाँ अल्पमत को कोई प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता। इस प्रकार बहुमत के प्रतिनिधित्व की प्रणाली पर आधारित लोकतन्त्र सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधि लोकतन्त्र नहीं हो पाता, व्यवस्थापक मण्डलों में जनता के सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए, इस मत का इस आधार पर यद्यपि विरोध किया जाता है कि इसके द्वारा व्यवस्थापक मण्डल तथा देश अनेक छोटे-छोटे समुदायों में विभाजित हो जाता है, इसके द्वारा वर्ग हितों पर आधारित वर्ग शासन की स्थापना होती है, जब किसी दल का निश्चित बहुमत नहीं होने पाता, तो उस दशा में बनने वाले संयुक्त मन्त्रिमण्डल अस्थिर होते हैं और परिणामतः देश के शासन-प्रबन्ध में अस्त-व्यस्तता बनी रहती है, तथापि इस बात को सर्वत्र महत्त्व दिया जाता है कि देश के सभी दलों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिये क्योंकि बहुमत के प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर केवल बहुसंख्यक दल को प्रतिनिधित्व

देना और अल्पनतों को उनसे वंचित रखना लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। यही कारण है कि प्रतिनिधित्व की अनेक ऐसी विधियों का प्रतिपादन हुआ है, जिनसे उसे अधिक से अधिक व्यापकतम और सच्चा बनाया जा सके और मतदाताओं के सभी दलों को जहाँ तक सम्भव हो उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली

(The System of Proportional Representation)

प्रतिनिधित्व को व्यापकतम बनाने के लिए जिन विधियों का प्रयोग किया जाता है, उनमें सबसे मुख्य आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली है। सर्वप्रथम इस प्रणाली की चर्चा 19वीं शताब्दी के एक अंग्रेज विचारक थॉमस हेयर (Thomas Hare) ने अपनी पुस्तक **'इलेक्शन ऑफ रिप्रजेन्टेटिव्ज'** में की थी। अत: उसी के नाम पर इस प्रणाली को हेयर-प्रणाली भी कहा जाता है। संक्षेप में उसकी योजना के अनुसार बड़े-बड़े आकारों के निर्वाचन क्षेत्रों से तीन, चार, पाँच या इससे अधिक उम्मीदवारों का चुनाव होना चाहिये, प्रत्येक मतदाता को उम्मीदवारों की संख्या के बराबर मत देने का अधिकार होना चाहिये तथा केवल वे उम्मीदवार निर्वाचित समझे जाने चाहिये, जिन्हें अपेक्षाकृत पूर्ण बहुमत का ही समर्थन प्राप्त न हो; वरन् जिन्हें मतदाताओं की उस निश्चित संख्या (Quota) का भी समर्थन प्राप्त हो, जो चुनाव में डाले गये मतों की कुल संख्या को कुल उम्मीदवारों की संख्या से भाग देकर निकाली गई हो।

प्रतिनिधित्व के उक्त सिद्धान्त को कार्यरूप देने के लिए विचारकों ने अनेक पद्धतियों का प्रतिपादन किया है। किन्तु उसके मुख्य दो हैं—एकल संक्रमणीय मत (Single Transferable Vote System) तथा सूची प्रणाली (List System)। हम दोनों पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

एकल संक्रमणीय मत प्रणाली

इस प्रणाली के अनुसार निर्वाचन-क्षेत्र का आकार इतना बड़ा होता है कि उससे कई सदस्य चुने जा सकें। एक निर्वाचन-क्षेत्र से चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या चाहे कितनी ही हो, प्रत्येक मतदाता को एक मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। प्रत्येक मतदाता मतपत्र (Ballot-paper) पर दिये हुए सब उम्मीदवारों में से जिसे सबसे अधिक उपयुक्त समझता है, उसके नाम के आगे अपनी पहली पसन्द, उससे कम उपयुक्त के नाम के आगे अपनी दूसरी पसन्द, उससे भी कम उपयुक्त के नाम के आगे अपनी तीसरी पसन्द और इसी प्रकार आगे भी जितने सदस्य निर्वाचित होते हैं, उतनी पसन्द क्रमशः लिख देता है। पसन्दगियों के उल्लेख की यह व्यवस्था इसलिए की जाती है कि यदि कोइ उम्मीदवार अपनी लोकप्रियता के कारण इतने मत प्राप्त कर ले कि उनकी संख्या निश्चित संख्या (Quota) से अधिक हो जाए, तो निश्चित संख्या से अधिक मत बेकार न जायें और इन्हें अन्य उम्मीदवारों

को हस्तान्तरित किया जा सके अथवा यदि किसी उम्मीदवार को इतने कम मत प्राप्त हों कि उसके निर्वाचित होने की सम्भावना न हो, तो उन्हें मतदाताओं की पसन्द के अनुसार प्रयोग किये जाने के लिए अन्य किसी उम्मीदवार को हस्तान्तरित किया जा सके। यही कारण है कि इस प्रणाली को एकल संक्रमणीय मत प्रणाली कहा जाता है। इस प्रणाली में यदि एक मतदाता ने किसी उम्मीदवार को अपनी पसन्द में पहला स्थान दिया हो और यदि उस उम्मीदवार को मतों की निश्चित संख्या प्राप्त करने के लिए उस मतदाता से मत की आवश्यकता न हो, तो उस दशा में उसका मत व्यर्थ नहीं जाता है और उसका मत उस उम्मीदवार के लिए युक्त माना जाता है, जिसके लिये उसने अपनी दूसरी पसन्द व्यक्त की हो। यदि कहीं दूसरी पसन्द का उम्मीदवार भी उसके मत के बिना ही निश्चित मतों की संख्या प्राप्त कर लेता है तो उसका मत उस उम्मीदवार के लिये प्रयुक्त समझा जाता है जिसके लिये उसने अपनी तीसरी पसन्द व्यक्त की होती है। इस प्रकार निश्चित संख्या से अधिक मतों का हस्तान्तरण होता जाता है और प्रत्येक मतदाता का मत किसी न किसी ऐसे उम्मीदवार के चुनाव के लिए अवश्य प्रयुक्त हो जाता है जिसके लिये वह अपनी पसन्द व्यक्त करता है।

निश्चित मत संख्या (Quota of Votes)—आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के प्रवर्तक हेयर के अनुसार प्रयुक्त किये गये मतों की संख्या को निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या से विभाजित करके निश्चित मतसंख्या निकाली जाती है। उसके द्वारा समर्थित विधि के अनुसार 7 सदस्यों के निर्वाचन-क्षेत्र में यदि 7,000 मत डाले गये हों, तो प्रत्येक सदस्य के निर्वाचन के लिये निश्चित मत संख्या $\frac{7000}{7} = 1000$ होगी। किन्तु अब इस विधि का प्रयोग नहीं होता है, क्योंकि इसके प्रयोग द्वारा कभी-कभी निर्वाचन के परिणाम शुद्ध नहीं निकलते। अब अधिकतर उस विधि का प्रयोग होता है जिसका प्रतिपादन ड्रूप ने किया है। ड्रूप द्वारा प्रतिपादित विधि के अनुसार निश्चित मतसंख्या प्रयुक्त किये गये मतों की संख्या को निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या में एक जोड़कर प्राप्त संख्या से भाग देकर तथा भजनफल में एक जोड़कर निकाली जाती है। इस विधि के अनुसार 7 सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्र में यदि 7000 मतों का प्रयोग किया गया हो, तो उस दशा में निश्चित संख्या $\frac{7000}{7+1} + 1 = 876$ होगी। इस प्रकार वे उम्मीदवार जो पहली पसन्द के अथवा मतों के हस्तान्तरण का लाभ उठाकर उक्त मतसंख्या प्राप्त कर लेते हैं, एकल संक्रमणीय मत-प्रणाली के अनुसार निर्वाचित समझे जायेंगे।

व्यवहार में यह प्रणाली किस प्रकार कार्यरूप में आ जाती है, यह दूसरे उदाहरण से और भी स्पष्टतया समझा जा सकता है। कल्पना कीजिए कि एक 4 सदस्यों के निर्वाचन क्षेत्र में 8 उम्मीदवार निर्वाचन के लिए खड़े होते हैं और उस निर्वाचन क्षेत्र के 100 मतदाता अपने-अपने मतों का प्रयोग करते हैं, तो इस काल्पनिक उदाहरण में हमें यह देखना है कि

तालिका

पूर्ण मतसंख्या 100, चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या 4, निर्वाचन के लिए आवश्यक मतसंख्या 21

उम्मीदवारों के नाम	पहली गणना	दूसरी गणना		तीसरी गणना		चौथी गणना		पाँचवीं गणना		निर्वाचित सदस्यों का क्रम
		छ: के अनावश्यक मतों का हस्तान्तरण	परिणाम	झ के अनावश्यक मतों का हस्तान्तरण	परिणाम	घ के अनावश्यक मतों का हस्तान्तरण	परिणाम	ग के अनावश्यक मतों का हस्तान्तरण	परिणाम	
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
क	15	+ 2	17	...	17	+4	21	...	21	(3)
ख	8	+ 4	12	...	12	...	12	+3	15	
ग	9	+ 1	10	...	10	...	10	−10		
घ	6	...	6	...	6	−6				
च	16	...	16	+4	20	+1	21	...	21	(2)
छ	28	−7	21	...	21	...	21	...	21	(1)
ज	13	...	13	...	13	+1	14	+7	21	(4)
झ	5	...	5	−5						
वह मत जिसका हस्ता-न्तरण नहीं हो सकता	...	...		+1	1	...	1		1	
योग	100	...	100	...	100	...	100	...	100	

एकल संक्रमणीय मत-प्रणाली किस प्रकार व्यवहार में आएगी। जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है, इस उदाहरण में निश्चित मतसंख्या (Quota) $\frac{100}{4+1} + 1 = 21$ होगी। इस प्रणाली के अनुसार मतदातागण मतदान करते समय मतपत्र पर 8 उम्मीदवारों के नामों में से चार उम्मीदवारों के नाम के सम्मुख अपनी पसन्दों को क्रमश: 1, 2, 3 और 4 करके अंकित कर देंगे। उसके पश्चात् मत-गणना होगी। इस उदाहरण में मतदान के परिणामस्वरूप कौन-कौन सदस्य किस प्रकार निर्वाचित समझे जायेंगे, इसे दी गई काल्पनिक तालिका द्वारा दिखाया जा सकता है।

जैसा तालिका से स्पष्ट है, चार निश्चित मत प्राप्त उम्मीदवारों को छाँटने के लिये पाँच बार मतगणना की जायेगी। पाँचों मतगणनाओं में की जाने वाली जिस प्रक्रिया का निर्देश तालिका में किया गया है, उसे हम तालिका के बाद दिये हुए ढंग से स्पष्ट कर सकते हैं:

पहली गणना—मतदान के पश्चात् सब प्रयुक्त मतों के आधार पर चुनाव अधिकारी (Returning Officer) निर्वाचन के लिए निश्चित मतसंख्या (Quota) निकालेगा। जैसा ऊपर कहा गया है, चूँकि सब प्रयुक्त मत 100 हैं। निश्चित मतसंख्या $\frac{100}{4+1} + 1 = 21$ होगी। इसके बाद चुनाव अधिकारी मतपत्रों में से उन नामों को छाँटेगा। जिनके लिए मतदाताओं ने पहली पसंद व्यक्त की है तथा उसका जो परिणाम निकलेगा। वह तालिका के स्तम्भ-2 में दिया गया है चूँकि छ: को निश्चित मतसंख्या 21 से भी अधिक 28 मत प्राप्त हुए हैं, अत: वह निर्वाचित घोषित कर दिया जायेगा।

दूसरी गणना—किन्तु चूँकि छ: को निश्चित मतसंख्या से 7 अधिक प्राप्त हुए हैं, इन्हें उन उम्मीदवारों को हस्तान्तरित किया जाएगा, जिनके लिए छ: को पहली पसन्द व्यक्त करने वाले मतदाताओं ने दूसरी पसन्द व्यक्त की है। चुनाव अधिकारी यह करने के लिए छ: के सब 28 मतों को फिर देखेगा और यह निकालेगा कि छ: के लिए पहली पसन्द व्यक्त करने वाले मतदाताओं की दूसरी पसन्द की क्या अभिव्यक्ति है। मान लीजिए कि दूसरी पसन्द की जाँच का परिणाम यह हुआ कि छ: के लिए पहली पसन्द व्यक्त करने वाले मतदाताओं में से क के लिए 8 ने, ख के लिए 16 ने और ग के लिए 4 ने दूसरी पसन्द व्यक्त की। निर्वाचन अधिकारी इसी अनुपात से छ: के 7 अनावश्यक मत को हस्तान्तरित कर देगा और इस प्रकार जैसा तालिका के स्तम्भ 3 में दिया हुआ है क के मतों में 2, ख के मतों में 4 तथा ग के मतों में 1 मत और जोड़ दिया जाएगा। इस हस्तान्तरण के पश्चात् विविध उम्मीदवारों की जो स्थिति हो जाती है वह स्तम्भ 4 में दी हुई है।

तीसरी गणना—दूसरी गणना में छ: के मतों का हस्तांतरण होने के बाद भी किसी अन्य को निश्चित मतसंख्या प्राप्त नहीं होती है। अत: अब सबसे कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार के मतों को हस्तांतरित करके यह देखा जायेगा कि कोई उम्मीदवार निश्चित

मतसंख्या प्राप्त करता है या नहीं। चूँकि झ को सबसे कम 5 मत मिले हैं और उसके निर्वाचित होने की सम्भावना नहीं है, अत: उसे पराजित घोषित कर दिया जायेगा और उसके पहली पसंद के ये 5 मत उन उम्मीदवारों को हस्तांतरित कर दिये जायेंगे जिनके लिये उसके मतदाताओं ने दूसरी पसंद व्यक्त की है। उक्त 5 मतपत्रों को देखने से मान लीजिये, यह प्रकट हुआ कि उनमें से 4 मतदाताओं ने अपनी पसंद च के लिये व्यक्त की है और एक मतदाता ने कोई अन्य पसन्द व्यक्त ही नहीं की है। अत: जैसा तालिका के स्तम्भ 5 में दिया है, 4 मत च को हस्तांतरित कर दिये जायेंगे और 1 मत ऐसा समझा जायेगा जिसका हस्तांतरण नहीं हो सकता। इस प्रकार की गई तीसरी गणना का परिणाम तालिका के स्तम्भ 6 में दिया हुआ है, जिससे किसी और उम्मीदवार को निश्चित मत संख्या प्राप्त नहीं होती।

चौथी गणना—चूँकि तीसरी गणना के परिणामस्वरूप भी किसी और उम्मीदवार को निश्चित मतसंख्या प्राप्त नहीं होती, अत: फिर वह प्रक्रिया दुहराई जायेगी जो तीसरी गणना मे की गई थी। अब चूँकि घ ऐसा उम्मीदवार है जिसे सबसे कम मत प्राप्त हैं और उसके निर्वाचित होने की कोई सम्भावना नहीं। अत: घ को पराजित घोषित कर दिया जायेगा और उसके पहली पसंद के 6 मत उन उम्मीदवारों को हस्तांतरित कर दिये जायेंगे जिनके लिए उसके मतदाताओं ने दूसरी पसन्द व्यक्त की है। इन 6 मतपत्रों को देखने से, मान लीजिए, यह ज्ञात होता है कि उनमें से 4 मतदाताओं ने अपनी दूसरी पसन्द क के लिए, 1 ने च के लिये तथा 1 ने ज के लिए व्यक्त की है । अत: जैसा तालिका के स्तम्भ 7 में दिया हुआ है घ के इन 6 मतों में से 4 क को, 1 च को, 1 ज को हस्तांतरित कर दिया जायेगा। इस प्रकार की गई चौथी गणना का परिणाम, जैसा तालिका के स्तम्भ 8 में दिया है, यह होता है कि क और च की निश्चित मतसंख्या प्राप्त हो जाती है और वे निर्वाचित घोषित कर दिये जाते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि चूँकि तीसरी गणना में च के मत क के मतों से अधिक थे, अत: वह निर्वाचन के क्रम में पहले आयेगा और वह वरिष्ठ (सीनियर) होगा।

पाँचवीं गणना—चूँकि अभी एक और उम्मीदवार का चुनाव होना शेष है, अत: फिर वही तीसरी और चौथी गणना में की गई प्रक्रिया दुहराई जायेगी। चूँकि अब ग ऐसा उम्मीदवार है, जिसके सबसे कम मत हैं और जिसके निर्वाचित होने की कोई सम्भावना नहीं है, अत: उसे पराजित घोषित कर दिया जायेगा और उसके पहली पसन्द के 10 मतों को उन उम्मीदवारों को हस्तांतरित किया जायेगा, जिसके लिये उसके मतदाताओं ने दूसरी पसन्द व्यक्त की है। उक्त 10 मतपत्रों को देखने से, मान लीजिये, यह ज्ञात होता है कि उनमें से 7 मतदाताओं ने अपनी दूसरी पसन्द ज के लिये तथा 3 ने ख के लिए व्यक्त की है। अत: जैसा तालिका के स्तम्भ 9 में दिया है ग के इन 10 मतों में से 7 ज को तथा 3 ख को हस्तान्तरित कर दिए जायेंगे। इस प्रकार की गई पाँचवीं गणना का परिणाम, जैसा तालिका के स्तम्भ 10 में दिया हुआ है, यह होता है कि ज को निश्चित मतसंख्या प्राप्त हो जाती है और उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

इस प्रकार एकल संक्रमणीय मत प्रणाली से छ, च, क तथा ज चार व्यक्ति निर्वाचित हो जाते हैं।

सूची प्रणाली

इस प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचन की व्यवस्था में भी निर्वाचन क्षेत्र बड़े आकार के रखे जाते हैं और प्रत्येक क्षेत्र से अर्थात् 20 तक सदस्य चुने जाते हैं। इस प्रणाली के अनुसार जो उम्मीदवार खड़े होते हैं, उनके दलों के अनुसार अलग-अलग सूचियाँ बना ली जाती हैं। प्रत्येक मतदाता को यह अधिकार होता है कि वह चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या के बराबर मत दे सके, पर उसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह एक उम्मीदवार को एक ही मत दे। इस प्रकार मतदाता मत देते हैं। किन्तु इस प्रणाली के अनुसार मतदान का परिणाम अलग-अलग उम्मीदवार को प्राप्त मतों के अनुसार नहीं निकाला जाता, वरन् उम्मीदवारों को प्राप्त सब मत सूचियों के हिसाब से इकट्ठे कर लिये जाते हैं। इसके पश्चात् सब दिये हुए मतों की संख्या के अनुसार उसी प्रकार निश्चित मतसंख्या निकाल ली जाती है, जैसे वह एकल संक्रमणीय मत प्रणाली में निकाली जाती है तथा उस मतसंख्या के अनुसार प्राप्त मतों के आधार पर प्रत्येक सूची के कितने उम्मीदवार निर्वाचित होने चाहिए, यह निकाल लिया जाता है। प्रत्येक सूची के कौन से उम्मीदवार निर्वाचित होने चाहिये, इसके लिये उन उम्मीदवारों को निर्वाचित समझा जाता है, जिन्होंने उस सूची में सबसे अधिक मत प्राप्त किये हों।

एक उदाहरण द्वारा इस प्रणाली की प्रक्रिया स्पष्ट हो जायेगी। मान लीजिए किसी छ: सदस्य वाले निर्वाचन क्षेत्र से काँग्रेस, समाजवादी और साम्यवादी दलों ने अपने-अपने उम्मीदवार खड़े किये हैं और विविध उम्मीदवारों को प्राप्त मतों की संख्या के अनुसार विभिन्न दलों को निम्न प्रकार मत प्राप्त हुए हैं:

काँग्रेस दल	43,000
समाजवादी दल	35,000
साम्यवादी दल	15,000
योग	**91,000**

इस प्रकार चूँकि कुल 91,000 नियमित मत दिये गये, इसलिए पहले दी गई विधि के अनुसार निर्वाचन के लिए निश्चित मत संख्या $\frac{91{,}000}{6+1}+1=13{,}000$ हुई। इस निश्चित मतसंख्या के अनुसार निर्वाचन का परिणाम यह होगा कि 3 वे उम्मीदवार, जिन्हें सबसे अधिक मत प्राप्त हुए हैं, कांग्रेस दल के, इसी प्रकार 2 उम्मीदवार समाजवादी दल के तथा 1 उम्मीदवार साम्यवादी दल का निर्वाचित समझा जायेगा।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण-दोष

आधुनिक प्रतिनिधित्व की दोनों प्रणालियों के इस वर्णन से जैसा हमने देखा, यह प्रणाली प्रतिनिधित्व को व्यापकतम बनाकर अल्पमतों को भी उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करती है। इस प्रणाली के आधार पर निर्वाचन द्वारा जो व्यवस्थापक मण्डल बनते हैं, वे ही वस्तुत: लोकमत के यथार्थ प्रतिबिम्ब होते हैं। इसके अतिरिक्त चूँकि अल्पमतों को भी इस प्रणाली के अनुसार उचित प्रतिनिधित्व मिल जाता है, अत: वे बहुसंख्यक दल के अत्याचारों से अपनी उचित रक्षा कर सकते हैं। इस प्रणाली से मतदाताओं का राजनीतिक शिक्षण भी यथेष्ठ हो जाता है, क्योंकि उन्हें अनेक उम्मीदवारों में विविध राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों पर विचार करने का अवसर प्राप्त होता है। सबसे बड़ी अच्छाई इस प्रणाली की यह है कि एकल संक्रमणीय विधि से किसी मतदाता का मत व्यर्थ नहीं जाता और उससे किसी न किसी उम्मीदवार के निर्वाचन में सहायता अवश्य मिल जाती है।

इस प्रकार इसमें सन्देह नहीं कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली प्रतिनिधित्व को व्यापकतम बनाती है, तथापि इस प्रणाली के अनुसार निर्वाचन के परिणामस्वरूप प्राय: जो शासनसूत्र स्थापित होता है, वह अस्थायी स्वभाव का होता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत हुए चुनावों के परिणामस्वरूप चूँकि अनेक छोटे बड़े दलों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है, अत: व्यवस्थापक मण्डलों में अनेक दलों का महत्वपूर्ण अस्तित्व हो जाता है और प्राय: ऐसा होता है कि उनके कारण जिन सरकारों का निर्माण होता है वे अशक्त और अस्थायी होती हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली के लिए अनेक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों की आवश्यकता होती है। अत: जन साधारण की योग्यता व क्षमता की दृष्टि से इसे उपयुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्हें अनेक उम्मीदवारों में से छाँट करके मतदान करने में बड़ी कठिनाई होती है। फिर इसकी प्रक्रिया भी बड़ी जटिल होती है जिसके अनुसार कार्य करना जनता के लिए ही नहीं, चुनाव अधिकारियों के लिए भी कठिन ही होता है। इसकी सूची प्रणाली में तो व्यवहार में मतदान उम्मीदवारों के लिए नहीं दलों के लिए होता है, जो उचित नहीं कहा जा सकता। उपनिर्वाचनों में तो यह प्रणाली काम में लाई ही नहीं जा सकती क्योंकि उसमें प्राय: एक ही सदस्य का चुनाव होना होता है।

एकत्रीभूत मत-प्रणाली (Cumulative Vote System)

प्रतिनिधित्व को आनुपातिक और व्यापकतम बनाने की एक अन्य प्रणाली एकत्रीभूत मत प्रणाली है। इसके अनुसार प्रत्येक मतदाता को उतने मत देने का अधिकार होता है, जितने सदस्य किसी निर्वाचन क्षेत्र से चुने जाते हों। इसके अतिरिक्त उसे यह भी अधिकार होता है कि ये मत वह विविध उम्मीदवारों को बांट कर दे अथवा किसी एक उम्मीदवार को ही सब मत दे दे। इस प्रणाली के अन्तर्गत निर्वाचन कैसे सम्पन्न होता है, यह एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जायेगा। मान लीजिए एक 6 सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्र में 3,000 मतदाता मतदान करते हैं तथा विभिन्न राजनीतिक दलों को उनका समर्थन इस प्रकार प्राप्त है

कि काँग्रेस दल के समर्थक 1,250 समाजवादी दल के समर्थक 750 हिन्दू महासभा दल के समर्थक 600 तथा साम्यवादी दल के समर्थक 400 मतदाता हैं। यह भी मान लीजिए कि काँग्रेस दल ने अपनी ओर से 4, समाजवादी दल ने 2, हिन्दू महासभा दल ने 1 तथा साम्यवादी दल ने 1 उम्मीदवार निर्वाचन के लिये खड़ा किया है। चूँकि 6 सदस्यों का निर्वाचन होना है, अतः प्रत्येक मतदाता ने 6 मत दिये होंगे। मतदान में किस दल को कितने मत प्राप्त होंगे, उसे हम कल्पना के आधार पर इस प्रकार रख सकते हैं—

काँग्रेस दल	प्रथम उम्मीदवार	400 × 6 = 2,400 मत
	द्वितीय उम्मीदवार	400 × 9 = 3,600 मत
	तृतीय उम्मीदवार	400 × 6 = 2,400 मत
	चतुर्थ उम्मीदवार	50 × 6 = 300 मत
समाजवादी दल	प्रथम उम्मीदवार	400 × 6 = 2,400 मत
	द्वितीय उम्मीदवार	350 × 6 = 2,100 मत
हिन्दू महासभा दल	केवल एक उम्मीदवार	600 × 6 = 3,600 मत
साम्यवादी दल	केवल एक उम्मीदवार	400 × 6 = 2,400 मत

उक्त निर्वाचन का परिणाम यह होगा कि हिन्दू महासभा दल का 1, साम्यवादी दल का 1, समाजवादी दल का 1 तथा काँग्रेस दल के 3 उम्मीदवार निर्वाचित समझे जायेंगे। यदि मतों को एकत्रीभूत करके किसी एक उम्मीदवार को ही मत देने की प्रणाली से निर्वाचन न हुआ होता, तो यह सम्भव नहीं था कि साम्यवादी दल और हिन्दू महासभा दल का कोई प्रतिनिधि निर्वाचित हो सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस प्रणाली से प्रतिनिधित्व व्यापकतम होता है तथा उन अल्पसंख्यक दलों को भी प्रतिनिधित्व मिल जाता है, जिन्हें साधारण रीति से निर्वाचन में वह प्राप्त नहीं होता है। परन्तु इस प्रणाली से प्रतिनिधित्व का अनुपात शुद्ध नहीं होता तथा इसके अन्तर्गत मतदाताओं के वे अनेक मत व्यर्थ जाते हैं,जो अधिक लोकप्रिय उम्मीदवार को आवश्यकता से अधिक प्राप्त हो जाते हैं।

द्वितीय मतदान प्रणाली (Second Ballot System)

प्रतिनिधित्व को अधिक व्यापक और न्यायोचित बनाने की एक अन्य प्रणाली द्वितीय मतदान को प्रणाली है। जब एक स्थान के लिये 2 से अधिक उम्मीदवार निर्वाचन के लिये खड़े होते हैं और यदि बहुमत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार का बहुमत निरपेक्ष नहीं होता, तो इस प्रणाली के द्वारा पहले मतदान में सबसे कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार को निर्वाचन से हटा कर शेष दो के लिये दूसरी बार मतदान होता है और इस प्रकार जो उम्मीदवार बहुमत प्राप्त करता है, उसे निर्वाचित समझा जाता है। एक उदाहरण द्वारा इस प्रणाली की प्रक्रिया स्पष्ट हो जायेगी। मान लीजिए किसी एक स्थान के लिए अ, ब और स तीन

उम्मीदवारों ने चुनाव लड़ा और तीनों को क्रमश: 3,000; 2,500 व 2,000 मत प्राप्त हुये। इस प्रकार यद्यपि अ को ब तथा स से मिलाकर 1,500 मत अधिक प्राप्त हुए हैं। ऐसी अवस्था में इस प्रणाली को कार्य में लाया जाएगा और स को पराजित घोषित करके शेष दो के लिये द्वितीय मतदान होगा और परिणामस्वरूप दोनों में से जिस उम्मीदवार को अधिकतम मत प्राप्त होंगे उसे निर्वाचित समझा जाएगा। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि ऊपर के उदाहरण में पहले मतदान में स के पक्ष में मत देने वाले मतदाताओं में से 1,500 मतदाता ब के लिये और 500 मतदाता अ के लिये अपने मत दें, तो द्वितीय मतदान का परिणाम यह होगा कि अ निर्वाचित न होकर ब निर्वाचित होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय मतदान प्रणाली से प्रतिनिधित्व अधिक सच्चा होता है और इस दृष्टि से यह प्रणाली उपयोगी है, फिर भी इसके द्वारा प्रतिनिधित्व आनुपातिक नहीं हो सकता और न यह प्रणाली उन क्षेत्रों में प्रयुक्त हो सकती है,जिनमें एक स्थान के लिये तीन से कम उम्मीदवार खड़े हुए हों।

वैकल्पिक मत-प्रणाली (Alternative Vote System) :

प्रतिनिधित्व अधिक से अधिक सच्चा हो इस दृष्टि से प्रयोग में लायी जाने वाली एक अन्य प्रणाली वैकल्पिक मत प्रणाली है। इसका प्रयोग केवल एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में ही किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत मतदाता जिस उम्मीदवार को चुनना चाहता है उसके पक्ष में तो अपने मत की अभिव्यक्ति उसके लिए अपनी पहली पसन्द व्यक्त करके करता ही है, वह अपने वैकल्पिक मत भी व्यक्त करता है और उनके अनुसार अन्य उम्मीदवारों के नामों के आगे दूसरी, तीसरी आदि पसन्दों का उल्लेख भी वह कर देता है। मतगणना के समय सबसे पहली पसन्द की गणना की जाती है और यदि उसी के परिणामस्वरूप किसी उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत (Absolute Majority) प्राप्त हो जाए तो उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है, अन्यथा सबसे कम मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार का नाम काट दिया जाता है और उससे पहली पसन्द के मत मत-पत्रों पर दी हुई दूसरी पसन्द के अनुसार अन्य उम्मीदवारों को बाँट दिये जाते हैं। सबसे कम मत प्राप्त करने वाले उम्म्मीदवार के नाम काटने और उसके मतों को हस्तान्तरित करने की यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक किसी एक उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो जाता और इस प्रकार जिस उम्मीदवार को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो जाता है, उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

सीमित मत-प्रणाली (Limited Vote System)

अल्पसंख्यकों को भी प्रतिनिधित्व मिल सके तथा प्रतिनिधित्व व्यापकतम हो सके इसके लिए प्रयोग की जाने वाली एक अन्य प्रणाली सीमित मत प्रणाली है। इस प्रणाली के लिये निर्वाचन क्षेत्र अनेक सदस्यीय होने चाहिए और ऐसे होने चाहिये जिससे कम से कम तीन सदस्य अवश्य चुने जाने हों। इसके अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता को एक से अधिक किन्तु निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या से कम मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। उदाहरण

के लिए यदि किसी निर्वाचन क्षेत्र से 7 प्रतिनिधि चुने जाने हैं, तो मतदाताओं को 6 या इससे कम मत देने का अधिकार दिया जाएगा। इस प्रणाली द्वारा भी अल्पमत वाले दल अपने एक दो प्रतिनिधि चुनवाने में सफल हो जाते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इसके द्वारा केवल उन्हीं अल्पमत दलों को कुछ प्रतिनिधित्व मिल सकता है जो सुसंगठित हों। इसके अतिरिक्त दलों की संख्या बहुत अधिक हो जाने पर इसका प्रयोग सफल नहीं हो सकता है।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व (Communal Representation)

प्रतिनिधित्व की एक नवीन प्रणाली जिसके अनुसार प्रतिनिधित्व की व्यवस्था साम्प्रदायिक आधार पर की जाती है, भारत में अँग्रेजी राज्य की देन के रूप में हमारे समक्ष आई है। इस प्रणाली के अनुसार निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की व्यवस्था धार्मिक सम्प्रदायों की जनसंख्या के आधार पर निश्चित करदी जाती है तथा मतदाताओं का भी धर्म के आधार पर पृथक्करण कर दिया जाता है। धर्म के आधार पर अलग किये हुए मतदाता अपने-अपने धर्म के प्रतिनिधियों को ही मत दे सकते हैं, अर्थात् हिन्दू मतदाता केवल हिन्दू उम्मीदवारों को, मुसलमान मतदाता केवल मुसलमान उम्मीदवार को अथवा अन्य किसी धर्म के अनुयायी उसी धर्म के अनुयायी उम्मीदवार को मत दे सकते हैं। इस प्रणाली में निर्वाचन क्षेत्र भी प्राय: इसी धार्मिक आधार पर बनाये जाते हैं। इस प्रकार धार्मिक साम्प्रदायिकता पर आधारित पृथक् निर्वाचन क्षेत्र, पृथक् निर्वाचक-मण्डल तथा पृथक् प्रतिनिधित्व ये तीनों वस्तुएँ साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की इस प्रणाली के मुख्य आधार होते हैं। प्रतिनिधित्व की यह प्रणाली अँग्रेजी सरकार द्वारा किसी राजनीतिक उपयोगिता की दृष्टि से नहीं चलायी गई थी अपितु इसके चलाने का उद्देश्य भारतीयों में फूट डालकर उन पर शासन करना था। जिस उद्देश्य से इसका प्रवर्तन किया गया था उसकी पूर्ति में यह प्रणाली अन्त में सफल भी हुई और इसके द्वारा बोये गये फूट के बीज ने ही अन्त में भारत का विभाजन कराया। अत: यह निर्विवाद है कि राजनीतिक उपयोगिता की दृष्टि से इस प्रणाली का कोई मूल्य नहीं है। विशेषत: उस समय जब समय की यह माँग है कि राजनीति को धर्म से पूर्णत: पृथक् रखा जाये। राजनीतिक उपयोगिता की दृष्टि से इसकी मूल्यहीनता का ही सबसे बड़ा प्रमाण है कि भारत में यह उसी समय तक चली जब तक इसके प्रवर्त्तक अँग्रेज लोगों का शासन रहा और पाकिस्तान (जिसका निर्माण ही इसके आधार पर हुआ था) में भी अब इसका खुला विरोध होने लगा है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation)

एक अन्य प्रणाली जिसके द्वारा उसके समर्थकों के अनुसार प्रतिनिधित्व अधिक व्यापक और वास्तविक बनाया जा सकता है व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली है। इस प्रणाली के समर्थकों के अनुसार प्रतिनिधित्व प्रादेशिक अथवा भौगोलिक आधार पर नहीं

होना चाहिये क्योंकि उनके विचार से जिस मान्यता पर प्रादेशिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त आधारित है, वह दोषपूर्ण है। प्रादेशिक पद्धति के अनुसार यह मान लिया जाता है कि प्रदेश में निवास करने वाले सब व्यक्तियों के हित एक से होते हैं और इसलिए उस प्रदेश का एक ही व्यक्ति उस प्रदेश में बसने वाले सब नागरिकों का उचित एवं वास्तविक प्रतिनिधित्व कर सकता है। परन्तु व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के समर्थकों की दृष्टि से यह मान्यता त्रुटिपूर्ण है। उनका कहना है कि एक प्रदेश में बसने वाले सब लोगों के महत्त्वपूर्ण हित एक समान नहीं होते। यह बात दूसरी है कि सफाई, रोशनी, जल अथवा स्वास्थ्य जैसी वस्तुओं के सम्बन्ध में उनके हित एक से होते हों, परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण मामलों में उनके हित आवश्यक रूप से भिन्न होते हैं, उदाहरणार्थ, यदि हम किसी एक स्थान अथवा प्रदेश में रहने वाले मिल-मालिकों, मजदूरों तथा सरकारी नौकरों को लें और प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार यह कहें कि उनके सब हित एक से हैं और कोई एक व्यक्ति उनका वास्तविक प्रतिनिधित्व कर सकता है, तो यह वस्तुतः त्रुटिपूर्ण होगा, क्योंकि एक मिल मालिक को मजदूरों तथा सरकारी नौकरों के हितों का, एक मजदूर को मिल मालिकों तथा सरकारी नौकरों के हितों का अथवा एक सरकारी नौकर को मजदूरों तथा मिल मालिकों के हितों का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता। इसके विपरीत यदि हम सब स्थानों अथवा प्रदेशों के मिल मालिकों या मजदूरों अथवा सरकारी नौकरों को पृथक्-पृथक् लेकर यह कहें कि उनके हित एक समान हैं और उन तीनों पृथक्-पृथक् व्यवसायों के व्यक्तियों के एक-एक व्यक्ति को उनके हितों का ज्ञान हो सकता है तथा वे ही एक-एक व्यक्ति उनका वास्तविक प्रतिनिधित्व कर सकते हैं, तो यह सर्वथा युक्ति-युक्त होगा। इस प्रकार व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के समर्थकों का यह कहना है कि व्यवसाय के आधार पर हितों की समानता हो सकती है, प्रदेश अथवा स्थान के आधार पर नहीं और इसलिए उनकी मान्यता है कि जनता का सच्चा प्रतिनिधित्व प्रादेशिक आधार पर न होकर व्यावसायिक आधार पर ही हो सकता है।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का विचार प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र के प्रादुर्भाव के समय से ही चलता आ रहा है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के समय मिराबो (Mirabaeu) ने भी इसी विचार का प्रतिपादन किया था। उसका कथन था कि व्यवस्थापिका ऐसी होनी चाहिए जिसमें जनता के विभिन्न वर्गों के विभिन्न हित पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हों। सेईज (Sieyes) ने भी इसी प्रकार के विचार का समर्थन किया था। आधुनिक विचारकों में डयूग्वी (Duguit) ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि उद्योग, सम्पत्ति, व्यापार, व्यवसाय, विज्ञान तथा धर्म आदि राष्ट्रीय जीवन की सभी शक्तियों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। पर इस सिद्धान्त का सबसे प्रबल समर्थन कोल (Cole) द्वारा हुआ है। उसका मत है कि कोई व्यक्ति अन्य किसी की इच्छा का नहीं वरन् व्यवसाय का प्रतिनिधित्व कर सकता है। अतः इच्छा के प्रतिनिधित्व के आधार पर लोकतन्त्र की व्यवस्था ही सिद्धान्त उचित नहीं है। अपनी

पुस्तक सोशल थ्योरी में कहे हुए उसके शब्दों में "संसद सब नागरिकों का सब बातों में प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है, अत: नियमित रूप से वह किसी का किसी भी बात में प्रतिनिधित्व नहीं करती।........वास्तविक लोकतन्त्र की प्राप्ति केवल एक सर्वसक्षम प्रतिनिध्यात्मक सभा द्वारा नहीं, अपितु व्यवसायों के आधार पर समायोजित प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की व्यवस्था द्वारा हो सकी है।"[1] अपनी अन्य रचना 'गिल्ड सोशलिज्म रि-स्टेटेड' में तो उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि "पूर्णत: शुद्ध और लोकतन्त्रीय प्रतिनिधित्व केवल व्यावसायिक प्रतिनिधित्व ही होता है। सर्वसक्षम संसद युक्त सर्वशक्तिमान राज्य वास्तविक लोकतन्त्रीय समाज के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होता है, अत: उसका विनाश कर दिया जाना चाहिए अथवा बिना किसी कठिनाई के उसको निष्प्राण कर दिया जाना चाहिए।"[2] इस प्रकार व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के समर्थकों ने प्रादेशिक प्रतिनिधित्व पर आधारित राजनीतिक लोकतन्त्र के स्थान पर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व पर आधारित व्यावसायिक लोकतन्त्र का प्रतिपादन किया है।

अनेक राज्यों में इस सिद्धान्त को कार्यरूप भी दिया गया है। उदाहरणार्थ, पूर्व साम्यवादी रूस में व्यवसायों के आधार पर निर्वाचन की प्रणाली का प्रयोग पर्याप्त रूप में किया गया। वहाँ कारखानों, खानों तथा खेतिहारों आदि की जो सोवियतें बनी हुई थी, उनके प्रतिनिधियों का चुनाव व्यावसायिक आधार पर ही होता था। उनकी केन्द्रीय व्यवस्थापन-संस्थाओं के निर्वाचन के लिए भी इस सिद्धान्त का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार कुछ अन्य साम्यवादी राज्यों में भी व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है।

साम्यवादी विचारक तो व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन करते ही हैं, अनेक लोकतन्त्रवादी विचारक भी यह स्वीकार करते हैं कि व्यवस्थापन-संस्थाओं का निर्माण मूलत: प्रादेशिक और राजनीतिक आधार पर होते हुए भी कोई व्यवस्था ऐसी अवश्य होनी चाहिए, जिससे विविध व्यवसायों को उचित प्रतिनिधित्व मिल सके। उदाहरणार्थ, ग्राहम वालास (Graham Wallas) ने यह प्रतिपादित किया है कि यदि लोकसदन का निर्माण प्रादेशिक

---

1. "The parliament professes to represent all the citizens in all things and, therefore, as a rule represents none of them in any thing .... Real democracy is to be found not in a single omnicompetent representative assembly but in a system of coordinated functional representative bodies."

   —G.D.H. Cole : *Social Theory*, p. 207.

2. All true and democratic representation is functional representation. The omnicompetent state with its omnicompetent parliament is utterly unsuitable to any really democratic community and must be destroyed or painlessly extinguished."

   —G.D.H. Cole : *Guild Socialism Re-stated*, pp. 32-34.

प्रतिनिधित्व के आधार पर हो, तो द्वितीय सदन में विविध व्यवसायों के हितों को उचित प्रतिनिधित्व अवश्य मिलना चाहिए। सिडनी वेब (Sidney Webb) ने इसी विचार का प्रतिपादन यह कह कर किया है कि एक संसद राजनीतिक तथा दूसरी आर्थिक होनी चाहिए। ऐसे लोकतन्त्रवादी विचारकों के विचारों का प्रभाव अनेक लोकतन्त्रात्मक राज्यों में दृष्टिगोचर होने लगा है। उदाहरणार्थ, इंग्लैण्ड में प्रशासन के विविध विभागों के साथ व्यावसायिक आधार पर निर्मित अनेक परामर्शदात्री समितियाँ (Advisory Councils) लगा देने की प्रथा विकसित हो गई है। फ्रांस में ऐसी ही अनेक परिषदें विद्यमान हैं तथा भारत में भी ऐसी समितियों की लोकप्रियता बढ़ रही है।

परन्तु व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के पक्ष में जो कुछ कहा गया है उसकी तुलना में भी अभी तक उसका विपक्ष ही भारी है और यही कारण है कि साधारण निर्वाचन के लिए इसके प्रयोग की व्यापकता नगण्य ही है। जिन आधारों पर इस सिद्धान्त की आलोचना की जाती है, उन्हें हम निम्न प्रकार से परख सकते हैं:

(1) इस सिद्धान्त की यह मान्यता कि जनता का प्रतिनिधित्व नागरिकों के समष्टिमय रूप में न होकर उसके व्यावसायिक वर्गों के रूप में होना चाहिए, संप्रभुता के सिद्धान्त के विपरीत है, संप्रभुता के सिद्धान्त के अनुसार राज्य की संप्रभुत्व शक्ति जनता के समष्टि रूप में निहित होती है, व्यवसायों के आधार पर निर्मित विविध वर्गों में नहीं। व्यावसायिक, प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करने का अर्थ यह होता है कि हम संप्रभुता को विभाज्य मान लेते हैं। यह न व्यवहार्य है और न वांछनीय, क्योंकि ऐसा करने का परिणाम अराजकता होगा।

(2) विभिन्न वर्गों का विविध व्यवसायों के आधार पर प्रतिनिधित्व और उसके फलस्वरूप शक्ति मिलने का परिणाम यह होगा कि वर्ग हितों के समक्ष राष्ट्रीय हितों का स्थान गौण हो जाएगा और विभिन्न वर्गों में अपने-अपने हितों की साधना की भावना की प्रबलता के कारण उस वर्ग-संघर्ष का प्रादुर्भाव हो जाएगा, जिससे राष्ट्रीय जीवन छिन्न-भिन्न हो जाएगा और समाज की एकता नष्ट हो जाएगी।

(3) यह सिद्धान्त व्यावसायिक और आर्थिक हितों को अनावश्यक महत्त्व प्रदान करता है। इस प्रकार के हित वस्तुतः मानव हितों का केवल एक अंग होते हैं तथा बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा, शिक्षा की व्यवस्था, स्वास्थ्य और चिकित्सा, आवागमन के साधन और जनता की नैतिक उन्नति के लिए उचित परिस्थितियों की व्यवस्था आदि से संबंधित अनेक ऐसे हित हैं, जिनकी राज्य द्वारा साधना होना भी आवश्यक है। साथ में यह भी आवश्यक है कि उनसे सम्बन्धित जनता के विचारों को व्यक्त करने वाले भी शासन-तन्त्र में रहें। अतः राज्य की व्यवस्थापन-संस्थाओं का निर्माण केवल व्यावसायिक आधार पर ही हो, ऐसा मानना उचित नहीं हो सकता। व्यक्ति के सब हित वस्तुतः एक शब्द में नागरिक के हित के अन्तर्गत आ जाते हैं, अतः राज्य के शासन-तन्त्र में व्यक्ति का प्रतिनिधित्व

नागरिकता के आधार पर होना चाहिए, व्यवसाय के आधार पर नहीं। जैसा **मैरियट** ने कहा है, "नागरिक का महत्त्व डाक्टर, वकील, बनिया अथवा लुहार से कहीं अधिक है।"[1] और यह पूर्णत: उचित है कि व्यक्ति को एक नागरिक के रूप में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो न कि एक व्यवसायी के रूप में।

(4) यह सिद्धान्त उस आधारभूत मान्यता पर ही कुठाराघात करता है, जिसे मानव की सामाजिकता कहते हैं और जो राज्य-संस्था का आधार होती है। मनुष्य के व्यक्तिगत हित प्राय: पृथक्-पृथक् होते हैं, किन्तु चूँकि वह सामाजिक प्राणी है, अत: वह समाज में रहकर उससे लाभ प्राप्त करने के लिए सामाजिक हितों के लिए व्यक्तिगत हितों का बलिदान करने के लिए तैयार रहता है। यही बात उसके हितों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है क्योंकि समाज के हितों के समक्ष यदि वह वर्गगत हितों को अधिक महत्त्व देने लगेगा, तो उसकी सामाजिकता नष्ट हो जायेगी। यह स्थिति उसके लिए हानिकारक होगी। चूँकि यह सिद्धान्त व्यक्ति के व्यावसायिक हितों को समष्टि रूप से सामाजिक हितों के समक्ष अधिक महत्त्व देने की प्रेरणा देता है, अत: यह सिद्धान्त मनुष्य की सामाजिकता की भावना का विरोधी है।

(5) यदि यह मान भी लिया जाय कि यह विधि सिद्धान्तत: औचित्यपूर्ण है, तो इसको क्रियान्वित करने में भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। उदाहरणार्थ, सबसे पहले तो यह निश्चय करना ही अत्यन्त कठिन है कि कौन-कौन से आर्थिक हितों और व्यवसायों को प्रतिनिधित्व दिया जाये। आर्थिक हित और व्यवसाय इतने विभिन्न और विविध हैं कि उन सबके उचित प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करना प्राय: असम्भव होगा। इसके बाद यदि यह निश्चय भी कर दिया जाये कि अमुक-अमुक आर्थिक हितों और व्यवसायों को प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए, तो फिर यह कठिनाई होगी कि उनके प्रतिनिधित्व के अनुपात का आधार संख्या होनी चाहिए या उनका महत्त्व।

इस विवेचन में हमने देखा, व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली में सैद्धान्तिक कठिनाइयाँ ही नहीं अपितु कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी हैं और यही कारण है कि अभी तक यह लोकप्रिय नहीं हुई है। शासन तन्त्र में व्यक्ति के प्रतिनिधित्व की पूर्णत: सफल विधि के रूप में इसे यद्यपि स्वीकार नहीं किया गया है, तथापि इसमें निहित विचार की उपयोगिता सर्वत्र स्वीकार की जाती है और साम्यवादी राज्यों में ही इसका प्रयोग नहीं हो रहा है, अपितु लोकतन्त्रवादी राज्यों में भी अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व को किसी न किसी

---

1. "The citizen is more important then the physician, or the lawyer, the grocer or the steel worker."
—Marriot : *The Mechanism of the Modern State,* Vol. I, p. 505.

रूप में स्थान दिया जाय तथा यही कारण है कि राजनीतिक दल अब प्रायः समाज के सभी वर्गों से अपने उम्मीदवार चुनने का प्रयास करते हैं।

SELECT READINGS

Bluntschli : *The Theory of the State.*

Commons : *Proportional Representation.*

Dicey : *The Law of Constitution.*

Finer : *The Theory and Practice of Modern Government.*

G.D.H. Cole : *Social Theory.*

G.D.H.Cole : *Guild Socialism Re-stated.*

Hallet : *Proportional Representation.*

Ilyas Ahmed : The Machinery of Government.

Laski : *A Grammar of Politics.*

The Parliamentary Government in England.

Marriot : *The Mechanism of the Modern State.*

Mill : *Representative Government.*

Ramsay Muir : *How Britain is Governed.*

Strong : *Modern Constitutions.*

❑❑❑

8

राजनीतिक दल

"दल-प्रणाली, चाहे पूर्ण रूप से भले के लिए हो, अथवा बुरे के लिए, पर स्वाधीन शासन के लिए वह अपरिहार्य है।"

—बर्क

राजनीति के क्षेत्र में, विशेषकर जनतन्त्रीय शासन-व्यवस्था में जनता की इच्छा द्वारा राज्य के कार्यों की प्रकृति का निर्धारण होता है। चूँकि जनतन्त्र में शासन का संचालन जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होता है, अतः ऐसे शासन का आधार जनमत होता है। जनमत के निर्माण में अनेक तत्व कार्य करते हैं, और उन तत्त्वों में राजनीतिक दलों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। राजनीतिक दल जनतन्त्र के आधार होते हैं, क्योंकि वे जनमत के निर्माण, अभिव्यक्ति और उचित दिशा में उसके विकास के माध्यम होते हैं। मतदान अथवा निर्वाचन के समय वे राज्य के नागरिकों को राजनीतिक साहित्य प्रदान करते हैं, उनमे शासन के प्रति जागरूकता उत्पन्न करते हैं, उनको उनके राजनीतिक कर्त्तव्यों का बोध कराते हैं और स्थान-स्थान पर जनसभाएँ आदि करके जनमत का निर्माण करते हैं। राजनीतिक दलों के कुछ विशेष लक्ष्य और उद्देश्य होते हैं। उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उनके कुछ साधन होते हैं तथा उनका एक संगठन होता है। अतः 'दल नहीं तो जनतन्त्र नहीं' यह कहना सर्वथा उचित है। विभिन्न राजनीतिक दल अपने-अपने संगठनों और साधनों द्वारा अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति और लक्ष्यों की प्राप्ति करने की चेष्टा करते हैं और इस प्रकार राज्य के राजनीतिक जीवन का निर्माण करते हैं। यहाँ हम राजनीतिक दलों के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

परिभाषा

साधारण भाषा में राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का संगठन होता है, जो एक ध्येय विशेष के लिए परस्पर सहमत हों। इसका अर्थ यह हुआ कि वे व्यक्ति जिनमें एकता की भावना हो, जिनमें एक राजनीतिक ध्येय पर मतैक्य हो, जो सुसंगठित हों, दल कहलाते हैं। संस्कृत की प्रसिद्ध लोकोक्ति है कि "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" अर्थात् अलग-अलग व्यक्तियों

के अलग-अलग मत होते हैं। किन्तु मतभेदों के होते हुए भी जिस माध्यम से व्यक्ति संगठित होकर ध्येय विशेष की पूर्ति के लिए एक होकर कार्य करते हैं, वह दल का मत होता है तथा उस मत को मानने वाले लोगों का ही वह दल होता है। इस प्रकार चाहे व्यक्तियों में व्यक्तिगत रूप से कितने ही मतभेद हों, दल में एक होने पर दल के सिद्धान्त तथा साधन उनके सिद्धान्त तथा साधन हो जाते हैं। इस प्रकार दल व्यवस्था व्यक्तियों में एकता स्थापित करने का एक अति उत्तम मार्ग है। राजनीतिक दल के व्यक्तियों के एक से सिद्धान्त होते हैं। समस्याओं पर विचार-विमर्श होने के बाद एक सामान्य निष्कर्ष निकाला जाता है, जिस पर वे चलते हैं। दल द्वारा सामान्य मत एवं नीति के आधार पर सरकार बनाने की शक्ति प्राप्त कर लेने पर निश्चित नीति और ध्येय की पूर्ति में दल के सदस्य समान रूप से कार्य करते हैं। यदि दल सरकार नहीं बना सकता, तो सरकार के बाहर वे अपने मत का प्रचार करते हैं, सरकार का विरोध करते हैं, जनता की इच्छा सरकार तक पहुँचाते हैं तथा जनमत को अपने दल की नीतियों और सिद्धान्तों के पक्ष में करने का प्रयत्न करते हैं।

दल क्या होता है इसके विषय में विभिन्न विचारकों ने विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं। **एडमण्ड** बर्क के मतानुसार "राजनीतिक दल ऐसे लोगों का एक समूह होता है जो कि किन्हीं पूर्व-स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर, अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा जनता के हित में काम के लिए एकता में बंधे होते हैं।"[1] **गैटिल** के मतानुसार "एक राजनीतिक दल न्यूनाधिक संगठित उन नागरिकों का समूह होता है जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और जिनका उद्देश्य अपने मतदान रूपी प्रयोग द्वारा सरकार का नियन्त्रण करना और अपनी सामान्य नीतियों का संचालन करना होता है।"[2] **गिलक्राइस्ट** के अनुसार "राजनीतिक दल की परिभाषा उन नागरिकों के संगठित समूह के रूप में की जा सकती है, जो राजनीतिक रूप से एक विचारक के हों और जो राजनीतिक इकाई के रूप में सरकार पर नियन्त्रण करना चाहते हों।"[3] **मेकाइवर** के मतानुसार "राजनीतिक दल एक ऐसा समुदाय होता है जो किसी ऐसे सिद्धान्त अथवा ऐसी नीति के समर्थन के लिए संगठित हुआ हो, जिसे वह वैधानिक साधनों से सरकार का आधार बनाना चाहता हो।"[4] प्रोफेसर **लीकॉक**

---

1. "A body of men, united for the purpose of promoting by their joint endeavours the pubic interests upon some principles on which they are all agreed."

—Burke : *Thoughts on the Causes of Present Discontents : Works,* Vol. I, p. 530.

2. "A Political Party consists of a group of citizens, more or less organised, who act as a political unit and who, by the use of their voting power, aim to control the government and carry out their general policies." —Gettell : *Political Science,* p. 289.
3. "A Political party may thus be defined as an organised group of citizens who profess or share the same political views and who, by acting as a political unit, try to control the Government."

—Gilchrist : *Principles of Political Science,* p. 334.

4. "An association organised in support of some principle or policy which by constitutional means it endeavours to make the determinant of Government." —MacIver : *The Modern State,* p. 396.

के कथनानुसार "राजनीतिक दल से हमारा तात्पर्य नागरिकों के उस संगठित समूह से होता है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं।"[1] राजनीतिक दल की उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से उसकी कुछ विशेषताएँ हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाती हैं। एक बात जो हमारे समक्ष स्पष्ट होती है यह है कि राजनीतिक दल का निर्माण मानव-स्वभाव की दो विशेषताओं—मतैक्य और संगठन पर आधारित होता है। मनुष्य चूँकि सामाजिक होता है, अतः व्यक्तिगत मतों की विभिन्नता होते हुए भी उसमें सामान्य मतैक्य पाया जाता है तथा अनेक विषयों में वे सामान्यतः एक मत होते हैं। इस मतैक्य के आधार पर व्यक्ति संगठित होते हैं तथा संगठित रूप से सामान्य मत की सफलता के लिए प्रयत्न करते हैं और उनके उस प्रयत्न का रूप अपने मत के अनुसार लोकमत का निर्माण करके उसके अनुसार राज्य का शासन चलाना होता है।

दूसरी बात जो उक्त परिभाषाओं से प्रकट होती है यह है कि राजनीतिक दलों के निर्माण के मूल में दो धारायें रहती हैं तथा उन दो धाराओं के आधार पर उक्त परिभाषाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम धारा जिसे हम आदर्शवादी धारा कह सकते हैं तथा जिसके प्रतिनिधिस्वरूप हम बर्क और मेकाइवर की परिभाषाएँ ले सकते हैं, इस बात पर बल देती है कि राजनीतिक दलों के कुछ मूल सिद्धान्त एवं वैचारिक परिप्रेक्ष्य होते हैं जिनके आधार पर वे सामूहिक हितों की साधना एवं शासकीय नीतियों के निर्धारण के लिए सचेष्ट रहते हैं। दूसरी धारा जिसे यथार्थवादी कहा जा सकता है और जिसके प्रतिनिधिस्वरूप हम गैटिल, गिलक्राइस्ट व लीकॉक की परिभाषाओं को ले सकते हैं, इस बात पर बल देती हैं कि राजनीतिक दल मुख्यतः सत्ता के लिए संघर्षरत विभिन्न व्यक्तियों एवं हित समूहों के संगठन होते हैं। व्यवहारवाद के विकास के साथ राजनीतिक दलों के निर्माण के प्रेरक तत्त्व के विषय में यह दृष्टिकोण राजनीतिविज्ञानियों में अधिक लोकप्रिय हुआ है। अब वस्तुतः यह माना जाने लगा है कि राजनीतिक दलों की परिभाषा उस रूप में की जानी चाहिए जिस रूप में उन्हें हम यथार्थ के धरातल पर देखते हैं और यथार्थ में चूँकि राजनीतिक दलों का मुख्य कार्य सत्ता के संघर्ष एवं तदर्थ चुनावों में भाग लेना होता है, अतः उनकी परिभाषा सत्ता के लिए संघर्षरत संगठनों के रूप में ही की जानी चाहिए। आस्टिन रेने व विलमोर केंडल ने उनकी परिभाषा इसी रूप में की है और कहा है कि राजनीतिक दल वे "स्वायत्त एवं संगठित समूह होते हैं, जो सरकारी प्रशासन एवं नीतियों के नियन्त्रण की आशा से चुनावों में भाग लेते हैं व प्रत्याशियों का चयन करते हैं।"[2]

राजनीतिक दलों के निर्माणक तत्त्व

राजनीतिक दलों के निर्माणक तत्त्वों का विवेचन हम इन शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं—

---

1. "By a Political party we mean a more or less organised group of citizens who act together as a political unit."
—Leacock : *Elements of Political Science*, p. 811.
2. Austin Ranney and Willmore Kendall, *Democracy and the American Party System* (New York : Har Court, 1956), p. 85.

संगठन—संगठन राजनीतिक दलों के निर्माण की पहली आवश्यकता होती है। किसी व्यक्ति या समुदाय को राजनीतिक दल कहलाने के लिए उसे पूर्ण रूप से सुसंगठित होना चाहिए, क्योंकि "एकता ही शक्ति होती है।" जब तक समान विचारधारा वाले व्यक्ति मिलकर एक नहीं होते, वे राजनीतिक दल का रूप नहीं धारण कर सकते। दल के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि उसके सदस्य संगठित हों, संगठन का कोई विधान हो और सदस्य अनुशासन में रहते हों, क्योंकि तभी उनमें निष्ठा एवं सहयोगपूर्वक दल की नीतियों के लिए कार्य करने की भावना हो सकती है। संगठन द्वारा ही दल को वह शक्ति प्राप्त होती है जिसके उपयोग से वह अपना कार्य करने में सफल होता है।

मतों और सिद्धान्तों की एकता—राजनीतिक दल के निर्माण के लिए दूसरी आवश्यकता मतों और सिद्धान्तों की एकता होती है। दल के लिए यह आवश्यक है कि सदस्यों में सामान्यत: विचारों और सिद्धान्तों की एकता पाई जाती हो। राजनीतिक दल को संगठन की दृष्टि से ही नहीं विचारों और सिद्धान्तों की दृष्टि से भी एक इकाई के रूप में होना चाहिए। सिद्धान्तों के क्रियान्वय के लिए नीति सम्बन्धी बातों में चाहे उनके मतभेद हों, किन्तु सिद्धान्तों के विषय में उनमें पारस्परिक विरोध न होना चाहिए, अन्यथा मतों व सिद्धान्तों की एकता के अभाव में राजनीतिक दलों का विघटन हो जाता है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि सिद्धान्तों की एकता के अभाव में विघटन अतिमार्गी दलों में अधिक और मध्यममार्गी दलों में कम होता है। वस्तुत: मध्यममार्गी दलों का एक ही सिद्धान्त और एक ही आदेश होता है, वह है सत्ता की प्राप्ति। उनके दल या गुट के सत्तारूढ़ रहने तक वे विभिन्न विचारों के लोगों की भीड़ की तरह सत्ता में बने रहते हैं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इस प्रकार के मध्यममार्गी दल का सर्वोत्तम उदाहरण है। इस दल में विचारों की दृष्टि से साम्यवादी, समाजवादी, मिश्रित अर्थव्यवस्था एवं अनियन्त्रित अर्थव्यवस्था के समर्थक सभी देखने को मिल जायेंगे, यद्यपि इसके कारण किसी भी दिशा में बढ़ पाना इस दल के लिए मुश्किल हो जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के दोनों प्रमुख दल—रिपब्लिक एवं डेमोक्रेटिक—भी इसी प्रकार के उदाहरण है। नवम्बर 1972 में राष्ट्रपति के चुनावों के अवसर पर जब डेमोक्रेटिव दल में संस्थापित समृद्ध वर्ग के सदस्यों ने महसूस किया कि राष्ट्रपति पद की दलीय प्रत्याशी मेकनवर्ग के नेतृत्व में सत्ता उनके हाथ से निकलकर श्रमिक, नीग्रो आदि निम्न वर्ग के समूहों के हाथों में चली जायेगी, तो उन्होंने समय के अनुसार उक्त वर्गों के विरोध की नीति का परित्याग ही अधिक उचित समझा। मध्यममार्गी दलों के सिद्धान्त विमुखता के विरुद्ध अतिमार्गी दलों की सैद्धान्तिक दृढ़ता के उदाहरण भी देखे जा सकते हैं। परन्तु इसके कारण दलों में टूट या विभाजन भी काफी होता है। भारतीय साम्यवादी दल इसका उदाहरण है। हम देखते हैं कि मतैक्य के अभाव के कारण साम्यवादी दक्षिणपंथी, वामपंथी, नक्सलपंथी, माओपंथी इत्यादि कई भागों में बँटे हुए हैं।

मतदान और उसके निर्णय में विश्वास—राजनीतिक दल के निर्माण और संचालन की तीसरी आवश्यकता है कि दल के सदस्य मतदान तथा उसके निर्णयों में विश्वास

रखें। राजनीतिक दलों के सदस्यों को चाहिए कि वे मतदान की शक्ति में विश्वास रखें और अपने ध्येय की पूर्ति के लिए शान्तिपूर्ण तथा वैज्ञानिक ढंग को काम में लायें। उन्हें कभी भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए गोपनीय ढंग, क्रान्ति तथा सैनिक शक्ति आदि का उपयोग नहीं करना चाहिए। मतदान के बाद जो निर्णय हो, वह सर्वमान्य होना चाहिए और उसे कार्यान्वित करना सम्पूर्ण दल का कार्य होना चाहिए। अपनी नीति विशेष के आधार पर सरकार बनाना दल का कार्य होता है। उसके लिए दल को मतदान द्वारा प्राप्त निर्णय पर ही विश्वास होना चाहिए। यदि मतदान द्वारा निर्णय के अनुसार किसी दल विशेष को सरकार बनाने का अवसर नहीं मिलता है, तो उसे उसके लिए अन्य अलोकतन्त्रीय ढंग का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि वैसी दशा में दल का स्वरूप दल का नहीं रह जाएगा। परन्तु यह सब भी आदर्शात्मक ही अधिक होता है। वस्तुतः न्यूनाधिक रूप में विश्व के सभी देशों में यह देखा जाता है कि दल न निर्वाचन व्यवस्था में विश्वास करते हैं और न उचित साधनों के प्रयोग में। उनका विश्वास सत्ता प्राप्ति के लक्ष्य में होता है, यद्यपि इतना अवश्य है कि एक सीमा से परे सामान्य नियमों का उल्लंघन वे नहीं कर सकते क्योंकि उस दशा में व्यवस्था के ही टूटने का डर रहता है।

राष्ट्रीय हित—राजनीतिक दल के निर्माण की चौथी और सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता राष्ट्रीय हित होता है। दल के लिए यह आवश्यक है कि जो उद्देश्य, ध्येय या आदर्श वे अपने सामने रखें, उनका आधार जातीय, संस्थागत, अथवा व्यक्तिगत हित न होकर राष्ट्रीय हो। यदि कोई राजनीतिक दल किसी विशेष जाति, धर्म, सम्प्रदाय अथवा व्यक्ति के हितों की पूर्ति करता है, तो उसका स्वरूप राजनीतिक दल का नहीं अपितु साम्प्रदायिक दल का हो जाता है। अतः राष्ट्रीय हित ही राजनीतिक दल का प्रमुख और अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए।

राजनीतिक दलों की उत्पत्ति

ऐतिहासिक दृष्टि से अपने आधुनिक रूप में दलीय संगठन की उत्पत्ति केवल एक शताब्दी पूर्व ही हुई है यद्यपि दलीय संगठन के बीज तो बहुत पहले चले आ रहे थे। मानव द्वारा संस्थापित क्लब, संस्थाएँ, संसदीय समुदाय अथवा ऐसी ही अन्य अनेक संस्थाएँ उस संगठन के रूप में रहे हैं। यह ठीक है कि इस प्रकार की संस्थाओं का सरकार से कोई सम्बन्ध नहीं था, तथापि यह निश्चित है कि वे राज्य-विषयक अनेक बातों के सम्बन्ध में लोकमत की अभिव्यक्ति करते थे। इस प्रकार जैसा **ब्राइस** ने कहा "राजनीतिक दल जनतन्त्र से कहीं अधिक प्राचीन हैं।"[1] किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे दल किसी भाँति प्रत्यक्ष रूप से शासन या सरकार के संचालन अथवा नियन्त्रण से सम्बन्धित थे। सरकार या शासन के संचालन या नियन्त्रण से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित राजनीतिक दल-व्यवस्था का

1. "Political Parties are for older than democracy."
—Bryce : *Modern Democracies,* Vol. I. p. 125.

विकास वस्तुत: जनतन्त्र तथा आधुनिक शासन-प्रणाली के विकास के साथ-साथ ही हुआ है और आधुनिक निर्वाचन-प्रणाली ही वास्तव में राजनीतिक दलों की जननी है।

यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो दलों की उत्पत्ति मनुष्य के स्वभाव में निहित प्रवृत्तियों तथा उससे उत्पन्न विचार-भेद के आधार पर हुई है। कुछ लोग स्वभाव से ही रूढ़िवादी होते हैं और वे वस्तु-स्थिति में कोई परिवर्तन या सुधार नहीं चाहते। दूसरे लोग स्वाभाविक तौर पर प्रगतिवादी होते हैं तथा वे सुधार, परिवर्तन और नवीनता के समर्थक होते हैं। मानव स्वभाव के यह भेद बहुधा परिस्थिति और आयु के भेद के कारण भी होते हैं। वृद्धावस्था में मनुष्य स्वभावत: रूढ़िवादी हो जाता है और उसके स्वभाव में अनुभवजन्य बौद्धिक निर्णयों का समावेश रहता है। इसके विपरीत युवावस्था प्रगतिवादी प्रवृत्तियों की प्रतीक होती है और युवकों में संवेदनशीलता एवं विवेक के प्रति उदासीनता पाई जाती है। 19वीं शताब्दी के एक लेखक **रोहमर** ने इस दृष्टि से मनुष्यों को चार वर्गों में बाँटा है और कहा है कि "स्वभाव से किशोर प्रगतिवादी, युवक उदारवादी, अधेड़ मनुष्य स्थितिपालक और वृद्ध रूढ़िवादी एवं प्रतिक्रियावादी होते हैं।"[1] मनुष्यों के इस प्रकार के स्वभावभेद के कारण उनमें विचार-भेद पाया जाता है और उसी विचार-भेद के आधार पर हम दल-व्यवस्था की उत्पत्ति मान सकते हैं। कुछ विचारकों के अनुसार मनुष्य के विचारों के जिस भेद के कारण विभिन्न दलों की उत्पत्ति होती है, उसका आधार मनुष्य में पायी जाने वाली अनुकरण की प्रवृत्ति है। उसके कारण विभिन्न प्रकार की प्रथाओं का अनुकरण करने वाले मनुष्यों के विभिन्न प्रकार के विचार होते हैं और उन विभिन्न प्रकार के विचारों के आधार पर हम विभिन्न दलों की उपत्ति हुई मान सकते हैं। हेनरी मेन जैसे विचारों के अनुसार दल-व्यवस्था की उत्पत्ति का मूल मनुष्य की झगड़ालू प्रवृत्ति है और जैसा **हेनरी मेन** ने कहा है "दल कदाचित मानव जाति की प्रारम्भिक युद्धप्रियता के अवशेष एवं उसके परिणाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"[2]

यदि आर्थिक दृष्टि से देखा जाए, तो दलों की उत्पत्ति का कारण आर्थिक विचार-वैषम्य है। आर्थिक हितों की विभिन्नता के आधार पर मनुष्य समुदाय या दलों के रूप में इकट्ठे हो जाते हैं और अपनी-अपनी आर्थिक नीतियों के अनुसार सरकार का संचालन अथवा नियन्त्रण करते हैं। निर्माण अथवा उत्पत्ति की दृष्टि से ही नहीं, दलों के स्थायित्व की दृष्टि से भी आर्थिक हितों का बड़ा महत्त्व है। जैसा **हैलकौम्ब** ने कहा है, "राष्ट्रीय दल क्षणिक आवेगों या अस्थायी आवश्यकताओं के आधार पर नहीं चल सकते है, उन्हें

---

1. "Youths are by nature redical, youngman liberal, middle agedmen conservative, and old men absolutist and reactionary." —Rehmer
— Quoted by Ilyas Ahmed : The Machinery of Government, p. 371.
2. "Party is probably nothing more than a survival and a consequence of the primitive combativeness of mankind."
—Sir Henry Maine : *Popular Government,* p. 101.

स्थायी सामुदायिक हितों—विशेषत: आर्थिक हितों पर आधारित होना चाहिए।"[1] आधुनिक काल में आर्थिक पहलू पर आधारित दल व्यवस्था का बड़ा महत्त्व है क्योंकि राज्य का स्वरूप अब राजनीतिक नहीं होकर आर्थिक भी है और शासन-व्यवस्थाओं को हम अब साम्राज्यवादी अथवा लोकतन्त्रवादी ही कहकर नहीं पुकारते अपितु उन्हें हम पूँजीवादी, समाजवादी अथवा साम्यवादी भी कहकर पुकारते हैं।

इसके अतिरिक्त दलों की उत्पत्ति में धार्मिक विश्वास तथा साम्प्रदायिकता का भी उल्लेखनीय हाथ रहा है। लोकतन्त्र के अभ्युदय से पहले एक लम्बे समय तक धार्मिक व साम्प्रदायिक संगठन जनता के शोषण में साम्राज्यवादी शक्तियों के सहायक रहे थे। अत: साम्राज्यवादी शक्तियों के अत्याचारों की प्रतिक्रिया के रूप में जब लोकतन्त्र का उदय हुआ तो साम्राज्यवाद के विरोध के साथ ही धर्म के नाम पर होने वाले शोषणों के अत्याचार का भी कड़ा विरोध हुआ। परिणामत: एक ओर ऐसे अनेक दलों का विकास हुआ जो राजनीति व शासन में धार्मिक व साम्प्रदायिक संस्थाओं की भागीदारी के विरुद्ध थे और शासन द्वारा यथासम्भव उन पर नियन्त्रण किये जाने के पक्ष में थे, तो दूसरी ओर अनेक दल ऐसे भी विकसित हुए जो राजनीति व शासन में धार्मिक व साम्प्रदायिक संस्थाओं की भागीरथी के पक्ष में थे। एक समय पर योरोप में ऐसे दल बहुतायत से पनपे। इटली, जर्मनी, फ्रांस आदि देशों में अब भी ऐसे अनेक दल अस्तित्व में हैं। भारत में भी धर्म व साम्प्रदायिकता का प्रभाव राजनीति के क्षेत्र में पर्याप्त रहा है तथा सभी राजनीतिक दलों के क्रियाकलापों पर धर्म व राजनीति बहुत हद तक हावी रही है। मुस्लिम साम्प्रदायिक राजनीति तथा अंग्रेज शासकों द्वारा उसके तुष्टिकरण के परिणामस्वरूप किस प्रकार देश का विभाजन हुआ यह हमारे समक्ष है। आज भी मुस्लिम लीग, मजलिस-ए-मुसब्बिरात, हिन्दू महासभा, केरल कांग्रेस आदि जैसे कुछ राजनीतिक दल तो धार्मिक व साम्प्रदायिक भावनाओं के आधार पर स्पष्ट रूप से काम करते ही हैं, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, जनता पार्टी जैसे राजनीतिक दल भी अवसर पड़ने पर जनता की धार्मिक व साम्प्रदायिक भावनाओं से खेलने से नहीं चूकते जो अपने को पूर्णत: धर्म निरपेक्ष कहते हैं।

राजनीतिक दलों का महत्त्व व उनके कार्य

राजनीतिक दलों का अस्तित्व लोकतन्त्र के लिए अपरिहार्य है। इस आधार के बिना जनतन्त्र टिक ही नहीं सकता। साधारणत: राजनीतिक दल का एक उद्देश्य विशेष को लेकर अपने सहयोगियों को संगठित करते हैं। राजनीतिक समस्याओं के प्रति वह जनमत को जाग्रत करते हैं, जनता और सरकार के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं, जनता में राजनीतिक प्रचार करते हैं, जनता को सही, निष्पक्ष तथा ठोस निर्वाचन के लिए शिक्षित

---

1. "National parties cannot be maintained by transitory impulses or temporary needs. They must be founded upon permanent sectional interests, above all upom those of an economic character."
—Arthur Halcombe : *Political Parties of Today*, p. 41.

करते हैं तथा सरकार का संचालन करते हुए उसके ऊपर अंकुश का कार्य करते हैं, जिससे वह उच्छृंखल न होने पाये। पर इतने से ही उनके कार्यों की इतिश्री नहीं हो जाती। उनका कार्यक्षेत्र वस्तुतः बड़ा व्यापक होता है और यही कारण है कि उनके कार्यों के विषय में विभिन्न विचारकों ने अनेक प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।

प्रोफेसर मरियम के शब्दों में राजनीतिक दलों का कार्य अधिकारी वर्ग का चुनाव करना, लोक-नीति का निर्धारण करना, सरकार को चलाना और उसकी आलोचना करना, राजनीतिक शिक्षण तथा व्यक्ति और सरकार के बीच मध्यस्थता का कार्य करना होता है।[1] राजनीतिक दल, जनतन्त्रात्मक सरकार के लिए सर्वोत्तम व्यक्तियों को चुनते हैं। अनेक समस्याओं को सुलझाने तथा किसी कार्यक्रम व नीति के निर्धारण और उसके समर्थन के लिए वे सभाएँ, भाषण तथा प्रचार आदि करते हैं। निर्वाचन में बहुमत प्राप्त करने पर वे सरकार की आलोचना करते हैं। वे जनता को जागरूक बनाने के लिए उसे राजनीतिक दृष्टि से शिक्षित बनाते हैं। साधारणतः जनता राजनीतिक मामलों से प्रति उदासीन रहती है और इस उदासीनता से जनतन्त्र की जड़े कमजोर होती हैं। दल उनको जागरूक बनाये रखते हैं और उन्हें सही निर्णय लेने के लिए बाध्य करते हैं। दल व्यक्ति और सरकार के मध्यस्थ होते हैं, और दोनों को एक दूसरे के सम्पर्क में रखते हैं। दल लोकमत को सरकार तक पहुँचा कर और सरकार के कार्यों एवं नीति की व्याख्या करके व्यक्ति तथा सरकार के बीच की कड़ी का कार्य करते हैं।

प्रो. मुनरो के अनुसार[2] राजनीतिक दलों को चाहिए कि वे जनता के लिए राजनीतिक समस्याओं का निर्धारण करें, जिससे जनता को यह ज्ञात हो कि राजनीतिक समस्याएँ क्या हैं और उन पर दल के क्या विचार या झुकाव हैं। उन्हें प्रतिनिधि सभाओं के लिए उम्मीदवारों का चुनाव भी करना चाहिए, जिससे सरकार के संचालन के लिए उत्तम व्यक्ति चुन कर भेजे जा सकें। इसके अतिरिक्त उनका कार्य यह भी है कि वे सामूहिक व स्थायी राजनीतिक उत्तरदायित्व बनाये रखें तथा जनता को नागरिक शिक्षा देकर उसमें राजनीतिक जागरूकता बनाये रखें।

पैटरसन के अनुसार राजनीतिक दल "राष्ट्रीय एकता के विकास करने और उसे बनाये रखने में सहायक होते हैं; जहाँ शासन-शक्ति का पृथक्करण है, वहाँ शासन के विभिन्न अंगों में सहयोग स्थापित करते हैं; आर्थिक हितों के संघर्षों को कम करते हैं क्योंकि विभिन्न आर्थिक समुदायों की माँगें दल के मंच से व्यक्त की जा सकती हैं, तथा मतदान के कार्य में सहायता देते हैं।"[3] लॉवेल के अनुसार[4], दल के दो कार्य होते हैं—प्रथम तो यह है कि वे मतदाताओं के सामूहिक रूप से कार्य करने में सहायक होते हैं; दूसरे वे लोकनिर्णय के लिए समस्याओं का निर्धारण करते हैं।

---

1. See—Prof Meriam's : *American Party System*, pp. 391-404.
2. See—Munro's *The Government of United States*, pp. 133-136.
3. See—Patterson's : *American Government*, pp. 175-176.
4. See—Lowell's : *Public Opinion and Popular Government*, pp. 67-70.

इन राजनीतिवैज्ञानिकों के विचारों से यह स्पष्ट है कि लोकतन्त्र के क्रियान्वय की दृष्टि से राजनीतिक दलों का बड़ा महत्त्व है। उन्हें हम प्रजातन्त्र की कसौटी कस सकते हैं, क्योंकि किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था में जनतन्त्रवाद का अस्तित्व कहाँ तक है, इसकी माप इस बात से की जा सकती है कि उस व्यवस्था में राजनीतिक दल प्रणाली किस सीमा तक स्वस्थ राजनीतिक प्रतियोगिता पर आधारित है। राजनीतिक दलों के बीच परस्पर स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा, व्यापक जनसम्पर्क, जनमत की शुद्ध अभिव्यक्ति आदि ऐसी बातें हैं, जिनसे जनतन्त्र सार्थक होता है। इस सन्दर्भ में **पिनॉक** एवं **स्मिथ** का यह कथन बड़ा उपयुक्त है कि "लोकतान्त्रिक संस्थाओं के संतोषप्रद रूप में कार्य करते रहने के लिए सामान्य मतदाताओं का संगठन आवश्यक होता है। राजनीतिक दलों जैसी किसी युक्ति के अभाव में यह सम्भव है कि जनता की आवश्यकताओं एवं माँगों की पूर्ति की चेष्टा शिथिल हो, राजनीतिक उत्तरदायित्व की व्यवस्था यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो तथा नेतृत्व अपर्याप्त और शासन अप्रभावी हो।"[1]

राजनीतिक दलों की उपयोगिता के विषय में एक दूसरा पक्ष भी है तथा अनेक क्षेत्रों में दल-व्यवस्था को हेय दृष्टि से भी देखा जाता है और राजनीति में दृष्टव्य सारी बुराइयों की जड़ राजनीतिक दलों को माना जाता है। स्वयं हमारे देश में उस गाँधीवादी चिन्तन के अनुसार जो सर्वोदयी विचारधारा के रूप में सामने आया है, राजनीतिक दलों पर आधारित लोकतन्त्र को वास्तविक लोकतन्त्र नहीं माना जाता तथा दल विहीन लोकतन्त्र (Partyless Democracy) को उसका ऐसा विकल्प माना जाता है, जो लोकतन्त्र का वास्तविक रूप हो सकता है। महात्मा गाँधी के अनुसार राजनीतिक दल चूँकि विग्रह, विरोध और विघटन के मूल होते हैं, अतः इनका उन्मूलन ही श्रेयस्कर है। जयप्रकाश नारायण ने अपनी पुस्तक 'ए प्ली फॉर दी रिकन्स्ट्रक्शन ऑफ इण्डियन पोलिटी' (A Plea for the Reconstruction of Indian Polity) में भी ऐसे विचार व्यक्त किये गये हैं।

लोकतन्त्र के लिए राजनीतिक दलों की उपयोगिता के विषय में उक्त परस्पर विपरीत मतों के बावजूद वास्तविकता यही है कि राजनीतिक दलों के बिना लोकतन्त्र ही नहीं, अपितु अधिनायकतन्त्र भी सरलता से नहीं चल पाते हैं। वस्तुतः समाज में विभिन्न औपचारिक एवं अनौपचारिक हित समूह होते हैं जो अपने हितों की पूर्ति के लिए परस्पर प्रतिस्पर्द्धारत रहते हैं। राजनीतिक दल इन्हें नियमित एवं नियन्त्रित करते हैं, जिससे वे उच्छृंखल नहीं हो पाते। इसके लिए दल विचारधारा एवं कार्यक्रमों का सहारा लेते हैं, जिनके माध्यम से विभिन्न

---

1. "Organization of the electorate becomes essential if the major criteria for the satisfactory functioning of democratic institutions are to be satisfied. Without some such device as political parties responsiveness to both need and demand is likely to be sluggish the enforcement of responsibility (accountability) difficult, if not impossible, leadership inadequate and government ineffective."

—Pennock and Smith : *Political Science : An Introduction*, pp. 336-337.

हित बद्ध ही नहीं होते वरन् एक निश्चित कार्य-प्रणाली के माध्यम से वे सक्रिय भी होते हैं तथा विभिन्न हित-समूह परस्पर सामंजस्य स्थापित करने के लिए भी तत्पर होते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल शासन एवं विभिन्न हित-समूहों के संचालन की व्यवस्था में इस प्रकार कार्य करते हैं कि वे सक्रिय भी रहें और उत्तरदायी भी रहें तथा इस प्रकार उनके कार्यों में सामंजस्य बना रहे।

राजनीतिक दलों के उन कार्यों का वर्णन जिनके द्वारा वे जनतान्त्रिक व्यवस्था को चलाते हैं, निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(1) प्रत्याशी चयन एवं कार्यक्रम-निर्धारण—चुनावों के अवसर पर राजनीतिक दल अपनी ओर से चुने हुए प्रत्याशियों एवं कार्यक्रम को मतदाताओं के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। जनतन्त्र में शासन बहुमत से चलता है। अत: किसी भी नीति या कार्यक्रम पर अमल की अपेक्षा करने से पूर्व यह देखा जाना आवश्यक होता है कि व्यवस्थापिका में उसके लिए बहुमत सम्भव हो पाएगा अथवा नहीं। मतदाताओं द्वारा इस प्रकार का अनुमान लगा पाना प्राय: सम्भव नहीं हो पाता। मतदाताओं का एक बड़ा भाग तो यह सोच भी नहीं सकता कि व्यापक हित की दृष्टि से कौनसे कार्यक्रम निर्धारित किए जाने चाहिए। चुनाव लड़ने वाले सभी प्रत्याशियों को वैयक्तिक रूप से जानना भी मतदाताओं के लिए सम्भव नहीं होता है। पर जब प्रत्याशी व कार्यक्रम दलों की ओर से प्रस्तुत किये जाते हैं, तो मतदाता को मतदान करने में सरलता होती है।

पर इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि प्रत्याशी चयन व कार्यक्रम निर्धारण का कार्य राजनीतिक दल विशुद्ध व्यापक हित की दृष्टि से ही नहीं करते हैं। कार्यक्रम निर्धारण के बाद उनके अमल का कोई निश्चय भी नहीं होता। ओस्त्रोग्रोर्स्की एवं माइकेल्स आदि विद्वानों के सर्वेक्षणों से यही प्रकट हुआ है कि दलीय स्वार्थ की प्रवृत्तियाँ कभी-कभी दलों को कार्यक्रमों से विमुख कर देती हैं। भारत में किये गये इनके सर्वेक्षणों से भी यही निष्कर्ष निकला है कि चुनाव प्रचार में दलों द्वारा कार्यक्रमों को सदैव प्रमुखता नहीं दी जाती। स्वयं लेखक द्वारा आयोजित सर्वेक्षण से भी ऐसा ही निष्कर्ष निकला है। इस प्रकार प्रत्याशियों व कार्यक्रमों के प्रस्तुतीकरण का प्रभाव ही मतदाता पर नहीं पड़ता, वरन् जैसा वी.ओ. की कनिष्ठ (V.O. Key, Junior) ने कहा है उससे भी अधिक प्रभाव उन पर इस बात का पड़ता है कि मतदाताओं के मस्तिष्क में कालक्रम से किसी दल विशेष की क्या तस्वीर बनी है, ये स्वयं किसी दल को उदार, अनुदार, प्रगतिशील, उग्रपंथी, साम्प्रदायिक आदि में से क्या मानते हैं, तथा उनकी स्वयं की पसन्द की पूर्णत: या मुख्यत: कौनसी विचारधारा है।

(2) कार्यक्रमों के क्रियान्वय में उत्तरदायित्व का निर्वाह—राजनीतिक दल निर्धारित कार्यक्रमों के प्रति प्रत्याशियों को प्रतिबद्ध बनाये रखते हैं। यदि विभिन्न प्रत्याशी निर्दलीय रूप से चुनाव लड़ें व जीत जायें, तो यह अधिक सम्भव है कि वे किये गये वादों को भूल जाएँ, क्योंकि उनके ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। पर दलीय सम्बद्धता होने से ऐसा नहीं होने पाता। एक निश्चित अवधि के बाद राजनीतिक दलों को पुन: जनता के

समक्ष उपस्थित होना पड़ता है। अत: वे अपने कार्यक्रमों एवं वादों की उपेक्षा सरलता से नहीं कर सकते। सामान्यत: यह बात सभी दलों पर लागू होती है, पर शासकीय दल पर यह बात और भी अधिक लागू होती है। संसदीय शासन में उत्तरदायित्व निर्वहन अध्यक्षात्मक शासन की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष एवं प्रभावी होता है क्योंकि कार्यपालिका पर संसद का सीधा नियन्त्रण होता है।

(3) सरकार तथा वैकल्पिक सरकार का निर्माण तथा शासन का संचालन—निर्वाचन में विजयी होकर राजनीतिक दल सरकार बनाते हैं तथा इस प्रकार वे देश का शासन चलाते हैं। इस दृष्टि से वे शासन के यन्त्र कहे जा सकते हैं। सरकार के निर्माण में वे अनेक प्रकार से सहायक होते हैं। वे शासन के लिए योग्य व्यक्तियों को चुनते व प्रशिक्षित करते हैं, संगठनात्मक व प्रेरणात्मक गतिविधियों द्वारा शासक-वर्ग के लिए समर्थन जुटाते हैं और जनमत की आवाज अपने माध्यम से शासक वर्ग तक पहुँचाते हैं। ब्रिटेन आदि संसदीय देशों में जहाँ सामान्यत: द्विदलीय प्रणाली है, प्रतिपक्षी दल भी अपने छाया मन्त्रिमण्डल बना लेते हैं, जो अवसर आने पर शासन-सूत्र सम्भालने को तैयार रहते हैं।

(4) राजनीतिक शिक्षण—राजनीतिक दल चुनावों में प्रचार के द्वारा राजनीतिक शिक्षण का कार्य करते हैं। इतना अवश्य है कि इस शिक्षण-उपक्रम में प्रचार और दलगत भावनाओं की प्रमुखता रहती है परन्तु फिर भी सीखने के लिए जनता को काफी सामग्री मिल जाती है। राजनीतिक दलों का यह कार्य मुख्य न होकर गौण होता है **पिनॉक** एवं **स्मिथ** ने कहा है कि "अति महत्त्व का होते हुए भी यह कार्य (राजनीतिक शिक्षण) अन्य कार्यों का आनुषांगिक ही है। अपने प्रत्याशियों और नीतियों के लिए जन समर्थन प्राप्त करने के लिए दलीय संगठनों को अपने सदस्यों को शिक्षित करना पड़ता है और दृढ़ निष्ठाविहीन मतदाताओं की अभ्यर्थना करनी होती है।"[1]

इस प्रसंग में यह भी दृष्टव्य है कि कतिपय राजनीतिवैज्ञानिकों के अनुसार राजनीतिक दलों के द्वारा राजनीतिक शिक्षण का कार्य विकासशील देशों में अधिक प्रभावी और महत्त्वपूर्ण होता है। पश्चिम के विकसित देशों में जहाँ नागरिक को राजनीतिक मूल्यों, प्रक्रियाओं एवं सामयिक मसलों के बारे में अनेक सूत्रों से जानकारी मिल जाती है वहाँ राजनीतिक दलों के द्वारा राजनीतिक शिक्षण का महत्त्व अधिक नहीं होता है। ला पालोम्बारो और मायरन वीनर इसी मत के हैं।[2] परन्तु गहराई से देखने पर यह मत सारहीन लगता है। विभिन्न

---

1. "Although it is of crucial importance, this function (Political education) is incidental to the others. In seeking to win support for its candidate and its politics, the party organization must strive to educate its membership and to appeal to those with no firm party alligiance."
—Pennock and Smith, *op. cit.*, pp. 339-40.
2. See—"Conclusion : The Impact of Parties, on Political Development" by Myron Weiner and Lapalombara in (selves ed.) *Political Parties Development, (Paper back printing, 1969)* p. 427.

क्षेत्रीय सर्वेक्षणों से पता चलता है कि विकसित देशों का साधारण मतदाता भी सामाजिक मसलों के बारे में काफी अन्धकार में होता है तथा राजनीतिक दल इन मसलों के बारे में मतदाताओं को जानकारी ही नहीं देते, वरन् वे उनके समक्ष निदानात्मक विचार भी रखते हैं। इस दृष्टि से विकसित देशों में भी राजनीतिक शिक्षण का कार्य कम महत्त्व का नहीं होता है।

राजनीतिक दलों के कार्यों के सम्बन्ध में व्यक्त उक्त विचारों के आधार पर संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि दलों के मुख्य कार्यों में चुनाव के लिए उम्मीदवारों का चुनाव, चुनाव सम्बन्धी योजनाओं को कार्यान्वित करना, दलीय स्वामिभक्ति एवं अनुशासन को बनाये रखना तथा प्रचार और दल की राजनीतिक शिक्षा का प्रबन्ध करना सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त उसका कार्य जनता और सरकार के बीच एक ऐसी शृंखला बनकर रहना है, जो जनता की इच्छाओं और राज्य के कार्यों में सामंजस्य बनाये रखे।

दल-प्रणाली के गुण :

राजनीतिक विचारकों ने दल-प्रणाली के महत्त्व और गुणों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। दल-प्रणाली के समर्थकों के अनुसार वह मनुष्य के लिए एक स्वाभाविक वस्तु है। राजनीतिक दृष्टिकोण से दल-प्रणाली जनतन्त्र का मूल है, क्योंकि उस लोकमत के निर्माण में दल-प्रणाली बड़ी सहायक होती है, जिस पर लोकतन्त्र चलता है। दल-प्रणाली के बिना लोकतन्त्री शासन नहीं चल सकता और न उत्तरदायी सरकार का स्वप्न ही पूरा हो सकता है। इस दृष्टि से दल प्रणाली में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं।

जनतन्त्र की सहायता—दल-प्रणाली लोकतन्त्री सरकार की सहायक होती है और अनेक प्रकार से उसे सहायता प्रदान करती है। दल उसका संचालन करते हैं। वे चुनावों में भाग लेते हैं, जिसके परिणामस्वरूप सरकार बनती है। लोकतन्त्र जनता का शासन होता है, किन्तु यदि प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग प्रकार का शासन चाहे, तो यह सम्भव नहीं हो सकता। केवल राजनीतिक दल-प्रणाली के माध्यम से यह सम्भव होता है कि जनता दल के रूप में संगठित होकर शासक बन सके। **लीकॉक** ने कहा है "लोकतन्त्रीय शासन के सिद्धान्त पक्ष से इसका (दल-प्रणाली का) कोई विरोध नहीं है, अपितु इससे वह (लोकतन्त्र शासन) सम्भव होता है, क्योंकि सब व्यक्तियों के लिए पृथक्-पृथक् शासन कर सकना असम्भव है। व्यक्तियों का समूह बहुमत के रूप में एक रह सके तथा सार्वजनिक मामलों का स्थायी और उचित प्रबन्ध कर सके, इसका मार्ग अब केवल यही है कि शासन करने वाले समूह के सदस्य एक-दूसरे से (राजनीतिक दल के रूप में) सहमत होने के लिए सहमत हों। इस कृत्रिम किन्तु अनिवार्य एकता के बिना आधुनिक लोकतन्त्रीय राज्य में अपेक्षित एकमत के स्थान पर व्यक्तिगत मतों की अस्तव्यस्तता ही देखने को रह जाएगी।"[1]

---

1. "Far from being in conflict with the theory of democratic government, it is the only thing which renders the latter feasible. For it is impossible for all the people to rule all the times taken singly. Now the only way

सरकार की दृढ़ता—दल-प्रणाली के कारण सरकार को शक्ति और दृढ़ता प्राप्त होती है। लोकतन्त्र में बहुमत द्वारा सरकार का निर्माण होता है। चूँकि दल के सदस्यों में शासन-सम्बन्धी नीति के विषय में एकता होती है, अत: उससे शासन भी दृढ़ रहता है। यदि जनता का प्रत्येक सदस्य व्यक्तिगत रूप से कार्य करे, तो सरकार स्थायी नहीं रह सकती, क्योंकि उस दशा में सरकार को अपनी शक्ति या निर्बलता का पता ही नहीं चल सकता। अत: यह स्वाभाविक है कि अनिश्चय और अविश्वास के वातावरण में शासन कार्य कठिन हो जाए। दल-प्रणाली इस प्रकार इस कथन के सत्य को प्रकट करती है कि "एकता में शक्ति है" और सरकार को वह शक्ति प्रदान करती है, जिससे संचालन सुगमता और दृढ़ता से हो सके।

जन शिक्षा का साधन—दल-प्रणाली जनता की राजनीतिक शिक्षा का उत्तम साधन होती है। विभिन्न राजनीतिक दल देश की समस्याओं को समाचार पत्रों, भाषणों, लेखों, सभाओं, टेलीविजन एवं रेडियो आदि प्रचार के साधनों द्वारा जनता के सम्मुख रखते हैं और जनता को उन पर अपनी सम्मति प्रदान करने का अवसर देते हैं। इस प्रकार मताधिकार के प्रयोग द्वारा जनता को देश के भाग्य-निर्माण में अपना योग देने का अवसर मिलता है और वह राजनीतिक रूप से शिक्षित होती है। **ब्राइस** ने कहा है, "दल राष्ट्र के मन को क्रियाशील रखते हैं; मतदान से पूर्व प्रत्येक दल में वाद-विवाद का सूत्रपात हो जाता है, जिसके माध्यम से दल समस्याओं को सम्मुख लाते हैं, उनकी परिभाषा करते हैं, उन्हें ऐसे सूत्रों में प्रकट करते हैं, जिससे मनुष्य का मस्तिष्क कुछ बिन्दुओं पर केन्द्रित हो जाता है और ध्यान को एकाग्र करते और आलोचना को निमन्त्रण देते हैं।"[1]

निरकुंशता का नियन्त्रण—दल-प्रणाली निरंकुशता पर अंकुश रखती है तथा सरकार की स्वेच्छाचारिता पर रोक लगाती है जिससे शासन का सन्तुलन बना रहता है। **लॉवेल** के शब्दों में, "दलों के द्वारा जनता को सरकार पर नियन्त्रण लगाने का अवसर मिलता है। एक स्वीकृत विरोधी दल की स्थायी उपस्थिति से निरंकुशता के मार्ग में बाधा पड़ती है। ऐसे विरोधी दल का स्थायी अस्तित्व, जिसके पास पर्याप्त लोकमत पर आधारित कोई योजना हो, स्वेच्छाचारी राजा के अत्याचार के विरुद्ध ही नहीं, किसी व्यावहारिक

---

continue from last page

in which any particular set of people can remain together as a majority and thus render possible and consistent administration of public affairs, is that the members of the ruling group shall agree to agree, with one another. A modern democratic state without this some-what artifical and yet essential unanimity would become a brawling chaos of individual opionions." —Leacock : *Elements of Politics,* p. 313.

1. "The parties keep a nation's mind active .... discussion within each party culminating before election in the adoption of a platform, brings certain issues to the front, defines them, expresses them in formulas which .... fix men's mind on certain poins, concentrating and inviting criticisms ...."

Bryce : *Modern Democracies,* Vol. I, pp. 134-135.

राजनीतिक बहुमत के अत्याचार के विरुद्ध भी एक ढाल का काम करता है।''[1] निरंकुशता के परिणामस्वरूप विद्रोह भी होते हैं, किन्तु विरोधी दल की सत्ता विद्रोह से भी देश को बचाती है, क्योंकि यदि सरकार के विरुद्ध जनता में अविश्वास फैल जाता है तो विरोधी दल दूसरी सरकार बनाने के लिए तैयार रहता है। इसका परिणाम यह भी होता है कि सत्तारूढ़ दल की सरकार की कार्यकुशलता बढ़ जाती है और वह सोच-समझकर शासन का संचालन करती है अन्यथा उसे भय रहता है कि उसे जनता की आलोचना सुननी पड़ेगी और दूसरा दल सत्तारूढ़ हो जाएगा।

जनमत संगठन—जनतन्त्र बहुमत का शासन माना जाता है। परन्तु बहुमत का निर्माण कैसे हो? अधिकांश सदस्यों का विचार प्रवाह एक बिन्दु पर कैसे केन्द्रित किया जाए? भिन्न-भिन्न मतों को एक रूप कैसे दिया जाए? ये कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिसका उत्तर दिया जाना बहुमत के निर्धारणार्थ अत्यन्त आवश्यक होता है। राजनीतिक दल जनसाधारण के विचारार्थ कुछ मसले प्रस्तुत करते हैं, संगठनात्मक इकाइयों के माध्यम से उन्हें प्रसारित करते हैं और जनता से पक्ष या विपक्ष में राय प्रकट करने का आग्रह करते हैं। किसी भी मसले पर जनमत प्राय: केवल 'हाँ' या 'ना' में स्वयंमेव प्रकट नहीं होता। अत: राजनीतिक दलों के प्रयासों से विचारों के परस्पर आदान-प्रदान के कारण विविध विचारों का सामंजस्य और जनमत का संगठन व प्रकाशन हो जाता है। ईस्टन आदि कुछ विद्वान जनमत के संगठन की दृष्टि से राजनीतिक दलों के कार्य को बड़ा महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा उनका मत है कि इससे निर्णय तीव्रतर व स्पष्टतर होते हैं। पर दूसरी ओर जी. सार्तोरी का कथन है कि राजनीतिक दल वैचारिक सामंजस्य और समझौते के लिए जो कुछ करते हैं उससे निर्णय लेने व उन्हें क्रियान्वित करने में कठिनाई होती है। उसके अनुसार ''(सामंजस्य का) केन्द्र नकारात्मक मिलन बिन्दु होता है। यह प्रेरणा-अभिकरण न होकर परित्यक्तों का समूह मात्र होता है तथा इस कारण केवल एक निष्क्रिय, गतिहीन तथा जड़ समूह जैसा होता है। केन्द्र कभी-कभी आगे पीछे हो सकता है, परन्तु यह तभी होता है जब दल के अन्दर वामपंथी व दक्षिणपंथी तत्त्वों के सन्तुलन में परिवर्तन हो।''[2] सार्तोरी द्वारा प्रतिपादित

---

1. "The parties enable the people to hold the government in check. The constant presence of a recognised opposition is an obstacle to despotism. The existence of party of opposition with a programme fairly within the limits of a possible public opinion is a bulwark against the tyranny, not only of a despot, but also of pratical political majority."
—Lowell : *Public Opinion and Popular Government,* pp. 96-97.
2. "................... The centre is more a negative convergence, a sum of exclusions than a positive agency of instigation. And this is why it is likely to be a passive, rather inert and—all in all—immobile kind of aggregation. Of course the centre will move if the balance between its right and left should shift."
—Giovanni Sartori : "European Political Parties" in La Palonpara and Myron Winer (ed.) *Political Parties and Political Development,* pp. 164-165.

उक्त तथ्य भारतीय काँग्रेस के विषय में भी बहुत हद तक सत्य कहा जा सकता है क्योंकि वामपंथी दबाव के कारण यद्यपि उसने भूमि-सुधार, बैंक राष्ट्रीयकरण, खाद्यान्न के थोक व्यापार के राष्ट्रीयकरण आदि जैसे कदम उठाए, पर विपरीत दबावों से समझौता करने तथा दल की नीति को सामंजस्यपूर्ण बनाये जाने के प्रयासों के बीच वे सब कदम लेशमात्र भी प्रभावी नहीं हो पाए। इस प्रकार जनमत संगठन दल-व्यवस्था का अनूठा गुण है, परन्तु एक सीमा से परे वैचारिक सामंजस्य का परिणाम यथास्थितिवाद ही होता है।

अनुशासन—दल-प्रणाली संगठन पर आधारित होती है और संगठन अनुशासन पर। कोई दल सत्तारूढ़ हो अथवा विरोधी खेमे में, उसे अपनी नीतियों का प्रचार अनुशासनबद्ध व एक स्वर में करना पड़ता है, तभी जनता में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ सकती है। परन्तु दल अपने अन्दर ही संगठनात्मक अनुशासन के लिए सक्रिय नहीं होते अपितु अन्तर-दलीय व्यवहार में भी सीमाओं तथा कतिपय नियमों के परिपालन का प्रयास करते हैं। इनके उल्लंघन का अर्थ अराजकता, जनतन्त्र का पराभव और राष्ट्र का विघटन कुछ भी हो सकता है। अतः अन्तरदलीय व्यवहार में भी अनुशासन आवश्यक हो जाता है। दलीय अनुशासन के कारण राष्ट्रीय अनुशासन भी सम्भव हो जाता है। वस्तुतः दल संगठित अभिव्यक्ति के माध्यम है, जिनके द्वारा नागरिक अपनी माँगों एवं आवश्यकताओं के बारे में शासन को सूचित करते हैं। प्रायः देखा गया है कि विप्लव, क्रान्तियों या अन्य प्रकार से राजकीय उथल-पुथल वहाँ अधिक होती है, जहाँ दल व्यवस्था अशक्त होती है या होती ही नहीं है। ऐसा अफ्रीका या एशिया के नवोदित राष्ट्रों में अधिक हुआ, क्योंकि वहाँ या तो राजनीतिक दल थे ही नहीं अथवा थे तो वे केवल-दल थे दूसरी ओर पश्चिम के विकसित राष्ट्रों में राजनीतिक उथल-पुथल या अस्थिरता नहीं है क्योंकि वहाँ दलों के कारण जनता का महत्त्व अधिक रहता है और राष्ट्र व शासन के सभी स्तरों पर अपेक्षाकृत अधिक अनुशासन देखने को मिलता है। भारत में पाकिस्तान जैसी राजनीतिक उथल-पुथल नहीं होने पाई है, तो वह इसी कारण है कि पाकिस्तान की तुलना में भारत की दल व्यवस्था कुछ अधिक परिपक्व है।

राष्ट्रीय एकता का निर्माण—राष्ट्रीय अनुशासन से राष्ट्रीय एकता में अभिवृद्धि होती है, यह एक स्वयंमेव प्रकट सत्य है। वस्तुतः राजनीति दलों के कारण जनमत संगठन के जो प्रयास किये जाते हैं, जनता में जो वैचारिक सामजंस्य और सौहार्द्र बढ़ता है और जनमत की संगठनात्मक अभिव्यक्ति का जो उपक्रम होता है, वह राष्ट्रीय एकता की वृद्धि लाने में बड़ा सहायक होता है। वस्तुतः राजनीतिक दल सदैव जनता के बहुमत का समर्थन पाने के लिए सक्रिय रहते हैं। संकुचित मसलों को उठाकर कोई दल व्यापक जन समर्थन की उपेक्षा नहीं कर सकता है। अतः राजनीतिक दल सदैव व्यापक एवं राष्ट्रीय मसलों को उठाते हैं जिससे राष्ट्रीय एकता को बल मिलता है। राष्ट्रीय एकता के लिये हानिकारक नीति पर कोई दल नहीं चल सकता। इसके उदाहरणस्वरूप भारत के संदर्भ में हम दक्षिण भारत के कुछ दलों की भाषायी नीति के परिवर्तन को ले सकते हैं। वे हिन्दी के सार्वभौग प्रयोग के प्रति पहले बड़े विरोधी थे। पर जब उन्होंने यह देखा कि भाषायी विवाद राष्ट्रीय एकता में दरार का काफी बड़ा कारण बन सकता है, तो इस संबंध में उन्होंने अपनी नीति बदली

तथा यह मानना पड़ा कि हिन्दी का प्रसार हो, पर वह इस ढंग से हो कि दक्षिण भारत के लोग उन पर इस बलात् थोपना न मानें। जिस देश में राजनीतिक दल प्रदेशीय हितों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं, उसकी राष्ट्रीय एकता के छिन्न-भिन्न होने का भय रहता है। 1971 में पाकिस्तान के विभाजन का महत्त्वपूर्ण कारण यही रहा कि वहाँ के दो प्रमुख दल पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी और आवामी लीग व्यापक राष्ट्रीय हितों को उचित महत्त्वपूर्ण देने में असमर्थ रहे।

दल-प्रणाली के दोष

दल-प्रणाली में जहाँ अनेक गुण हैं, वहाँ कुछ दोष भी हैं। अत: उसकी प्रशंसा और आलोचना साथ-साथ की गई है। कुछ राजनीतिक विचारकों के अनुसार तो दल-प्रणाली और लोकतन्त्र जिससे उसका घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है, दोनों ही हानिकारक हैं। एलेग्जैण्डर पोप ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जिस समाज में दलों का अस्तित्व है, वहाँ सच्ची सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती।

दल-प्रथा में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं:

राष्ट्रीय हितों की हानि—दलबन्दी में पड़ कर जनता राष्ट्रहित को भूल जाती है। अत्यधिक विचार-संकुचितता के कारण राष्ट्रीयता की उपेक्षा होने लगती है और दल व्यक्तिगत या दलगत हितों के साधनमात्र बन जाते हैं। चुनाव में विजय प्राप्त करने की लालसा मनुष्यों को इस पर तैयार कर देती है कि वे संकीर्ण दायरे के मसले उठाएँ और देश के हितों पर कुठाराघात कर दें। दलबन्दी के दलदल के कारण समस्याओं का रूप राष्ट्रीय न होकर व्यक्तिगत अथवा दलगत हो जाता है। प्राय: शासन-सम्बन्धी नीतियों और योजनाओं का निर्माण, दलहित की दृष्टि से होता है। इस प्रकार वह दल-प्रणाली जिसे देश के हितों की अभिव्यक्ति का साधन बताया जाता है, दलीय हितों की वेदी पर उनके बलिदान का कारण बन जाती है। मैरियेट ने कहा है, "दल-भक्ति के आधिक्य से देश-भक्ति की आवश्यकताओं पर पर्दा पड़ सकता है। मत प्राप्त करने के धन्धे पर अत्यधिक ध्यान देने से दलों के नेता और उनके प्रबन्धक देश की उच्चतम आवश्यकताओं को भूल सकते हैं।"[1]

व्यक्ति की वैयक्तिकता का ह्रास व स्वल्पाधिपत्य का उदय—दल-प्रणाली में व्यक्ति की वैयक्तिकता नष्ट हो जाती है। दल के सदस्य होने के नाते व्यक्ति को दल के ध्येयों, साधनों, नीतियों, योजनाओं एवं कार्यक्रमों को अनिवार्यत: मानना पड़ता है, चाहे वह उन्हें चाहे या न चाहे और वे उसे उचित लगें या न लगें। दल-प्रणाली में व्यक्तिगत

---

1. "Party allegiance, if carried to excess, may easily obscure the claims of patriotism. Concertration upon the business of vote-catching may tempt party leaders and party managers to ignore or to postpone the higher call of country."
—Marriot : *The Mechanism of the Modern State*, Vol. II. p. 431.

धारणाओं एवं व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के लिए बहुत कम अवसर होता है। दल के यन्त्र में वह चक्र का एक भाग होकर रह जाता है, जो दल के पहिए के साथ ही चल सकता है, स्वयं नहीं। **लीकॉक** ने कहा है, "व्यक्तिगत निर्णय दल के ढाँचे में निष्प्रभ होता है। दल-प्रणाली के आलोचकों को इस प्रकार की सहमति मिथ्या और हानिकारक प्रतीत होती है। वह उसी व्यक्तिगत विचार और कार्य सम्बन्धी स्वतन्त्रता का दमन करती है, जिसे लोकतन्त्रात्मक सरकार का आधारभूत सिद्धान्त समझा जाता है।"[1] वस्तुत: वैयक्तिक निर्णय की उपेक्षा इस सीमा तक होती है कि कतिपय विद्वान इस प्रवृत्ति को गुटतन्त्रीय प्रवृत्ति का पोषक मानते हैं। इस संदर्भ में **रोबर्ट माइकेल्स** का 'अभेद्य नियम' (The Iron Law of Oligarchy) प्रसिद्ध है। माइकेल्स का कहना है कि निर्णयों में दल के नेताओं द्वारा सामान्य सदस्यों की सदैव उपेक्षा की जाती है।"

सर्वोत्तम व्यक्तियों की उपेक्षा—दल-प्रणाली के कारण सर्वोत्तम व्यक्तियों की सेवा से देश वंचित रह जाता है। राजनीतिक दल चुनाव के लिए सदैव उन व्यक्तियों को चुनते हैं जो दलीय राजनीति के प्रति अंधसमर्थन की भावना रखते हैं, दल के नेताओं की हाँ में हाँ मिलाते हैं और उनकी आज्ञा का आँख मींच कर पालन करते हैं। साधारणत: सर्वोत्तम और योग्य व्यक्ति अंध समर्थ नहीं कर सकते न वे विचार और कार्य सम्बन्धी अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को ही छोड़ सकते हैं और न वे दलीय अनुशासन बन्धन से अन्धे होकर बँध सकते हैं। अत: राजनीतिक दलों की ओर से कभी भी सर्वोत्तम व्यक्ति नहीं चुने जाते। परिणाम यह होता है कि योग्य व्यक्तियों की उपेक्षा होती है तथा अवांछनीय व्यक्तियों को शासन के ढांचे में स्थान मिल जाता है। इससे न केवल शासन का स्तर ही गिरता है बल्कि सम्पूर्ण समाज में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न हो जाता है। साल्सबरी के शब्दों में "दलीय अनुशासन एक बड़े उद्देश्य का साधन है, किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों तथा कुछ विशिष्ट नेतृत्व में यह उसी ध्येय पर कुठाराघात भी कर सकता है, जो इसका लक्ष्य है। इस बड़े उद्देश्य को हटा दो, तो दल पदों की प्राप्ति तथा उनकी सुरक्षा के लिए ज्वाइंट स्टॉक कम्पनियाँ बन कर रह जायेंगे।"[2]

---

1. "The individual judgment (remains) frozen tight in the shape of party mould. This kind of unanimity seems to its critics false and injurios, it suppresses that freedom of individual opinion and action which is meant to be the vital principal of democratic government."

—Leacock : *Elements of Polities,* p. 322.

2. "Party-discipline is a means to a great end, but in some emergencies and under some leaders it may be made to frustrate the end at which it aims .... Take this great and away and parties become nothing but joint stock companies for the attainment and preservation of offices."

—Marquis of Salisbury, Quoted by Ilyas Ahmed : *The Machinery of Government,* p. 387.

राजनीति में अनीति—दल-प्रणाली राजनीति को दूषित कर देती है और समाज के नैतिक स्तर को नीचे गिरा देती है। शक्ति, पद, मान और धन की प्राप्ति के लिए दल निम्न से निम्न अनैतिक कार्य करते हैं। अपनी उन्नति के लिए वह सत्य का गला घोंट देते हैं तथा असत्य को अपना लेते हैं। वे भोली-भाली अशिक्षित जनता को धोखा देकर, झूठे वचन देकर, उनके वोट प्राप्त करते हैं। वे व्यक्तिगत लाभ के लिये तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर जनता के सम्मुख रखते हैं। इस प्रकार दल प्रणाली समाज को नैतिक पतन की ओर उन्मुख करती है।

मतभेदों को प्रोत्साहन—एक ओर तो विधान-सभा में शासक तथा विरोधी दलों का मतभेद प्रारम्भ हो जाता है तथा आलोचना-प्रत्यालोचना होने लगती है, दूसरी ओर देश भी कम से कम निर्वाचन के समय में ऐसे दो विरोधी पक्षों में विभक्त हो जाता है जो एक-दूसरे से ईर्ष्या करते हैं, परस्पर आक्षेप लगाते हैं, और लड़ते हैं। ब्राइस ने कहा है, "दल केवल विधान सभा में ही विभाजन नहीं करता, बल्कि देश को भी दो द्वेषपूर्ण पक्षों में बाँट देता है और विदेशों में देश का विभक्त रूप प्रस्तुत कर देता है। सामान्य देश-भक्ति के स्थान पर यह द्वेष और ईर्ष्या को जन्म देता है, मनुष्यों के मस्तिष्क को पक्षपातपूर्ण बना देता है, जिसके कारण एक पक्ष दूसरे पक्ष के प्रस्तावों को संदिग्ध दृष्टि से देखता है, गुणों के आधार पर प्रत्येक समस्या का सही मूल्यांकन नहीं होने देता है, प्रतिनिधियों को दास बनाता है, और सम्पूर्ण दल में स्वतन्त्र चिन्तन को हतोत्साहित करता है।"[1]

खोखलापन—दल के सदस्यों का मतैक्य तथा मामलों में उनकी एकता कृत्रिम और अवास्तविक होती है। परिणामस्वरूप दल में खोखलापन और अस्थायीपन आ जाता है। बहुधा सदस्य एक दल को छोड़कर दूसरे में सम्मिलित हो जाते हैं। दल प्राय: अपनी संख्या बढ़ाने में विश्वास रखते हैं, चाहे उस संख्या बढ़ाने के उपक्रम में गुण का बलिदान भले ही हो जाये। झूँठे वचनों और निर्वाचन-नारों से यह खोखलापन और भी बढ़ जाता है, जो दल में नीति निर्माण और विचारपूर्ण नियोजन के अभाव को प्रदर्शित करता है। कुछ लोगों ने इसलिए इस व्यवस्था को "संगठित मक्कारी" की संज्ञा दी है। 1967 के चुनावों के बाद भारत में जो व्यापक दल-बदल चला, वह इसका प्रतीक है।

हितकर कानूनों का अभाव—चूँकि विधान सभा में एक दल का बहुमत होता है और दूसरा विरोधी दल होता है, अत: बहुमत दल के सदस्य प्रत्येक कानून का पक्ष लेते हैं और विरोधी दल उसका विरोध करते हैं। किसी कानून पर निष्पक्ष विचार-विनिमय प्राय:

---

1. "Party divides not only the legislature but nation into hostile camps and presents it to foreign states as so divided. It substitutes passion and bitterness for a common patriotism : prejudices men's mind's makes each side suspect the proposals of the other, prevents a fair consideration of each issue upon its merits enslaves representatives and discourages independent thought in the party as a whole."

   —Bryce : *Modern Democracies,* Vol. I. p. 133.

असम्भव हो जाता है। प्रत्येक दल कानून को इस रूप में देखता है कि उससे उसके व्यक्तिगत हित की साधना कहाँ तक होगी। फल यह होता है कि उपयोगी और हितकारी कानूनों का निर्माण नहीं होने पाता।

यद्यपि दलबन्दी के दोष स्पष्ट और गम्भीर हैं फिर भी लोकतन्त्र के लिए यह अनिवार्य है। लोकतन्त्र के फूल में यह काँटे के समान है, जिसे हमें सहना ही पड़ता है, क्योंकि लोकतन्त्र की सफलता इसी पर निर्भर है। हाँ, आवश्यक है कि लोकतन्त्र के सफल संचालन के लिए इसके इन दोषों को दूर किया जाये। इसका मुख्य उपाय यह है कि नागरिकों पर दलों का नियन्त्रण न होकर दलों पर नागरिकों का नियन्त्रण रहे। इसके लिए यह आवश्यक है कि नागरिक शिक्षित और जागरूक हों, उनमें विवेक सम्मत निर्णय लेने की योग्यता हो चारित्रिक दृढ़ता हो।

दल प्रणालियों का वर्गीकरण

विश्व के विविध देशों में हम अनेक प्रकार की दल प्रणालियाँ देखते हैं। राजनीति विज्ञान के विचारक विश्व में पाई जाने वाली विविध दल प्रणालियों को वर्गीकृत करने का प्रयास करते आये हैं। राजनीतिक दलों से संबंधित प्रस्तुत विवेचन में यह देखना भी उपयोगी होगा कि विविध दल प्रणालियों का वर्गीकरण किस प्रकार किया जा सकता है तथा उनके कौन-कौन से मुख्य प्रकार हैं।

दल प्रणालियों के वर्गीकरण के आधार

साधारणत: प्रत्येक देश में जहाँ राजनीतिक दल सक्रिय हों, कालक्रम से दलों के स्वरूप, उनकी संख्या, उनकी कार्यप्रणाली व उसके पारस्परिक व्यवहार की पद्धति में कुछ सामान्य लक्षण आ जाते हैं तथा इस प्रकार के सामान्य लक्षणों के परिणामस्वरूप विभिन्न दलों एवं उनके घटकों के मध्य कुछ ऐसे सम्बन्धों का विकास हो जाता है, जो अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं। इस प्रकार के लक्षणों के आधार पर राजनीति विज्ञान के अध्येता यह अध्ययन करते हैं कि किसी देश की दल प्रणाली कहाँ तक विकसित हो पाई है तथा उसके विकास का स्वरूप क्या है? उदाहरणार्थ, प्राय: दलों की संख्या की दृष्टि से दलीय ढांचे की जो स्थिति होती है, उसके आधार पर उस व्यवस्था को वे एक-दलीय प्रणाली कहते हैं, जिसमें एक राजनीतिक दल होता है। इसी प्रकार से जिस व्यवस्था में दो दल होते हैं उसे द्विदल प्रणाली और जिसमें दो से अधिक दल होते है, उसे वे बहुदल प्रणाली कहते हैं। निर्वाचन व्यवस्था के कारण लोकतन्त्र के क्रियान्वयन में राजनीतिक दलों का उदय जिस प्रकार होता है तथा उनके बिना उसका क्रियान्वयन जिस प्रकार सम्भव नहीं होता, उसके आधार पर अधिकांश विद्वान यह मानते हैं कि जनतन्त्र में दो या अधिक दलों का होना आवश्यक होता है तथा जिस राजनीतिक दल प्रणाली में एक दल का प्राधान्य होता है, वहाँ शासन प्राय: अधिनायकतन्त्रीय हो जाता है।

परन्तु नामों के आधार पर दलों की संख्या को देखकर किसी देश की दल प्रणाली के स्वरूप निर्धारण के प्रयासों को जाँ ब्लोंडेल (Jean Blondel) ने अधूरा प्रयास कहा है। उसके अनुसार नामों की संख्या के आधार पर दल प्रणाली के स्वरूप एवं प्रकृति का निर्धारण नहीं किया जा सकता। दल प्रणाली के वास्तविक स्वरूप, उसकी प्रकृति, उसके विकास की स्थिति आदि को देखने के लिए इन बातों से उत्पन्न दलों के पारस्परिक सम्बन्धों (Patterned relationsship) आदि को देखने के लिए उसके अनुसार कुछ और बातें भी देखी जानी चाहिए जो निम्न प्रकार हैं:

(1) उसके मतानुसार दलों की संख्या निश्चित ही सुग्राह्य और सहज दृश्य तत्त्व होता है। पर संख्या के अतिरिक्त दलों की स्थिति को कुछ और अधिक सूक्ष्मता से देखी जानी चाहिए जिससे यह पता लग सके कि वे दल नाम के अतिरिक्त क्रियाकलाप की दृष्टि से गण्य हैं और यदि वे गण्य हैं तो देश की राजनीति में उसकी भूमिका का महत्त्व क्या है ?

(2) दल प्रणाली के स्वरूप निर्धारण में दलों की शक्ति भी देखी जानी चाहिए। ऐसा सम्भव है कि किन्हीं दो देशों में चार दल हों। पर एक देश में यदि चारों दलों की शक्ति बराबर हो सकती है, तो दूसरे देश में एक ही दल की शक्ति शेष तीन दलों की शक्ति के बराबर हो सकती है। दलों की शक्ति का माप क्या हो, इस सम्बन्ध में ब्लौण्डेल का मत है कि इसके लिए हम दल की सदस्य संख्या मतदान प्रतिशत और व्यवस्थापिका में उसे प्राप्त स्थानों की संख्या को आधार बना सकते हैं, यद्यपि मतदान में प्राप्त मतों को आधार बनाने पर वह अधिक बल देता है, क्योंकि इस प्रकार उसके मतानुसार वस्तुस्थिति के अधिक निकट पहुँचा जा सकता है।

(3) दल प्रणाली के स्वरूप निर्धारण में दलों की विचारधारा से सम्बन्धित अन्तरों का भी अध्ययन होना चाहिए जिससे यह देखा जा सके कि विविध दलों में प्रमुख बातों तथा गौण बातों पर कहाँ तक मतैक्य अथवा मत विभिन्नता है। ऐसे अध्ययन से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जिस दल प्रणाली में प्रमुख दल प्रमुख मसलों पर सहमत होंगे, वह दल प्रणाली उस दल प्रणाली से भिन्न होगी जिसमें प्रमुख दलों में प्रमुख मसलों के बारे में गहरे मतभेद पाये जायें। हम प्राय: देखते हैं कि अनेक देशों में प्रमुख दल मुख्य बातों पर एक मत तथा अनेक छोटी-छोटी बातों पर विभिन्न मत के होते हैं तथा जहाँ ऐसी स्थिति होती है। वहाँ दलों के सम्बन्ध वैसे नहीं होते, जैसे वे वहाँ होते हैं, जहाँ प्रमुख दलों में मुख्य बातों पर ही गहरे मतभेद होते हैं। प्रमुख मसलों पर सहमति पूर्ण दलीय व्यवस्था अपेक्षाकृत स्थायी होती है, जबकि उनके सम्बन्ध में मतभेद पूर्ण दलीय व्यवस्था प्राय: अस्थायी व संकमणकालीन होती है।

(4) दलों के समर्थन का क्या आधार है, यह एक अन्य तत्त्व है, जिसे दल प्रणाली के स्वरूप के विश्लेषण करते समय ध्यान में रखा जाना चाहिए। परन्तु समर्थन के

आधार इतने विविध, अप्रत्यक्ष एवं पेचीदे होते हैं कि उन सबको तथा उनके आधार पर दलों को श्रेणीबद्ध करना कठिन कार्य है।

(5) दलों के संगठनों का विश्लेषण यद्यपि दुष्कर होता है, फिर भी दल प्रणाली के स्वरूप निर्धारण के लिये उनके विश्लेपण को भी एक आधार बनाया जाना चाहिए। किसी दल का संगठन कितना केन्द्रित है, दल कितना अनुशासित है और उसकी आन्तरिक कार्यप्रणाली कितनी लोकतान्त्रिक है, इन आधारों पर दलीय संगठनों का विश्लेषण करके भी किसी देश की दल प्रणाली के रूप का निर्धारण किया जा सकता है।

उक्त पाँचों तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए ब्लोंडेल ने विश्व के अधिकांश देशों में प्रचलित दल प्रणालियों का अध्ययन किया है और उनके आधार पर विभिन्न देशों को श्रेणीबद्ध करने का प्रयास किया। इस हेतु उसने बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक (1960-1969) के उत्तरार्ध में विश्व के 138 देशों की दल प्रणालियों से सम्बन्धित जानकारी को आधार बनाया तथा उस आधार पर उसने कुछ निष्कर्ष निकाले और विभिन्न देशों की दल प्रणालियों को श्रेणीबद्ध करने का प्रयास किया। जिन विविध श्रेणियों में उसने विविध क्षेत्रों के देशों की दल प्रणालियों को श्रेणीबद्ध किया है तथा जिन देशों में जो विविध प्रकार की दल प्रणालियाँ पाई गई, उन्हें हम आगे की तालिका से देख सकते हैं।

आगे की तालिका या ऐसी कोई भी अन्य तालिका पूर्णतः शुद्ध नहीं कही जा सकती है, क्योंकि जैसा स्वयं ब्लोंडेन ने कहा है कि कठिनाई इस बात में होती है कि दल और गुट में अन्तर कैसे किया जाये। कई दल ऐसे होते हैं जिनका नामकरण दल या पार्टी के रूप में होता है, पर वास्तव में वे सत्तारूढ़ राजा अथवा सैनिक तानाशाह द्वारा जनता को भ्रम में डालने के लिये बनाये गए गुट या अनौपचारिक गठबन्धन मात्र होते हैं, उदाहरणार्थ, मोरक्को, कम्बोडिया तथा दक्षिणी वियतनाम ऐसे देश रहे हैं, जहाँ केवल नाम के राजनीतिक दल रहे हैं, क्योंकि उनके अस्तित्व में वहाँ के तानाशाहों की शक्ति में कोई अन्तर नहीं आया। राजनीतिक दल व गुट के अन्तर की समस्या द्विदलीय एवं बहुदलीय व्यवस्थाओं के वर्गीकरण में भी आती है तथा गुटों को गिनती में लेकर जो प्रणाली बहुदलीय प्रणाली हो सकती है, विशुद्ध व प्रमुख राजनीतिक दलों को ही गिनकर वह केवल एक या दो दल की प्रणाली ही हो सकती है। वस्तुतः असली समस्या यह है कि दल व्यवस्था के मूल्यांकन में वैधिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया जाये अथवा व्यावहारिक पक्ष को, क्योंकि किसी दल का प्रभाव उसकी संख्या के अनुपात में हो यह आवश्यक नहीं है। मतदान में प्राप्त मतों का प्रतिशत भी दलों की शक्ति आँकने के लिये उपयोगी समझा गया है। परन्तु उसके प्रयोग के परिणाम शुद्ध नहीं होते, क्योंकि भारत जैसे उन देशों में जहाँ सामान्य बहुमत वाली निर्वाचन पद्धति प्रचलित है, उसके प्रयोग से दलों की शक्ति की वस्तुस्थिति का सही पता नहीं चलता। इसके अतिरिक्त ऐसी तालिकायें सदा शुद्ध नहीं रह सकती, क्योंकि कालान्तर में विविध देशों

की राजनीतिक दल प्रणाली में परिवर्तन आते जाते हैं। उदाहरणार्थ, हम पाकिस्तान को ले सकते हैं जहाँ अयूब कृत पाकिस्तान के मुस्लिम लीग जैसे नाम मात्र दल के स्थान पर भुट्टो के नेतृत्व में पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी जैसे अधिक सशक्त दल का अस्तित्व हो गया। इसी प्रकार लीबिया में भी गदाफी के नेतृत्व में वामपंथी शक्तियों का उदय हुआ, जिन्होंने राजशाही को उखाड़ फेंका।

तालिका
विश्व के प्रमुख क्षेत्र और दल प्रणालियों के प्रकार

प्रमुख भौगोलिग क्षेत्र	दलहीन दल प्रणाली वाले देश	एक दलीय दल प्रणाली वाले देश	द्वि दलीय दल प्रणाली वाले देश	ढाई दलीय दल प्रणाली वाले देश	एक दलीय प्रधान बह दलीय प्रणाल। वाले देश	बहुदलीय दल प्रणाली वाले देश	योग
अतलांतिक	1	2	6	5	5	4	23
पूर्वी यूरोप व उत्तर एशिया	—	13	—	—	—	—	13
दक्षिण व दक्षिण पूर्व एशिया	9	3	1	5	1	—	19
सहारा के दक्षिण का अफ्रीका	9	20	5	4	—	—	38
मध्य पूर्व	10	6	1	2	1	1	21
लातिन अमरीका	2	5	8	3	4	2	24
योग	31	49	21	19	11	7	138

इन सीमाओं के होते हुए भी तालिका से कुछ प्रवृत्तियाँ स्पष्ट देखी जा सकती हैं। उसके अनुसार विश्व के 31 (22.5 प्रतिशत) देशों में राजनीतिक दलों का अस्तित्व ही नहीं है। अन्य 49 (35.5 प्रतिशत) देशों में केवल एक-दल प्रणाली है, जिसका अर्थ यह है कि विश्व के 58 प्रतिशत देशों में राजनीतिक प्रतियोगिता का अभाव है तथा यदि हम पश्चिमी विचारकों के मत को स्वीकार करें तो इसका तात्पर्य यह होगा कि वहाँ

लोकतांत्रिक व्यवस्था का भी अभाव है, क्योंकि पश्चिमी विचारधारा के अनुसार राजनीतिक प्रतियोगिता के बिना लोकतन्त्र सम्भव नहीं हो सकता। यह तर्क दोषहीन नहीं है। परन्तु इतना सत्य है कि इन 58 प्रतिशत में से अधिकांश देशों में तानाशाही प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दृष्टिगत होती हैं। एक अन्य तथ्य यह भी स्पष्ट दिखाई देता है कि विश्व के अलग-अलग क्षेत्रों में विविध प्रकार की दल प्रणलियाँ लोकप्रिय हैं। उदाहरणार्थ, एक से अधिक दलों वाली दल प्रणालियाँ अतलांतिक क्षेत्र और लातिन अमरीका के देशों में अधिक लोकप्रिय हैं। दूसरी ओर दलहीन या एकदल वाली दल प्रणाली अफ्रीका तथा अरब देशों समेत मध्यपूर्व के देशों में अधिक प्रचलित हैं। जैसा ब्लोंडेन ने सुझाया है, इस विभिन्नता का कारण विविध देशों व क्षेत्रों में पाई जाने वाली राजनीतिक चेतना के स्तर तथा लोकतन्त्र के विकास की स्थिति की विभिन्नता है। उदाहरणार्थ, लातिन अमरीका और अतलांतिक क्षेत्र के देशों में, जिनमें ब्रिटेन, फ्रांस, स्वीडन, संयुक्त राज्य अमरीका आदि शामिल हैं, राजनीतिक जागृति तथा लोकतन्त्र के अस्तित्व का इतिहास अठाहरवीं, उन्नीसवीं या कम से कम बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण से चलता आ रहा है। अतः वहाँ यह स्वाभाविक है कि राजनीतिक प्रतियोगिता अधिक विकसित हो तथा वह वहाँ की दल प्रणाली के रूप में स्पष्ट दिखाई दे। दूसरी ओर अफ्रीका व एशिया के अधिकांश राष्ट्र कुछ समय पूर्व ही स्वतन्त्र हुए हैं। फलतः वहाँ राजनीतिक प्रतियोगिता राजनीतिक दलों के रूप में विकसित नहीं हो पाई है। इस सामान्यीकरण के कुछ अपवाद हो सकते हैं, जैसे स्पेन व पुर्तगाल जहाँ का राजनीतिक स्वतन्त्रता का इतिहास यद्यपि प्रायः फ्रांस या जर्मनी जितना ही पुराना है, तथापि वहाँ द्विदलीय या बहुदलीय प्रणालियों में से कोई भी प्रणाली नहीं पनप पाई है। दूसरी ओर श्रीलंका, भारत, बर्मा व पाकिस्तान के विषय में हमें दूसरे प्रकार की स्थिति मिलती है, क्योंकि ये चारों देश यद्यपि प्रायः साथ ही साथ स्वतन्त्र हुए थे, तथापि पहले दो देशों में ही दल प्रणाली अपेक्षाकृत सुस्थिर हो पाई है। दलहीन या एक दलीय दल प्रणाली के विषय में हमें वस्तुतः यह ध्यान में रखना चाहिये कि वह कहीं भी स्थायी न होकर अस्थायी तथा संक्रमणकालीन ही हो सकती है। जन जागृति के साथ यह आवश्यक हो जाता है कि शासन वर्ग लोकप्रियता व लोक समर्थन प्राप्त करे। यह चूँकि राजनीतिक दलों के संगठन के माध्यम से ही सम्भव होता है, कालांतर में सत्तारूढ़ शासन के समर्थन एवं विरोध में अनेक दल अस्तित्व में आ जाते हैं तथा इस प्रकार द्विदलीय या बहुदलीय दल प्रणाली के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार हो जाता है।

दल प्रणालियों के प्रकार

उपर्युक्त तालिका में दल प्रणालियों को दलों की संख्या के आधार पर छः प्रकारों में बाँटा गया है। विवेचन की सुविधा के लिए इन्हें केवल चार भागों में बाँटा जा सकता है तथा ऐसा करने से दल प्रणाली के विवेचन सम्बन्धी रूपरेखा में कोई विशेष अन्तर नहीं आ सकता। प्रथमतः हम दलहीन एवं एकदलीय प्रणाली को एक कर सकते हैं, क्योंकि दुनिया में बहुत कम ऐसे देश हैं, जिनमें नाम मात्र के दल भी न हों तथा जहाँ दल केवल नाम मात्र के हैं, उन देशों को हम दलहीन या एक दलीय दल प्रणाली किसी भी प्रकार में

रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त दलहीन व एकदलीय दोनों ही प्रणालियों में मौलिक रूप से दलों की प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर दलों के कार्यों (Performance) को अधिक महत्त्व दिया जाता है। अत: इस दृष्टि से भी दोनों प्रकार की दल प्रणालियों को एक किया जा सकता है। ब्लौण्डेल द्वारा प्रतिपादित ढ़ाई दल प्रणाली की स्थिति भी ऐसी ही है तथा उसे भी बहुदलीय प्रणाली या द्विदलीय प्रणाली से अलग कर पाना आसान नहीं हो सकता। श्री लंका में हम देख सकते हैं कि वहाँ यूनाइटेड नेशनल पार्टी और श्री लंका फ्रीडम पार्टी दो बड़े दल हैं। दोनों ही दल यद्यपि पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं कर पाने की स्थिति में रहे हैं, तथापि दक्षिण पंथी और वामपंथी संयुक्त सरकारों में क्रमश: दोनों का वर्चस्व रहता आया है। अत: इस प्रकार की दल प्रणाली पर विचार करते समय जिसमें दो प्रमुख दल अन्य महत्वपूर्ण दलों या गुटों के साथ मिलकर अपने-अपने राजनीतिक कार्यक्रमों को क्रियान्वित करें, यदि हम सहयोगी दलों को महत्त्व देना चाहें, तो उसे हम ढाई दल वाली दल प्रणाली कह सकते हैं और यदि हम मुख्य दलों को महत्त्व देना चाहें तो उसे हम द्विदल प्रणाली कह सकते हैं। ऐसी दल प्रणाली में देश की राजनीति में अधिक महत्त्व चूँकि दो प्रमुख दलों का होता है, अत: उसे सरलता से हम द्विदल प्रणाली कह सकते हैं। इसी प्रकार कुछ ढाई दलीय प्रणालियाँ ऐसी भी हो सकती हैं, जिनमें सहयोगी दल भी देश की राजनीति में ऐसा महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हों कि उनकी गिनती स्थायी रूप से अलग दलों के रूप में करना आवश्यक हो, तो उन ढाई दल वाली दल प्रणालियों को हम बहुदल प्रणालियों की श्रेणी में रख सकते हैं। इस प्रकार जो ढाई दल प्रणाली द्विदलीय व्यवस्था के अधिक निकट हो उसे द्विदल प्रणाली के साथ और जो बहुदल व्यवस्था के अधिक निकट हो उसे बहुदल प्रणाली के साथ गिना जाता है।

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है दलहीन, एकदलीय, द्विदलीय, ढाई दलीय, एकदल प्रधान बहुदलीय तथा बहुदलीय प्रणालियों से दल हीन तथा ढाई दलीय प्रणालियों को लुप्त किया जा सकता है तथा ऐसा करने से जो चार प्रकार की दल-प्रणालियाँ शेष रह जाती हैं, उनका विवेचन हम प्रत्येक को पृथक्-पृथक् लेकर कर सकते हैं।

एकदलीय दल प्रणाली

इस प्रणली के नाम से यह प्रतीत होता है कि इस व्यवस्था के केवल एक दल होता है पर वस्तुस्थिति यह नहीं है तथा इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य कोई दल होते ही नहीं। इस प्रणाली में भी अन्य दल होते हैं। पर इन दलों की शक्ति एवं प्रभाव इतना क्षीण होता है कि उनकी परिस्थिति से शासन की मौलिक नीतियों या चुनाव परिणामों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पोलैंड और पूर्वी जर्मनी ऐसे ही देश हैं जिनमें कुछ छोटे दल सरकार में अनिवार्य रूप से शामिल होते हैं, पर शासन सम्बन्धी मौलिक नीतियों के निर्माण तथा चुनाव परिणामों पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

एक-दलीय व्यवस्था प्राय: दो प्रकार के देशों में देखने को मिलती है। पहले प्रकार के देश वे हैं, जिनमें शासनतन्त्र का प्रयोग देश में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिये

किया जा सके, इसके लिए देश में एक ऐसे राजनीतिक दल का निर्माण किया जाता है, जो देश के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक तीनों ही प्रकार के जीवन पर छाया रह कर क्रांति के उद्देश्य को पूरा कर सके। रूस, चीन एवं यूरोप व एशिया के अन्य साम्यवादी राष्ट्रों में तथा मेडागास्कर, गिनी आदि नवोदित राष्ट्रों में ऐसी ही दल प्रणाली रही है, जिनमें केवल एक दल ही देश के सम्पूर्ण जीवन पर छाया हुआ रहा तथा अन्य दल यदि कोई है तो उसकी कृपा पर निर्भर रहे। दूसरे प्रकार की व्यवस्था दक्षिणी वियतनाम, घाना (उत्तर-एन्क्रुमा काल में) सहित अधिकांश अफ्रेशियायी राष्ट्रों में विद्यमान रही है। इन राष्ट्रों में एकाधिकार सम्पन्न राजनीतिक दलों का निर्माण मुक्ति संघर्ष के दौरान नहीं, अपितु उसकी सफलता के बाद हुआ। दोनों प्रकार की प्रणालियों के एक दलीय होते हुए भी विचारधारा की दृष्टि से उनमें एक मूलभूत अन्तर है। प्रथम का उद्देश्य यदि समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना होता है तथा इस उद्देश्य में बाधा उत्पन्न न हो, इसके लिए संवैधानिक प्राविधानों या अन्य उपायों से अन्य दलों को कार्य नहीं करने दिया जाता, तो द्वितीय को उद्देश्य प्राय: किसी तानाशाह को सत्ता में बनाए रखना होता है, जिसका स्वयं का उद्देश्य यथास्थिति वाद का पोषण होता है। इस सामान्यीकरण के अपवादस्वरूप मिश्र की गमाल अब्दुल नासिर की नेशनल यूनियन पार्टी या सीरिया की बाथिस्ट पार्टी के नाम गिनाए जा सकते हैं। परन्तु ये केवल अपवाद ही हैं और वह भी व्यवहार में कम तथा सिद्धान्त में अधिक।

एकदलीय दल-प्रणाली का विपक्ष

एक दलीय प्रणाली के विरुद्ध बहुधा या आरोप लगाया जाता है कि वह लोकतन्त्र और उदारवादी के सिद्धान्तों के प्रतिकूल तथा अधिनायकतन्त्र एवं एकाधिकारवाद का पोषण करने वाली प्रणाली है। साधारणत: उसके विपक्ष में जो कुछ कहा जाता है, उसकी कुछ प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं:

वैकल्पिक नीतियों के लाभों की अप्राप्ति—एकदलीय प्रणाली के विरोध में कहा जाता है कि किसी प्रतिपक्ष के अभाव में इस प्रकार की दल प्रणाली में कोई राजनीतिक प्रतियोगिता सम्भव नहीं होती तथा देश को उन नीतियों का लाभ नहीं मिल पाता जिन्हें प्रतिपक्ष देश के समक्ष रखता, यदि वह अस्तित्व में होता। यह ठीक है कि रूस, चीन तथा अन्य साम्यवादी देश इस बात का दावा करते रहते हैं कि अपनी एकदलीय प्रणाली में उन्होंने उन देशों से कम उन्नति नहीं की है, जिनकी दल प्रणाली में विपक्ष का अस्तित्व सदा से रहता आया है। पर चीन आदि की व्यवस्था के विषय में इस अवांछनीय स्थिति के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता कि शासन का एक ही दल की विचारधारा व नीतियों के अनुसार चलता रहता है तथा देश उस सामान्य लाभ से वंचित रहता है, जो किसी वैकल्पिक विचारधारा या नीति से उसे प्राप्त हुआ होता।

अधिनायकतंत्र व एकाधिकारवाद का प्रोत्साहन—एक दल प्रणाली के विरोध में जो दूसरी बात कही जाती है, वह यह है कि उसमें अधिनायकतंत्र व एकाधिकार को प्रोत्साहन मिलता है। शक्ति सामान्यत: सत्ताधारी को विकृत करती है और यदि वह शक्ति

पूर्णतः निरंकुश हो, तो वह सत्ताधारी को और भी अधिक निरंकुश करती है। एक दल प्रणाली में जो भी दल सत्तारूढ़ होता है, विपक्ष की अनुपस्थिति के कारण उसे निरंकुश रूप से अपनी सत्ता के प्रयोग का अवसर प्राप्त रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह दल मनमानी करने की ओर प्रवृत्त हो जाता है, जिससे शासितों का अहित होने की सम्भावना बढ़ जाती है। अनेक देशों में देखा गया है कि देश कल्याण की भावना से प्रारम्भ में किसी दल का निर्माण होता है और उसे शासन की सत्ता प्राप्त होती है, पर वह भावना उस समय कम या समाप्त हो जाती हैं, जब दल के निर्माण व सत्ता प्राप्ति के समय की कठिनाइयाँ समाप्त हो जाती है तथा विपक्ष से अभय होने के कारण सत्तारूढ़ दल का व्यवहार इस हद तक अधिनायकतंत्रीय हो जाता है कि वह या तो अन्य दलों के अस्तित्व को विधि द्वारा समाप्त कर देता है या उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी करने नहीं देता। उदाहरणार्थ हम चीन को ले सकते हैं जहाँ अन्य दल अवैध नहीं हैं, पर उनका अस्तित्व साम्यवादी दल की हाँ में हाँ मिलाने के लिये ही है।

सैनिक षड्यंत्रों की सम्भावना तथा शासन पर नौकरशाही का अधिकाधिक प्रभाव—एकदलीय व्यवस्था का एक दोष यह भी है कि उसमें सैनिक षड्यन्त्रों की सम्भावना अधिक रहती है तथा शासन में नौकरशाही का प्रभाव अधिक रहता है। सत्ता के लिए संघर्ष एक ऐसी वस्तु है, जिसकी सम्भावना प्रत्येक प्रकार की शासन व्यवस्था में रहती है। अतः जिन देशों में एक दलीय प्रणाली है उनमें भी सत्ता के लिए संघर्ष होते रहते हैं। एक दलीय व्यवस्था में चूँकि प्रतिपक्ष का कोई प्रभावी विकल्प प्रायः नहीं होता, अतः सत्तारूढ़ गुट के विरोधियों को मतदान के माध्यम से सत्तारूढ़ होने का अवसर नहीं होता। परिणाम यह होता है कि सत्तारूढ़ गुट व उस गुट का विरोधी गुट दोनों ही देश की सैनिक शक्ति का सहारा लेने का प्रयास करते हैं तथा शासन सैनिक षड्यन्त्रों का केन्द्र बन जाता है जिनके कारण समय-समय पर सैनिक विद्रोह होते रहते हैं और कभी-कभी देश सैनिक अधिनायकतन्त्र के चंगुल में भी फँस जाते हैं। घाना, नाइजीरिया, कम्बोडिया, पाकिस्तान को हम ऐसे देशों के उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। जिन किन्हीं ऐसे देशों में सैनिक वर्ग के बढ़ते प्रभाव को रोक नहीं पाए हैं। नवोदित स्वाधीन देशों में ऐसा प्रायः हुआ है तथा इसके कई स्पष्ट कारण रहे हैं। प्रथम, राष्ट्रीय स्वातंत्र्य आन्दोलन के दौरान प्रमुख राजनीतिक दलों की जो तस्वीर बनी, स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के काल में वे प्रायः उसे अक्षुण्ण बनाये नहीं रख सके हैं। स्वतन्त्रता संग्राम के काल के भावात्मक नारों के माध्यम से विशाल जन-समर्थन उनके लिए सहज सम्भव होता रहा है, परन्तु बाद में भी वह समर्थन उन्हें मिलता रहे, इसके लिए जिन ठोस आर्थिक उपलब्धियों की आवश्यकता होती है, उनमें समय लगता है। यह जनता को अधिक समय तक सह्य नहीं होता तथा इससे जन असन्तोष उत्पन्न होता है, जिसे दबाने के लिए सत्तारूढ़ दल को सेना, व नौकरशाही पर निर्भर होना पड़ता है।

एकाधिकारी दलों के विघटन की सम्भावना—एक दल प्रणाली में प्रायः यह भी देखा गया है कि एकाधिकारी दल प्रायः गतिशून्य होकर विघटित हो जाते हैं। एक दलीय

व्यवस्था में, राजनीतिक प्रतियोगिता की कोई गुजांइश नहीं होती। अत: जो दल सत्तारूढ़ होता है वह अपने बहुमत के जोर शोर में प्राय: ऐसी नीतियों पर चलने लगता है जिन्हें राजनीतिक विलासिता कहा जा सकता है तथा जो व्यवहार की कसौटी पर प्राय: असफल होकर जन जीवन को त्रस्त कर देती हैं। विपक्ष के न होने से सत्तारूढ़ दल भी अपने किये के लिए किसी और को दोषी नहीं कह सकता और जनता की दृष्टि में भी किसी गलत नीति के लिए सत्तारूढ़ दल ही जिम्मेदार समझा जाता है। ऐसी स्थिति में दल के आन्तरिक गुटों में परस्पर दोषारोपण होता रहता है और आपसी खींचतान चलती रहती है तथा दल कभी-कभी गतिशून्यता की उस स्थिति में पहुँच जाता है जिसके कारण उसका विघटन हो जाता है।

इमेन्युअल वाल्टरस्टीन ने अपने एक लेख में इस बात की पुष्टि की है कि अनेक एकाधिकारी दल निष्क्रिय होते रहे हैं तथा स्थानीय स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक की उनकी विभिन्न इकाइयों की बैठकें, चन्दा-संग्रह आदि भी नियमित रूप से नहीं हुये हैं। इतना ही नहीं उनके साधारण सदस्य जनाभिमुख न रहकर शासनाभिमुख होते गये हैं, जिसके कारण जन जागृति के कार्य की दृष्टि से वे दल अधिकाधिक पंगु होते गए हैं। इस प्रसंग में इमेन्युअल वाल्टरस्टीन ने एक अल्जीरियन बुद्धिजीवी फ्रेंज फेनन के कथन को उद्धृत किया है जिसमें उसने अपने देश के प्रसंग में पश्चाताप-मय स्वर में कहा है कि "कुछ वर्षों के उपरांत, दल का विघटन स्पष्ट हो जाता है तथा कोई भी देखने वाला, चाहे वह अत्यधिक अधकचरा जानकर हो, यह देख सकता है कि अपने पूर्ववर्ती स्वरूप का अस्थिपंजर मात्र यह दल अब जनता को केवल गतिशून्य बनाने का कार्य करता है।"[1]

एकदलीय दल-प्रणाली का पक्ष

एक दलीय प्रणाली के पक्ष में भी उसके समर्थकों द्वारा बहुत कुछ कहा जाता है। जो मुख्य बातें उसके पक्ष में कही जाती हैं उनका विवेचन हमें निम्न प्रकार कर सकते हैं:

राष्ट्रीय एकता का संवर्द्धन—एक दल प्रणाली राष्ट्रीय एकता के संवर्द्धन के लिए अत्यन्त उपयुक्त प्रणाली है। किसी देश में एक ही दल का अस्तित्व एक ओर देश वासियों को एक दल के झण्डे के नीचे एक सूत्र में बाँधने के लिए उपयोगी होता है, तो दूसरी ओर अन्य दलों की अनुपस्थिति उन्हें इस बात के अवसर से वंचित रखती है कि वे छोटी-छोटी बातों को लेकर दल से पृथक् हो जायें, क्योंकि इस प्रकार अलग होने की इच्छा रखने वालों को अपनी बात को ले उड़ने के लिये मंच नहीं मिलता। द्विदल प्रणाली या बहुदल

---

1. "After a few years, the break up the party becomes obvious, and any observer, even the most superficial, can notice that the party, today the skeleton of its former self, only serves to immobilize the people."—Franz Fanon quoted by immanual walterstein in "Decline of the Party in single Party states."

In La Palombara and Myron Weiner (ed) op. cit., p. 208.

प्रणाली में प्राय: यह देखा जाता है कि छोटी-छोटी बातों को लेकर दलों में दरारें पड़ती हैं, प्राय: दल बदल होता रहता है, अनेक बनते बिगड़ते रहते हैं तथा ऐसा होने से राष्ट्रीय एकता को हानि पहुँचती है। एक दल प्रणाली में इस प्रकार की दल बदल की सम्भावना नहीं रहती। अत: उसमें राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिलता है।

इसमें सन्देह नहीं कि एक दल प्रणाली वाले देशों में देश के लोगों को राष्ट्रीय एकता में बाँधे जाने के लिए जो तथा जिस ढंग के प्रयत्न किये जाते हैं, उनका रूप व्यवहार में बहुत कुछ अधिनायकतन्त्रीय तथा एकाधिकारवादी हो जाता है; पर जिस प्रकार की राष्ट्रीय विवशृंखलता में से राष्ट्रीय एकता की ओर देश को ले जाने के लिए प्रयत्न किये जाते हैं, उसको देखते हुए ऐसा किया जाना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए हम उन देशों को ले सकते हैं जिनमें प्राचीन सामन्ती व्यवस्था से छुटकारा पाने के लिए साम्यवादी क्रान्तियाँ हुई तथा जिनमें उन क्रान्तियों के विरोधी प्रतिक्रियावादियों को पुन: सर न उठाने देने के लिए यह आवश्यक समझा गया कि वे किसी प्रकार के दलीय संगठनों में संगठित न हों। सभी राजनीतिक क्रिया कलाप का उद्देश्य समाज कल्याण होता है। अत: उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक दल की अधिनायकतन्त्रीय या एकाधिकारवादी व्यवस्था यदि आवश्यक है, तो एक दलीय प्रणाली के समर्थक उसमें कोई दोष नहीं मानते।

शासन के गठन व स्थायित्व के लिए उपयोगिता—एक दल प्रणाली को उसके समर्थक इस दृष्टि से भी उपयोगी समझते हैं कि उसमें शासन का गठन सरलता से हो जाता है और वह अपेक्षाकृत अधिक स्थायी ढंग का होता है। दलीय व्यवस्था में या तो सम्मिलित सरकारों का निर्माण होता है या ऐसी सरकारों का निर्माण होता है, जिन्हें विधायिका की बहुसंख्या वाले दल का समर्थन प्राप्त होता है। बहुसंख्या सरकारों का निर्माण जिस समर्थन के आधार पर होता है। वह अपनी नीतियों से सम्बन्धित होने के अतिरिक्त अनेक प्रकार के व्यक्तिगत सम्बन्धों पर भी निर्भर रहता है। ये व्यक्तिगत सम्बन्ध बनते बिगड़ते व बदलते रहते हैं। जब किसी विधायिका में अनेक दल होते हैं, तो इन सम्बन्धों के बनने, बिगड़ने व बदलने की गुंजाइश अधिक होती है और इसके परिणामस्वरूप सरकारें भी बनती बिगड़ती रहती हैं। इस प्रकार अनेक दलीय प्रणाली में सरकार का गठन भी सरलता से नहीं होता और वह अधिक स्थायी भी नहीं रह पाती। पर एक दलीय प्रणाली में सरकार एक दल की होती है जिसके बनने में कोई कठिनाई नहीं होती है। एक दल होने के कारण एक दलीय व्यवस्था में दल बदल भी नहीं हो सकती। अत: एक दलीय व्यवस्था सरकार के गठन व उसके स्थायित्व की दृष्टि से उपयोगी होती है।

राष्ट्रीय उद्देश्यों के निर्धारण व उनकी सिद्धि के लिए उपयोगिता—एक दल प्रणाली को उसके समर्थक इस दृष्टि से भी उपयोगी समझते हैं कि उसके अन्तर्गत राष्ट्रीय उद्देश्यों का निर्धारण व उसकी सिद्धि सरलता से होती है। एक दलीय व्यवस्था में जो भी बहु-समर्थित दल होता है, वह यह निर्धारित करता है कि विभिन्न विषयों में राष्ट्रीय नीति क्या हो? एक दलीय व्यवस्था होने के कारण देश की विधायिका में उसी दल का वर्चस्व होता है जो नीति निर्धारण करता है। अत: वह सरलता से उसी के अनुसार विधि निर्माण

कर लेता है। कार्यपालिका में भी उसी दल का वर्चस्व होता है, जो दल नीति निर्धारण करता है तथा जो विधि निर्माण करता है। अत: कार्यपालिका अपने ही दल द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार निर्मित विधि व निर्णयों को सरलता से क्रियान्वित कर लेती है तथा उसी दल द्वारा समर्थित न्यायपालिका दल द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार न्याय कार्य करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक दल प्रणाली में सभी स्तरों पर एक दल का वर्चस्व होने के कारण राष्ट्र के उद्देश्यों व नीतियों का निर्धारण व उनकी प्राप्ति तथा क्रियान्वय सरलता से होता है।

एक दलीय प्रणाली के पक्ष व उसके विपक्ष में जो कुछ कहा गया है, उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि कुछ परिस्थितियों में विशेषत: तब जब किसी राष्ट्र को अस्त-व्यस्तता की दशा से निकलकर दृढ़ता की ओर जाना हो, उसकी उपादेयता असन्दिग्ध है। यही कारण है कि उन नवोदित राष्ट्रों में भी जिन्होंने साम्यवाद को अपनाया है प्राय: एक दलीय प्रणाली का अस्तित्व पाया गया है तथा उन नवोदित राष्ट्रों में भी जिन्होंने पश्चिमी ढंग की लोकतन्त्रीय व्यवस्था को अपनाया; अनेक दलों के होते हुए भी वर्चस्व प्राय: किसी एक दल को ही प्राप्त है। पूर्व साम्यवादी रूस, लाल चीन, हंगरी, पोलैण्ड, पूर्व की पूर्वी जर्मनी तथा चैकोस्लोवाकिया आदि को हम पहले प्रकार के देशों के उदाहरण के रूप में ले सकते हैं, तो अनेक नवोदित व अफ्रेऐशियाई राष्ट्रों को हम दूसरे प्रकार के देशों के उदाहरण के रूप में ले सकते हैं। पूर्व रूस व चीन एक दलीय व्यवस्था के अन्तर्गत उन्नति के किस शिखर तक पहुँचे, यह तो हम सबको मालूम है ही, पूर्वी योरोप के देशों ने भी एक दलीय व्यवस्था में पश्चिमी योरोप के पश्चिमी रूप के अनेक दलीय लोकतन्त्र वाले देशों से अधिक दुष्कर कार्य किये हैं।

यह ठीक है कि समय-समय पर हंगरी, पोलैण्ड, पूर्वी जर्मनी तथा चेकोस्लोवाकिया जैसे पूर्वी योरोप के देशों में जन असन्तोष भड़कता रहा है और उसके कारण यह कहा जा सकता है कि जन-भावनाओं के शमन व लोकप्रियता की प्राप्ति में ये देश अधिक सफल नहीं रहे। परन्तु इसके साथ यह भी मानना पड़ेगा कि अफ्रेशियाई ही नहीं पश्चिमी यूरोपीय देशों के दलों की तुलना में भी यहाँ के दलों ने अधिक दुष्कर कार्य किये। राष्ट्रपति टीटो के नेतृत्व में विकेन्द्रीयकरण की नीति पर चलकर यूगोस्लाविया के साम्यवादी दल द्वारा जन-भागीदारी और उत्पादकता को अक्षुण्ण बनाये रखने का अभिनव प्रयोग उनके ऐसे अनेक कार्यों में से एक माना जा सकता है।

एक दलीय प्रणाली के उक्त विवेचन में उसकी कुछ कमजोरियाँ स्पष्ट हैं। उसमें सत्ता के दुरुपयोग और प्रजातन्त्र के पराभव की सम्भावना रहती है। अधिकनायक तन्त्र व एकाधिकार के प्रोत्साहन, सैनिक षड्यन्त्रों की सम्भावना तथा नौकरशाही के वर्चस्व सम्बन्धी उसकी कमियों से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु द्विदल एवं बहुदल प्रणाली में ये सम्भावनाएँ कहाँ तक कम हो जाती हैं यह कह सकना भी सरल नहीं है। एक दल व्यवस्था के सन्दर्भ में इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उसकी कमजोरियों और तद्जन्य हानियों के बावजूद इस व्यवस्था ने नवोदित राष्ट्रों के राष्ट्रीय एकीकरण, प्रशासनतन्त्र के गठन

और विशेषकर साम्यवादी देशों में लक्ष्य निर्धारण एवं लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में बड़ा सराहनीय कार्य किया गया है।

द्विदलीय दल प्रणाली

जैसा इस प्रणाली के नाम से स्पष्ट है इस व्यवस्था में दो दल प्रधान होते हैं। सत्ता का हस्तान्तरण इन्हीं दलों के बीच होता रहता है तथा मतदान में काफी बड़ा प्रतिशत इन दो दलों को प्राप्त होता है। लगभग सभी द्विदल व्यवस्थाओं में स्थिति यही है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह प्रतिशत 99 तथा न्यूजीलैण्ड व ब्रिटेन में यह क्रमशः 95 प्रतिशत व 92 प्रतिशत है। इस प्रणाली में तीसरे, चौथे आदि दलों का अस्तित्व हो सकता है, पर देश की राजनीति तथा मतदान के प्रतिशत की दृष्टि से वे दल नगण्य होते हैं। उदाहरणार्थ ब्रिटेन में तीसरा बड़ा दल उदार दल (Liberal Party) है, पर उसका महत्त्व अधिक नहीं है क्योंकि उसको 630 सदस्यों के निम्न सदन में कम स्थान ही मिलते हैं, यद्यपि श्रमिक दल (Labour Party) के अभ्युदय से पूर्व वह भी ब्रिटेन की द्विदल व्यवस्था का एक प्रमुख घटक था। ब्लौण्डेल द्वारा संग्रेहीत आँकड़ों के अनुसार विश्व के 21 देशों में द्विदल प्रणाली है। इनमें से चार आंग्ल प्रजाति के देश कहे जा सकते हैं और शेष में से आस्ट्रिया को छोड़कर सभी अफ्रेशियाई एवं लातिन अमरीकी राष्ट्र हैं। परन्तु इनमें श्रीलंका आदि राष्ट्र शामिल नहीं हैं। इनमें से कुछ देशों में तो दो दल बहुत कुछ केवल नाम के हैं तथा उनके दो दलों में नीति आदि के सम्बन्ध में कोई विशेष अन्तर नहीं है। उदाहरण के लिए श्रीलंका में यूनाइटेड नेशन्स और श्रीलंका में फ्रीडम पार्टी के नाम से गठित दो दलों तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में रिपब्लिकन व डेमोक्रेटिक दलों के बीच कोई विशेष बड़ा अन्तर नहीं है।

विचारधारा की दृष्टि से द्विदल व्यवस्था को दो भागों में बाँटा जा सकता है द्विदल प्रणाली का पहला प्रकार वह है जिसमें दोनों बड़े दल परस्पर प्रायः विरोधी विचारधाराओं के हों। ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड सहित 21 में से अधिकांश राष्ट्र इसी श्रेणी में आते हैं। ब्रिटेन में एक अनुदार दल (Conservative Party) कहलाता है, जो पहले सामन्तवादी व्यवस्था का समर्थक था और अब पूँजीवादी व्यवस्था का पक्षकार है। दूसरा प्रमुख दल श्रमिक दल (Labour Party) है जो उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण और उन पर सामाजिक नियन्त्रण लागू करने का पक्षकार है। आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड के बारे में भी यही कहा जा सकता है। द्विदल प्रणाली का दूसरा प्रकार वह है जिसमें दोनों बड़े दल सामान्यतः एक ही विचारधारा के हों तथा अधिकांश प्रमुख मामलों पर उनका एक-सा मत हो। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी द्विदल व्यवस्था को हम इस प्रकार में सम्मिलित कर सकते हैं। अमरीका की दल प्रणाली में प्रमुख दो दलों की रीति-नीति में इतना अधिक साम्य है कि डेनियल बेल जैसे राजनीति वैज्ञानिक उस आधार पर यहाँ तक कह बैठे हैं कि विश्व में विचारधारा के युग का अन्त हो गया है। पर वहाँ की दल प्रणाली की यह स्थिति विचारधारा की विभिन्नता के कथित अन्त के कारण नहीं है वरन् वह विचारधारा के साम्य के कारण है, क्योंकि दोनों

दलों का समृद्ध व रूढ़िवादी नेतृत्व आन्तरिक रूप से इस बात पर सहमत है कि निम्न मध्यवर्ग को पनपने नहीं दिया जाना चाहिए।

द्विदलीय शासन-प्रणाली का पक्ष

द्विदलीय-प्रणाली के समर्थक इस प्रणाली के पक्ष में निम्नलिखित बातें कहते हैं—

शासन की स्थिरता—द्विदलीय व्यवस्था में सुदृढ़ और स्थायी सरकार का निर्माण होता है और उसके कारण शासन में वह स्थिरता रहती है, जो वैधानिक लोकतन्त्र की आधारशिला है। यदि इस व्यवस्था में दोनों दल दृढ़ और सुसंगठित हों तो उनमें से एक बहुमत के रूप में सरकार का निर्माण करने के लिए सदा तैयार रहता है। संगठित तथा दृढ़ एकता में बँधे होने से दोनों दल शासन को सुचारु रूप में चलाने की क्षमता रखते हैं। अत: शासन में स्थिरता बनी रहती है तथा देश बहुदल प्रणाली जैसी राजनीतिक स्थिरता एवं तद्जनित अराजकता का शिकार होने से बच जाता है।

शासन की निरन्तरता—द्विदलीय प्रणाली में स्थिरता होने के साथ-साथ सरकार में निरन्तरता भी रहती है। ऐसी प्रणाली में सरकार दीर्घकालीन बनती है और वह इस योग्य होती है कि वह अपने कार्यक्रम और नीति का निर्धारण विश्वास के साथ कर सके और उसे उसी प्रकार क्रियान्वित भी कर सके। इसी प्रकार द्विदलीय प्रणाली में शासन में आवश्यक निरन्तरता बनी रहती है।

संगठित विपक्ष—इस प्रकार की दल प्रणाली का तीसरा लाभ यह है कि इसमें उस संगठित विरोधी दल का अस्तित्व बना रहता है, जिसका जनतन्त्र में अपना विशेष महत्त्व होता है। दृढ़ होने के कारण यह सरकार की गलत नीतियों, कानूनों तथा अन्य मामलों से उसका विरोध कर सकता है तथा सरकार को स्वेच्छाचारी और निरंकुश होने से रोक सकता है।

उत्तरदायित्व का निर्धारण—द्विदलीय व्यवस्था में यह निष्कर्ष सुगमता से निकल सकता है कि शासन सम्बन्धी कुशलता अथवा अकुशलता का उत्तरदायित्व किस दल का है क्योंकि जो दल बहुमत में होता है, वह शासन के सभी कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है।

मन्त्रिमण्डल का सरल निर्माण—जिस देश में दो दल होते हैं वहाँ मन्त्रिमण्डल बनने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती। बहुमत दल को सरकार बनाने का कार्य सौंपा जाता है। जब यह दल अविश्वसनीय हो जाता है, अथवा चुनावों में हार जाता है, तो विरोधी दल सरकार का रूप ले लेता है।

चुनाव प्रचार का परिमार्जन—द्विदलीय प्रणाली में चुनाव प्रचार बड़ा संयत तथा परिमार्जित ढंग का होता है। इस प्रणाली में दोनों दलों के समक्ष यह स्पष्ट होता है कि उनमें से कोई भी दल बहुमत में आ सकता है तथा उसे चुनाव के समय किये गये वायदों को पूरा करना पड़ सकता है। इसलिए इस प्रणाली में कोई भी दल अनर्गल व अधिक महत्त्वाकांक्षी वायदे जनता से नहीं करता है तथा जो वायदे किए जाते हैं उन्हें पूरा करने की कोशिश भी की जाती है। दूसरी ओर बहुदल व्यवस्था में अनेक दलों को सत्ता में आने

की उम्मीद ही नहीं होती है। अतः चुनाव के समय में वे ऐसे अतिरंजित वायदे करते हैं, जिन्हें वे पूरा नहीं कर सकते, जिसका परिणाम यह होता है कि चुनाव व प्रजातन्त्र के प्रति नागरिकों का विश्वास कम होता है। एक दल प्रणाली में चुनाव प्रचार में ये दोष प्रायः नहीं आते तथा इस कारण निर्वाचन व लोकतन्त्र के प्रति लोगों की आस्था बढ़ती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विदल प्रणाली लोकतन्त्र के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसमें एक ओर यदि सत्ता के लिए संघर्ष भी बना रहता है, जिससे कोई दल सत्ता का दुरुपयोग नहीं कर सकता, तो दूसरी ओर देश को बहु दलीय व्यवस्था जैसी राजनीतिक अस्थिरता और तद्जन्य अराजकता का शिकार भी नहीं होना पड़ता है।

द्विदलीय दल-प्रणाली का विपक्ष

द्विदलीय व्यवस्था के विपक्ष में निम्नलिखित बातें कहीं जाती हैं—

राष्ट्र का विभाजन—दो दलों का अस्तित्व राष्ट्र को दो विरोधी विपक्षों में विभक्त कर देता है। फल यह होता है कि जनमत का शुद्ध प्रकाशन नहीं हो पाता। बहुत से हितों और मतों की आवाज दब कर ही रह जाती है। द्विदलीय-व्यवस्था की यह धारणा निर्मूल और अवास्तविक है कि इतनी विभिन्न वृत्तियों वाले मनुष्यों को केवल दो दलों में विभाजित करके संगठित किया जा सकता है।

बहुमत की निरंकुशता—चूँकि सरकार में बहुमत का जोर होता है, अतः वह प्रायः निरंकुश हो जाता है। परिणाम यह होता है कि मन्त्रिमण्डल, जिसे बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है, स्वेच्छाचारी हो जाता है, और अल्प-मतों के हितों की सुरक्षा नहीं हो पाती। जो बहुमत चाहता है वही होता है और अल्पसंख्यकों की माँगें नक्कारखाने में तूती की आवाज जैसी होकर रह जाती हैं।

बहुमत की असहिष्णुता—द्विदलीय प्रणाली में जिस दल को बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है, उसका व्यवहार प्रायः असहिष्णुतापूर्ण होता है तथा उनकी दृष्टि में अल्पसंख्यकों के लिए लोकतन्त्र के कोई भी लाभ प्राप्य नहीं समझे जाते। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे लोकतन्त्रीय देश के उदाहरण से हम यह देख सकते हैं कि द्विदलीय व्यवस्था के बावजूद वहाँ वह राजनीतिक सहिष्णुता नहीं पाई जाती, जो लोकतन्त्र की सफलता के लिए अति आवश्यक समझी जाती है। वहाँ के गोरी चमड़ी के लोग नीग्रो प्रजाति के लोगों को समान अधिकार प्रदान करने को अब तक भी उद्यत नहीं हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ वैचारिक सहिष्णुता का भी अभाव है। मैकार्थी युग में अनेक बुद्धिजीवियों के समक्ष केवल इसलिए विभिन्न संकट पैदा किये गये कि उन्होंने अमरीकी शासन की नीतियों की आलोचना की थी। इसी कारण से अनेक को अपने व्यवसाय से हाथ धोना पड़ा था तथा कुछ अन्यों को इस अपराध में जेल यातना भी सहन करानी पड़ी थी।

मतदाताओं व प्रत्याशियों के लिए विकल्पों की कमी—द्विदल व्यवस्था में मतदान के समय विकल्प बहुत सीमित हो जाते हैं। मतदाता को केवल दो में से एक को चुनना होता है और यदि दोनों ही उसे अयोग्य प्रतीत हों, तो शान्त बैठे रहने के अतिरिक्त उसके पास कोई विकल्प नहीं रहता है। चुनाव प्रत्याशियों को भी सफलता के लिए दो में

से किसी एक दल का आश्रय लेना पड़ता है। अतः चुनाव में प्रत्याशी बनने के लिए उन्हें काफी बड़े पैमाने पर अनुचित साधनों का सहारा लेना पड़ता है। ऐसी स्थिति में जनसाधारण के स्थान पर साधन सम्पन्न वर्ग निर्वाचन का लाभ उठाता है और तब लोकतन्त्र लोकतन्त्र न रहकर अल्पतन्त्र का साधन सम्पन्नतन्त्र बन जाता है।

विधायिका के महत्त्व में कमी—द्विदलीय व्यवस्था में विधायिका का महत्त्व कम हो जाता है, क्योंकि बहुमत दल के समर्थन के कारण मन्त्रिमण्डल की प्रधानता हो जाती है तथा समूह के रूप में व्यवस्थापिका की सत्ता सीमित हो जाती है तथा वह केवल लेखा-संस्था बन कर रह जाती है। दल के सदस्य केवल मत देने वाले यन्त्र बन जाते हैं और मन्त्रिमण्डल की तानाशाही में वृद्धि हो जाती है।

एक दल प्रधान बहुदलीय प्रणाली

इस व्यवस्था में भी दो से अधिक दल चुनावों के माध्यम से सत्ता के लिए संघर्षरत रहते हैं। परन्तु उसकी विशेषता यह होती है कि उनमें से कोई एक दल जन समर्थन पर आधारित शक्ति की दृष्टि से अन्य देशों की अपेक्षा प्रधान होता है, क्योंकि निर्वाचनों में प्राप्त उसका मत प्रतिशत अन्य दलों की तुलना में काफी अधिक होता है। उदाहरणार्थ, सबसे बड़े दल को यदि पूरे मतों के 35 प्रतिशत से 40 प्रतिशत या 45 प्रतिशत मत प्राप्त होते हैं, तो शेष में अन्य दल रहते हैं। उनमें से भी यदि दूसरे बड़े दल को 20 प्रतिशत से 25 प्रतिशत तक मत प्राप्त हो जाते हैं तो दो बड़े दलों में करीब दो तिहाई मत बंट जाते हैं और शेष मत अन्य सब दलों के हिस्सों में आते हैं। ऐसे छोटे दलों का महत्त्व तब अधिक हो जाता है, जब किसी एक दल को व्यवस्थापिका में स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता तथा दो बड़ दलों के बीच में वे शक्ति का सन्तुलन बनाने की स्थिति में हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में यदि संयुक्त सरकारें बनती हैं तो भी उनके गठन में एक बड़े दल का प्राधान्य स्पष्ट रहता है। इजराइल की संयुक्त सरकार में श्रमिक (पुरानी मपाई पार्टी) दल का और इटली में क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक दल के प्राधान्य को हम इसके उदाहरण स्वरूप ले सकते हैं। इसी श्रेणी में स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क, चिली, वेनेज्युएला, पाकिस्तान (बंगला देश के अलग होने के बाद), और भारत जैसे देश को भी रखा जा सकता है। पाकिस्तान और भारत का इस श्रेणी में रखा जाना यद्यपि थोड़ा विवादग्रस्त हो सकता है, तथापि ब्लोंडेल द्वारा प्रयुक्त आधार को स्वीकार करते हुए यदि मतदान प्रतिशत की दृष्टि से देखा जाए तो भारत और पाकिस्तान को भी इस श्रेणी में रखा जाना उचित ही है। पूर्व में हुए निर्वाचनों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारत में कांग्रेस को 40 प्रतिशत से 45 प्रतिशत तक मत प्राप्त होते रहे हैं तथा शेष 55 प्रतिशत में अन्य सब दल समाते रहे हैं। अतः पूर्व में भारत की दल प्रणाली को एक दल प्रधान बहुदल प्रणाली कहा जा सकता था किन्तु अब इसमें थोड़ा परिवर्तन आया है। कुछ अध्येता, जिनके प्रतिनिधि के रूप में हम दक्षिणी एशिया के देशों की दल प्रणालियों के अध्येता रजनी कोठारी और मौरिस जौन्स को ले सकते हैं, मत प्रतिशत के

स्थान पर कुल प्राप्त स्थानों को दल व्यवस्था के नामकरण का आधार मानते हैं। स्वभावत: उन्हें भारत की पूर्व वाली दल व्यवस्था एक दल प्रधान प्रतीत होती थी। परन्तु स्थानों की संख्या को वर्गीकरण का आधार मानने के सम्बन्ध में कठिनाई यह है कि साधारण बहुमत वाली निर्वाचन व्यवस्था (Simple majority electoral system) में थोड़े से मत प्रतिशत के अन्तर से विधायिका में प्राप्त स्थानों की संख्या में भारी अन्तर आ जाता है। भारत को हम इसके उदाहरण के रूप में ले सकते हैं, जहाँ 1967 में 41 प्रतिशत मतों से काँग्रेस को लोकसभा में 55 प्रतिशत स्थान मिले थे, परन्तु 1971 में मात्र 5 प्रतिशत मत अधिक मिलने से स्थानों में 12 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि हो गई थी। अत: यदि प्राप्त स्थानों को नामकरण का आधार माना जाता है, तो सम्भवत: अधिकांश देशों की व्यवस्था एक दल प्रधान दल प्रणाली प्रतीत हो सकती है तथा जैसा रजनी कोठारी और मोरिस जोन्स करते रहे हैं, प्रत्येक चुनाव के बाद अध्येताओं को इस सम्बन्ध में अपना मत बदलना पड़ सकता है।

विचारधारा की दृष्टि से एक दल प्रधान बहुदलीय प्रणाली में शासन के सम्बन्ध में सामान्यत: यह देखा गया है कि प्रधान दल व्यवहार में मध्यम मार्गी होते हैं, यद्यपि सैद्धान्तिक स्तर पर वे प्राय: वामपंथी प्रतीत होते हैं। प्रधान दल को अपना व्यापक प्रभाव बनाए रखने के लिए ऐसे विचित्र हितों को अपने साथ लेकर चलना पड़ता है जो बहुधा परस्पर विरोधी प्रकृति के होते हैं। ऐसी स्थिति में अंत:दलीय संघर्ष के कारण नीतियों के सम्बन्ध में कोई भी कार्य-दिशा निश्चित कर पाना कठिन होता है। इजराइल, भारत, पाकिस्तान आदि अधिकांश नवोदित देशों की यही कहानी है तथा वहाँ के प्रभुत्वशाली दल यद्यपि अनेक वामपंथी वादे करते रहे हैं, तथापि उन वादों को वे कार्य रूप में परिणत नहीं कर पाये। देश में चाहे कोई भी राजनीतिक प्रणाली हो, सर्वत्र राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक समता की होड़ लगी हुई है। जन समर्थन प्राप्त करने के लिए ये दल प्राय: समतापूर्ण समाज के निर्माण की बात करते हैं, पर ऐसा नहीं लगता है कि सम्पन्न वर्ग के प्रभाव को सीमित करने और समतायुक्त समाज के निर्माण में इन दलों को कोई विशेष सफलता प्राप्त हुई हो। फिर भी हमें यह नहीं समझना चाहिए कि ये दल गतिशून्यता की स्थिति में हैं। कुछ देशों में जहाँ प्रधान दल में वामपंथी या दक्षिणीपंथी गुटों का प्रभाव अधिक है, कुछ परिवर्तन इस दिशा में हुये हैं। उदाहरणार्थ, स्वीडन में जहाँ सोशल डेमोक्रेट्स के नेतृत्व में वामपंथी बड़े प्रभावशाली हैं, सामाजिक परिवर्तनों की दिशा में काफी प्रगति हुई है तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भी स्वीडिश सरकार अमरीकी नेतृत्व में साम्यवादी कुचक्रों के विरुद्ध अपनी रक्षा करने में सफल हुई है।

एक दल प्रधान बहुदलीय प्रणाली का पक्ष

एक दल प्रधान व्यवस्था का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें एक दल का प्राधान्य होने के कारण नीतियों की निरन्तरता बनी रहती है, क्योंकि वह दल अपने बहुमत के बल पर अकेला सरकार गठित करे या संयुक्त सरकार में सम्मिलित हो, अपना वर्चस्व बनाए रखता है। दूसरे, इस व्यवस्था में प्रभुत्वशाली दल चूँकि सभी हितों को अपने साथ

लेकर चलने का प्रयास करता है, राष्ट्रीय एकता की कोई समस्या उपस्थित नहीं होती। विभाजन से पूर्व यदि पाकिस्तान में पीपुल्स पार्टी और अवामी लीग में से किसी एक का प्रभुत्व हुआ होता, तो बंगलादेश सम्भवतः न बना होता। तीसरे, इस व्यवस्था में जहाँ शासन में एकरूपता व निरन्तरता रहती है, वहाँ मतदाताओं व प्रत्याशियों को अधिक विकल्प प्राप्त हो सकने का बहुदल प्रणाली को लाभ भी मिल जाता है और मतदाता व प्रत्याशी दोनों ही अनेक में से एक विकल्प को चुन सकते हैं।

एक दल प्रधान बहुदलीय प्रणाली का विपक्ष

परन्तु इसके साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि यदि प्रभुत्वशाली दल कभी पूर्ण बहुमत में न आ पाये अथवा अंत:दलीय गुटवाद में गहरा फँसा हो, तो क्रियात्मक स्तर पर नीतियों, कार्यक्रमों एवं प्राथमिकताओं तथा उनसे सम्बन्धित बातों का निर्धारण मुश्किल हो जाता है। स्थिति वहाँ और भी भीषण होती है जहाँ समानुपाती प्रतिनिधित्व प्रणाली प्रचलित हो। इटली और इजरायल की स्थिति कुछ सीमा तक ऐसी ही है। इटली में इसी कारण मन्त्रिमण्डल का गठन दुष्कर होता है और राजनीतिक अस्थिरता बनी रहती है। इजरायल में भी स्थिति इतनी ही भीषण होती यदि सुरक्षा के प्रश्न और अस्तित्व के संकट सरकार के आड़े न आये होते।

बहुदलीय दल प्रणाली

जैसा इस प्रणाली के नाम से स्पष्ट है इस व्यवस्था में किसी भी एक या दो दलों का स्पष्ट प्राधान्य न होकर अनेक दलों की स्थिति सामान्यतः बराबरी की होती है। इस दल प्रणाली में विधायिका में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त होना तो दूर रहा, उसे इतना भी समर्थन नहीं प्राप्त होता कि वह एक या दो दलों के साथ मिलकर अपेक्षाकृत स्थायी सरकार बना सके। अतः बहुधा सभी या अधिकांश दलों को सरकार के गठन में सम्मिलित किया जाना अपरिहार्य होता है। परन्तु इसके बावजूद यही शासन व्यवस्था ऐसी है, जिसके अन्तर्गत मतदाताओं को अधिक विकल्प प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह विडम्बना है कि इस दल व्यवस्था का सैद्धान्तिक पक्ष जितना सबल है, व्यावहारिक पक्ष उतना ही दुर्बल है।

बहुदल व्यवस्था की उत्पत्ति क्यों होती है, इस सम्बन्ध में मौरिस डयूवर्जर का कहना है कि इसका एक कारण राजनीतिक सहिष्णुता (Political tolerance) का अभाव होता है।[1] उसके मतानुसार मानव की प्रकृति द्वैधात्मक है जिससे सम्भवतः यह प्रतीत होता है कि दलीय व्यवस्थायें अधिकांश द्विदलीय होनी चाहिए। पर डयूवर्जर के अनुसार ऐसा नहीं होता क्योंकि विविध मसलों के प्रति अलग-अलग व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएँ अलग-अलग होती हैं। उदाहरणार्थ जीवन में धर्म की मान्यता के प्रश्न पर क एवं ग एक पक्ष में

1. Maurice Duverger, "Public Opinion and Political Parties in France" *American Political Science Review* 46 (1952) see also his book *Political Parties* (London 1954) pp. 216-228.

हो सकते हैं तथा ख विपक्ष में हो सकता है, परन्तु सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर क विपक्ष में तथा ख और ग पक्ष में हो सकते हैं। डयूवर्जर के अनुसार, इस प्रकार मानव प्रकृति द्वैधात्मक होते हुए भी विविध प्रश्नों पर पक्ष व विपक्ष के आधार पर जब समूह-निर्माण होता है, तो द्वैधता नहीं वरन् बहुलता आ जाती है, क्योंकि विविध मसलों पर विविध लोगों के पक्ष अलग-अलग होते हैं। जिन देशों में राजनीतिक सहिष्णुता अधिक होती है वहाँ विविध पक्षों के समर्थक एक ही दल में साथ-साथ रहते हुए अपने मतों की विविधता में तालमेल बिठा लेते हैं। पर सहिष्णुता के अभाव में वे अलग दल बनाते हैं। बहुदल व्यवस्था के निर्माण का एक अन्य कारण डयूवर्जर के अनुसार आनुपातिक प्रतिनिधित्व पूर्ण निर्वाचन भी है। उसके अनुसार चूँकि इस व्यवस्था में कोई मत बेकार नहीं जाते तथा समर्थकों की अपेक्षाकृत कम संख्या का लाभ भी दलों को मिलता है, अत: दलों पर इस बात के लिए कोई दबाव नहीं होता कि वे बड़े-बड़े एक या दो दल बनकर रहें। परिणामस्वरूप उसके अनुसार आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के कारण भी बहुदल प्रणाली को प्रोत्साहन मिलता है। ग्रोवानी सार्तोरी का मत है कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में यह आवश्यक नहीं कि दल प्रणाली बहुदलीय ही हो तथा उसकी मान्यता है कि संरचनात्मक परिवर्तनों के कुशल राजनीतिक निर्देशन से दल निर्माण पर स्वाभाविक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रभाव को नियन्त्रित किया जा सकता है।[1] फ्रांस में संविधान एवं उसकी निर्वाचन व्यवस्था में परिवर्तन के बाद वहाँ राजनीतिक अस्थिरता की जो समाप्ति हुई है, सार्तोरी ने उसे अपनी इस मान्यता के समर्थन के रूप में प्रस्तुत किया है कि कुशल राजनीतिक निर्देशन से दल निर्माण की प्रक्रिया पर सफल नियन्त्रण किया जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं है कि 1958 से पहले का फ्रांस मन्त्रिमण्डलीय अस्थिरता का एक ज्वलंत उदाहरण था, क्योंकि 1958 में डिगाल द्वारा संविधान बदले जाने से पूर्व वहाँ दल व्यवस्था इतनी अस्थिर हो चुकी थी कि चार छ: महीने के अन्तर से मन्त्रिमण्डल बदल जाया करते थे। पर बहुदल प्रणाली के परिणाम सब जगह ऐसे ही रहें हों, ऐसी बात नहीं है। फ्रांस में बहुदल प्रणाली यदि शासकीय अस्थिरता का प्रतीक रही है, तो स्विटजरलैण्ड में बहुदल व्यवस्था पूरी सफलता से कार्य कर रही है। केरल में जो स्थिति काफी समय से चलती आ रही थी, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि केन्द्र का अनुचित हस्तक्षेप न हुआ होता, तो वह भी सफल बहुदल प्रणाली का एक अभिनव प्रयोग हो सकता था।

बहुदलीय दल प्रणाली का पक्ष

बहुदलीय प्रणाली के पक्ष में निम्नलिखित बातें कही जाती हैं—

प्रतिनिधित्व—बहुदलीय प्रणाली का एक लाभ यह होता है कि इसमें विभिन्न मतों को प्रतिनिधित्व का अवसर मिलता है। चूँकि सभी अपने-अपने हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं, अत: लोकतन्त्र इस प्रणाली में सही रूप से सफल होता है। परन्तु नवोदित देशों

1. G. Sartori, op. cit., pp. 174-76.

में जहाँ दल प्रणाली अधिक विकसित नहीं हो पाई है, यह खतरा बना रहता है कि राजनीतिक असहमति या असहिष्णुता की एक सीमा आ जाने पर उस प्रकार का सैनिक वर्ग का हस्तक्षेप न हो जाए, जैसे टर्की में कई बार हो चुका है।

आवश्यक विकल्पों की व्यवस्था—बहुदलीय प्रणाली में अनेक दल होने के कारण मतदाता तथा प्रत्याशी दोनों को आवश्यक विकल्प प्राप्त हो जाते हैं तथा उन्हें इच्छा के विरुद्ध किन्हीं एक या दो विकल्पों को सहारा लेने के लिए उस प्रकार बाध्य नहीं होना पड़ता है, जिस प्रकार उन्हें एक दल या द्विदल प्रणाली में होना पड़ता है।

दलगत स्वेच्छाचारिता का अभाव—बहुदलीय व्यवस्था में विधानसभा में सभी दलों के प्रतिनिधि निर्वाचित होकर जाते हैं। विधानसभा के सभी दलों का महत्त्व प्रायः एकसा होता है। सब दलों को एक-दूसरे पर निर्भर होना पड़ता है। किसी भी दल की स्थिति ऐसी नहीं होती कि वह अन्य दलों पर हावी हो सके और विधान सभा में स्वेच्छाचारितापूर्ण व्यवहार कर सके। ऐसी दशा में बहुदलीय दल प्रणाली में कोई विशेष दल स्वेच्छाचारी नहीं होने पाता और सब दल एक-दूसरे की मनमानी पर नियन्त्रण लगाये रहते हैं।

बहुदलीय दल प्रणाली का विपक्ष

बहुदल प्रणाली के विपक्ष में निम्न बातें कही जाती हैं—

निर्बल सरकार—बहुदलीय प्रथा सरकार को निर्बल बना देती है, क्योंकि संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने से सरकार की शक्ति का ह्रास हो जाता है। इस प्रकार की सरकार प्रायः अस्थिर और अल्पकालीन होती है। अनेक दलों के होने के कारण मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के विभिन्न मत होते हैं, उनमें एकता का अभाव होता है और फलतः स्थायी सरकार नहीं बनने पाती। पाँचवें गणतन्त्र से पहले फ्रांस में ऐसा ही होता था। बहुदलीय दल प्रणाली में सरकार का शीघ्र उत्थान और शीघ्र पतन होता है और उसकी इस प्रकार की डावाँडोल स्थिति शासन के लिए हानिकारक सिद्ध होती है, क्योंकि मन्त्रिमण्डल कभी किसी दृढ़ नीति को नहीं अपना सकता।

अनुशासनहीनता—बहुदलीय व्यवस्था से अनुशासनहीनता फैलती है। जब कभी दलों के सदस्यों में पारस्परिक ईर्ष्या, द्वैष, वैमनस्य और विरोध उत्पन्न होता है, वे एक दल छोड़कर दूसरे में और दूसरा दल छोड़कर तीसरे में चले जाते हैं। इस प्रकार दल बदल होती रहती है, नैतिकता का ह्रास होता है और देश के हितों की उपेक्षा होती है।

यद्यपि विभिन्न प्रकार की दल-प्रणालियाँ विश्व के विभिन्न देशों में पायी जाती हैं, तथापि अधिकतर राजनीतिक विचारक द्विदलीय व्यवस्था का ही पक्ष लेते हैं। सत्य तो यह है कि दलों की संख्या इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी शासन के सुचारु रूप से चलने की गति। जैसा **मैकाइवर** ने लिखा है, ''किसी भी दशा में, किसी भी प्रथा के लाभ और

हानियाँ, दोनों समाज की बुद्धि और संस्कृति से सम्बन्धित होते हैं। आवश्यक बात तो यह है कि सरकार जहाँ तक सम्भव हो व्यापकतम मत पर आधारित हो और अपने दलीय चरित्र को रखते हुए भी सम्पूर्ण जनता की एकता बनाये रखे।''[1]

SELECT READINGS

Arthur Holcombe : *Political Parties of To-day.*
J. Blondel : *An Introduction to Comparative Government.*
Bryce : *Modern Demoracies.*
Brake : *Thoughts on the Cause of Present Discontents.*
Gettell : *Politial Science.*
Henry Maine : *Popular Government.*
Leacock : *Elements of Political Science.*
Lowell : *Public Opinion and popular Government.*
MacIver : *The Modern State.*
Marriot : *The Mechanism of the Modern State.*
Meriam : *American Party System.*
Munro : *The Government of the United States.*
Potterson : *American Government.*
Pennock and Smith: *An Introduction : Political Science.*

❑❑❑

1. "In any event, advantages and disadvantages of either system are relative to the intelligence and culture of the community. The essential thing is that government should rest on as broad a basis of opinion as possible maintaining, in spite of its party character, the unity of a whole people." —MacIver : *The Modern State*, p.240.

9

दबाव समूह

"दबाव समूहों का रूप पूर्णतः राजनीतिकृत समूह से कम तथा पूर्णतः विराजनीतिकृत समूह से अधिक होता है।" —हैरी ऐक्सटीन

हमने राजनीतिक दलों के महत्त्व एवं कार्यों का विवेचन करते समय देखा था कि व्यक्ति और शासन के मध्य सम्पर्क सूत्र के रूप में दलों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। राजनीतिक दल एक ओर यदि जन-भावनाओं एवं आवश्यकताओं को शासन वर्ग तक पहुँचाते हैं तो दूसरी ओर वे शासक वर्ग की नीतियों, कार्यक्रमों तथा इरादों को जनता के समक्ष रखते हैं। हमने यह भी देखा था कि यह कार्य वे सदा विशुद्ध निरपेक्ष भाव से नहीं करते तथा इस कार्य को करते समय वे अपने दलगत हित को भी ध्यान में रखते हैं, यद्यपि वे दल जो प्रायः शासन का भार सम्भालते हैं विभिन्न हितों में सामंजस्य बिठाने के प्रयास में दलहित को पूरा संरक्षण नहीं दे पाते। प्रमुख दलों द्वारा विविध हितों में सामंजस्य बिठाने के प्रयास के बावजूद समाज के विविध हितों की स्थिति यह रहती है कि विविध दलों के भीतर भी वे सदैव सामंजस्य के लिए ही तत्पर नहीं रहते, वरन् वे परस्पर टकराते हुए भी बहुधा अपने-अपने संवर्धन और संरक्षण के लिए सचेष्ट रहते हैं। जो हित अधिक चैतन्य एवं प्रबुद्ध होते हैं वे अपना औपचारिक संगठन भी बना लेते हैं, जिसके माध्यम से समान हित और विचार वाले व्यक्तियों को एकत्रित करते हैं और संख्या की शक्ति (वैसे संख्या ही एकमात्र शक्ति नहीं होती) के आधार पर शासन की नीतियों को प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार के संगठन चूँकि अपने-अपने संगठन की शक्ति के दबाव द्वारा सार्वजनिक नीतियों तथा शासकीय निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं, अतः उन्हें दबाव समूह कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि दबाव समूह भी राजनीतिक दलों की ही तरह व्यक्ति और राज्य तथा शासन के बीच के महत्त्वपूर्ण सूत्र होते हैं। प्रमुख दलों का आकार अत्यन्त बड़ा होने के कारण कतिपय विद्वानों की मान्यता तो अब यह हो गई है कि दलों के माध्यम से व्यक्ति और शासन का सीधा सम्पर्क प्रायः नहीं होता है तथा न तो व्यक्ति ही निर्णय लेने वाली शक्तियों

से सम्पर्क कर पाता है और न शासन ही व्यक्ति के हितों के विषय में सोच पाता है। अत: शासन और व्यक्ति के पारस्परिक सम्पर्क के लिए माध्यम के रूप में समूहों का प्रयोग किया जाना अति आवश्यक है तथा शासन के लिए यह सदैव ध्यान रखने की बात होती है कि अमुक नीति का प्रभाव किस समूह पर कितना पड़ेगा तथा उस नीति के विषय में विभिन्न समूहों की अलग-अलग क्या प्रतिक्रिया होगी। यातायात और संचार के साधनों में विकास के साथ समूह-संगठन की प्रक्रिया ज्यों-ज्यों बलवती हुई है, शासन की प्रक्रिया व नीति निर्धारण में इनका महत्त्व त्यों-त्यों बढ़ा है। परिणामत: राजनीतिविज्ञान में दबाव समूहों का अध्ययन अपरिहार्य ही नहीं, सर्वोच्च महत्त्व का होता जा रहा है।

नामकरण सम्बन्धी मतभेद

राजनीतिकविज्ञान की अन्य अनेक अवधारणाओं की तरह 'दबाव समूह' की अवधारणा भी काफी विवादग्रस्त है। प्रथम विवाद तो इस बात को लेकर ही है कि राजनीतिविज्ञान के क्षेत्र में दबाव समूह की अवधारणा की क्या उपयोगिता है? बहुलवादी यदि इस अवधारणा को राजनीतिविज्ञान के प्रमुख आधार बनाने के लिए आग्रहशील हैं, तो अभिजात्यवर्गीय सिद्धान्तवादी (Elite Theorists) इसके प्रबल विरोधी हैं। अब हम उस विषय पर विचार करेंगे जिसका सम्बन्ध इस अवधारणा के नामकरण से है तथा जिसके कारण विविध विचारकों ने उसके लिए विविध नामों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ हम बहुलवादियों को ले सकते हैं जिन्होंने 'दबाव समूह' नाम के स्थान पर इसे केवल 'समूह' कहना अधिक पसन्द किया है।[1] कुछ अन्य विद्वानों ने जिनमें वी.ओ. की (कनिष्ठ), हैरी एकस्टीन, पिनाक और स्मिथ सम्मिलित हैं[2] दबाव विशेषण को लगाया जाना आवश्यक समझा है तथा उन्होंने इसे 'दबाव समूह' (Pressure groups) कहना अधिक पसन्द किया है, क्योंकि उनके मतानुसार इन समूहों का कार्य प्रशासन की नीतियों को प्रभावित करने के लिए विभिन्न ढंगों से दबाव डालना होता है। एक अन्य वर्ग उन विद्वानों का है जिन्होंने इन समूहों को केवल समूह या दबाव समूह न कहकर हित समूह (Interest groups) कहना अधिक उचित समझा है। इनमें गैब्रियल आमंड, रोमन कोकोविज तथा हिचनर एवं हर्बोल्ड प्रमुख हैं।[3] इन विद्वानों की मान्यता है कि समूह को दबाव समूह कहे जाने में दबाव शब्द से अनौचित्यपूर्ण दबाव का भाव प्रकट होता है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि सभी समूह सदा ही अपने हितों की सिद्धि के लिए आवश्यक रूप से अनुचित व असंवैधानिक साधनों

1. See Earl Latham, "The Group Basis of Politics : Notes for a Theory" *American Political Science Review* (June, 1952) pp. 376-397.
2. V.O. Key (Jr.) : *Politics, Parties and Pressure Groups* (New York : Crowell, 1964) : Harry Eckstein : *Pressure Group Politics* (Standford University Press 1960); Pennock and Smith : *Political Science : An Introduction* (Mac Millan : 1964) pp. 361-369.
3. Gabriel A. Aimond : "A Comparative Study of the Interest Groups and the Political Process", *The American Political Science Review,* (March, 1958) pp. 270-82; Kolkowicz : "Interest Groups in Soviet Politics", *Comparative Politics* (April, 1970); Hitchner and Harbold : *Modern Government : A Survey of Political Science* (New York : Dodd, 1962)

का प्रयोग करते हैं, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त कुछ विचारक ऐसे भी है जिन्होंने समूह (Group or Groupings), हित समूह (Interest Groups) तथा दबाव समूह (Pressure Groups) सभी शब्दों का प्रयोग बिना विशेष भेदभाव के किया है। उदाहरणार्थ ब्लोण्डेल ने बहुलवादियों की तरह यदि केवल 'समूह' (Group or Groupings) शब्द का प्रयोग किया है[1] तो जे.सी. जौहरी ने 'हित समूह' और 'दबाव समूह' दोनों ही का प्रयोग बिना किसी भेदभाव के किया है।[2] कुछ अन्य विद्वान ऐसे भी हैं जिन्होंने इन समूहों के लिए 'दीर्घा समूह' (Lobby Groups), 'संघ' (Associations) आदि अन्य शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु 'दीर्घा समूह' शब्द का प्रयोग मुख्यत: उन समूहों के लिए किया जा सकता है जो सामान्यत: विधायिकाओं में काम करते हुए विधि निर्माण व उसके क्रियान्वय सम्बन्धी निर्णयों को प्रभावित करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। जहाँ तक 'संघ' शब्द का सम्बन्ध है, उसके अन्तर्गत केवल दबाव समूह ही नहीं, वरन् अन्य सभी प्रकार के समुदाय आते हैं। अत: इस कारण इस समूहों के लिए संघ शब्द का प्रयोग किया जाना भी ठीक प्रतीत नहीं होता। हित समूह (Interest Group) शब्द का प्रयोग जिन विचारकों ने किया है उन्होंने ऐसा दबाव शब्द को आपत्तिजनक मान कर किया है। वस्तुत: 'दबाव' शब्द को आपत्तिजनक मान कर जिन विद्वानों ने 'हित समूह' शब्द का प्रयोग किया है उन्होंने भी माना है कि राजनीतिक प्रक्रियाओं में भाग लेते हुए शासकीय निर्णयों को प्रभावित करने के लिए किये गये उनके प्रयत्न सदा अनुचित ही नहीं होते हैं। वे यह भी मानते हैं कि शासन पर प्रभाव डालने की उनकी शक्ति प्राय: समूहों की सदस्य संख्या उनकी आर्थिक स्थिति आदि के अनुसार ही होती है। यह ठीक है कि कभी-कभी संख्या की दृष्टि या अन्य प्रकार से छोटे समूह शासन की नीतियों व उसके निर्णयों की अपेक्षाकृत बड़े समूहों से अधिक प्रभावित कर लेते हैं, पर ऐसा होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि 'दबाव' शब्द से असंवैधानिकता व अनौचित्य का ही बोध होता है। समूहों द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दबाव संवैधानिक तरीकों से भी डाला जा सकता है और असंवैधानिक तरीकों से भी और चूँकि उसका सदा असंवैधानिक व अनौचित्यपूर्ण होना आवश्यक नहीं है, समूहों को 'दबाव समूह' कहा जाना आपत्तिजनक प्रतीत नहीं होता। वस्तुत: शासन की नीतियों व उसके निर्णयों को प्रभावित करने से सम्बन्धित राजनीतिक प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में समूहों के प्रयासों का जब हम अध्ययन करते हैं तो हमारा आशय 'दबाव' शब्द से ही स्पष्ट होता है क्योंकि इस शब्द से उनके भिन्न-भिन्न व विविध प्रकार के प्रयास तथा उनकी सारी चेष्टाओं एवं प्रक्रियाओं का बोध होता है।

दबाव समूह की परिभाषा

कुछ शब्द या अवधारणाएँ इतनी लोक प्रचलित हो जाती हैं तथा उनका प्रयोगार्थ ऐसा हो जाता है कि उनकी परिभाषा करना उनके साथ पूरा-पूरा न्याय करना नहीं कहा जा

---

1. Jean Blondel, *An Introduction to Comparative Government* (Weldenfold etc; London, 1969)
2. J.C. Johari, *Comparative Politics* (Sterling : New Delhi, 1972)

सकता, क्योंकि उनकी कोई भी परिभाषा सर्वतोमुखी परिप्रेक्ष्य में उसके आशय को स्पष्ट नहीं कर पाती। यही स्थिति 'दबाव समूह' शब्द की है तथा इसकी सर्वसम्मत परिभाषा नहीं की जा सकती। फिर भी उसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अपने सामान्य अर्थ में दबाव समूह वे हित समूह होते हैं जो शासकीय नीतियों को अपने पक्ष में प्रभावित करने हेतु औपचारिक व अनौपचारिक दोनों ही प्रकार के संगठित प्रयास करते हैं। हिचनर एवं हर्बोल्ड जिन्होंने 'दबाव समूह' के स्थान पर 'हित समूह' शब्द का प्रयोग किया है, इस सम्बन्ध में कहा है कि 'राजनीतिविज्ञान के सन्दर्भ में इस (हित समूह शब्द) का प्रयोग हम एक से उद्देश्य वाले गैर सरकारी लोगों के ऐसे किसी समूह के लिए करते हैं जो राजनीतिक कार्यवाही द्वारा सरकारी नीति को प्रभावित करके अपने उद्देश्य को पूरा करते हैं। यदि और अधिक सरल शब्दों में कहा जाए तो वह समूह जो सरकार से कुछ अपेक्षा रखता है हित समूह कहलाता है।''[1]

दबाव समूहों की विशेषताएँ

वस्तुत: 'दबाव समूह' से जिस प्रकार के समूहों का बोध होता है, उनकी पूर्ण रूप से शुद्ध परिभाषा किया जाना कठिन है। अत: उनके स्वरूप को भली प्रकार समझने के लिए हम उनकी विशेषताओं को समझ सकते हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

1. दबाव समूह व्यक्तियों के ऐसे संगठन होते हैं, जिनका निर्माण कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। ऐसे समूह संगठन औपचारिक रूप से संगठित भी हो सकते हैं और अनौपचारिक रूप से भी संगठित हो सकते हैं। औपचारिक रूप से संगठित समूहों का एक संविधान होता है, एक कार्यकारिणी होती है और एक साधारण सभा होती है। ऐसे समूहों के कार्य सम्बन्धी निर्णय साधारण सभा करती है तथा उनका क्रियान्वय कार्यकारिणी के माध्यम से होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सब समूहों के संगठनों का रूप औपचारिक ही हो। उनके संगठन का रूप पूर्णत: औपचारिक या अर्धऔपचारिक भी हो सकता है। अनेक समूह कुछ प्रभावशाली व्यक्तियों के नेतृत्व के अनौपचारिक माध्यम से ही कार्य करते रहते हैं। 'समूह सिद्धान्त' के प्रमुख प्रतिपादक ट्रूमेन का तो यहाँ तक कहना है कि कुछ समूह ऐसे भी होते हैं, जो अनौपचारिक होते हुए भी इतने शक्तिशाली एवं प्रभावशाली होते हैं कि कोई अन्य समूह या शासन उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। अनेक देशों में उपभोक्ताओं तथा कृषकों के ऐसे समूह हैं, जिनके दृष्टिकोणों की उपेक्षा उत्पादन, वितरण, कर एवं विकास आदि से सम्बन्धित नीतियों के निर्धारण में कोई भी सरकार नहीं कर सकती।

2. दबाव समूह गैरसरकारी व्यक्तियों के संगठन होते हैं। वस्तुत: संगठनों का रूप पूर्णत: राजनीतिक भी नहीं होता है, क्योंकि ये सदैव अन्य समूहों या शासन के साथ

---

1. "We employ it for the purposes of Political Science to describe any collection of private persons with common objectives who seek their realization through political action to influence public. Still more simply, an interest group is any that wants something from government." —Hitchner and Harbold, *op. cit.*, p. 251.

विवादों और संघर्षों में उलझे नहीं रहते हैं। अपने समूह विशेष के हितों की साधना करना उनका ध्येय होता है तथा वे उसी के लिए कार्यरत रहते हैं। अनेक समूह, विशेषकर जातीय समूह अपने सदस्यों के सामाजिक व आर्थिक जीवन को उन्नत बनाने के लिए भी प्रयत्नशील रहते हैं तथा इस कारण कुछ क्षेत्रों में यह मान्यता हो चली है कि दबाव समूह प्राय: अराजनीतिक होते हैं। पर उन्हें पूर्णत: अराजनीतिक मानना भी एकांगी है, क्योंकि ये समूह किसी न किसी रूप में राजनीतिक गतिविधियों में भी भाग लेते हैं। धार्मिक समूहों द्वारा चुनाव के समय मतदाताओं को किसी विशेष राजनीतिक दल के पक्ष में खींचने या उससे विमुख करने को हम उन समूहों की ऐसी गतिविधियों के उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं। क्रियाकलाप की दृष्टि से उनका रूप न तो पूर्णत: राजनीतिक होता है और न पूर्णत: अराजनीतिक, वरन् वह दोनों के बीच का होता है। इस विषय में हेरी एकस्टीन ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है। उसके अनुसार दबाव समूहों की राजनीतिक गतिविधियों के आधार पर उनका रूप "पूर्णत: विराजनीतिकृत समूह से कम तथा पूर्णत: राजनीतिकृत समूह से अधिक होता है; यह स्थिति वस्तुत: राजनीतिक और अराजनीतिक स्तरों के बीच की गतिविधियों की होती है।"[1]

3. दबाव समूहों की एक विशेषता यह भी है कि ये समूह बिना उत्तरदायित्व वहन किए सत्ता के संघर्ष और सत्ता के लाभों के लिए सचेष्ट रहते हैं। इसी आधार पर आलोचनापूर्ण ढंग से इनके विषय में बहुधा यह कहा जाता है कि ये अनुत्तरदायी राजनीतिक दल हैं क्योंकि संख्यात्मक स्थिति के कारण वे सत्ता में तो आ नहीं सकते, पर वे यह अवश्य चाहते हैं कि सत्ता द्वारा नीतियों का निर्धारण उनके पक्ष में हो और इसके लिए वे विभिन्न प्रकार के दबाव भी डालते रहते हैं तथा राजनीतिक दलों को जहाँ एक निश्चित अवधि के उपरान्त चुनावों के समय जन-न्यायालयों के कटघरे में उपस्थित होना पड़ता है, यह समूह इस दायित्व से बरी रहते हैं।

4. दबाव समूहों की एक अन्य विशेषता यह है कि अन्य प्रकार के समाजों की अपेक्षा लोकतन्त्रीय राष्ट्रों एवं औद्योगिक समाजों में इनकी संख्या अधिक होती है, क्योंकि लोकतन्त्र के स्वतन्त्र वातावरण में उनके निर्माण को प्रोत्साहन मिलता है तथा औद्योगिक समाजों में व्यावसायिक वैविध्य के कारण और सम्पर्क साधनों का बाहुल्य होने के कारण ऐसे समूहों के संगठन सहजता से बन जाते हैं।

5. दबाव समूहों की एक अन्य विशेषता यह भी है कि इनके विकास का क्रम होता है तथा अविकसित अवस्था से विकसित अवस्था की ओर ज्यों-ज्यों समाज बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों सामाजिक (Social) या सामुदायिक (Communal) समूहों की तुलना में संघात्मक (Associational) समूहों का विस्तार बढ़ता जाता है। दूसरे शब्दों में दबाव

---

1. Pressure group politics "represents something less than the full politicization of groups and something more than utter depoliticization : it constitutes an intermediate level of activity between the political and apolitical." Harry Ekstein, Quoted by : J.C. Johari *op. cit.*, p. 9.

समूहों का स्वरूप किसी देश विशेष की सामाजिक व राजनीतिक विकास की स्थितिं के अनुसार परिवर्तनीय होता है। ब्लौण्डेल ने ऐसा ही मत व्यक्त किया है तथा संख्यात्मक दृष्टि के अतिरिक्त गुणात्मक दृष्टि से भी सामाजिक व राजनीतिक स्थिति के साथ दबाव समूहों की प्रकृति को सम्बद्ध करते हुए उस आधार पर उसने यह प्रतिपादित किया है कि दबाव समूह दो प्रकार—सामुदायिक (Communal) और संघात्मक (Associational)— के होते हैं। उसका मत है कि सामुदायिक समूहों का आधार व्यक्ति के परस्पर सम्बन्ध होते हैं तथा संघात्मक समूहों का आधार वह लक्ष्य विशेष होता है जिसको लेकर उनका निर्माण होता है तथा समाज के विकास के साथ-साथ समूहों का रूप सामुदायिक से संघात्मक होता जाता है। फिर भी इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि सामुदायिक समूह विकसित समाजों में समाप्त हो जाते हैं। वस्तुस्थिति इस सम्बन्ध में यह है कि बहुधा उनका रूप सामुदायिक कम तथा संघात्मक अधिक हो जाता है। यूरोप के उन अनेक चर्च संगठनों को हम इसके उदाहरण के रूप में ले सकते हैं, जिनके अपने-अपने अलग श्रमिक व युवक संगठन विद्यमान हैं। अत: इस प्रकार हम देख सकते हैं कि समूहों का विकास एक सततता (Continum) है। विकास क्रम की इस सततता में समुदायों का रूप किस प्रकार सामुदायिक से संघात्मक हो जाता है, इसे हम आगे दिये रेखाचित्र से सरलता से समझ सकते हैं।[1]

रेखाचित्र से जैसा स्पष्ट है विकास की इस सततता में समूहों का रूपान्तरण अनेक प्रकार से तथा अनेक दिशाओं में होता है। समूहों के विकास की एक धारा सामुदायिकता की ओर से संघात्मकता की ओर चलती है, जिसके अनुसार समाज अविकसित अवस्था से ज्यों-ज्यों विकसित अवस्था की ओर चलता है समूहों का रूप सामुदायिकता से संघात्मकता का होता जाता है। इस आधार पर समूहों के दो प्रकार जिन्हें हम सामुदायिक व संघात्मक के नाम से पुकारते हैं उनके विकास की स्थिति की दो दशायें मात्र हैं। इसके अतिरिक्त इन दोनों प्रकार के समूहों का भी रूपान्तरण होता है। समाज के विकास की स्थिति के अनुसार सामुदायिक समूह यदि जातीय व धार्मिक समूहों तथा जातीय व धार्मिक समूह प्रथागत व संस्थात्मक समूहों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, तो संघात्मक समूह विवादग्रस्त रूप से उत्थानात्मक व मुख्य रूप से संरक्षणात्मक समूहों तथा विवादग्रस्त समूह संरक्षणात्मक व उत्थानात्मक संघों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। समूहों के विकास के विपय में ध्यान देने की एक अन्य बात, जो रेखा-चित्र से स्पष्ट है, यह है कि उनमें प्रकारान्तर के साथ-साथ गुणान्तर भी होता है तथा समाज के विकास की प्रारम्भिक दशा में समूहों का रूप जब सामुदायिक होता है तब उनमें सामुदायिकता अधिक व संघात्मकता कम होती है तथा विकास के विविध स्तरों को पार करते हुए उनका रूप जब संघात्मक हो जाता है तब उनमें सामुदायिकता कम व संघात्मकता अधिक हो जाती है।

---

1. इस सम्बन्ध में जीन ब्लौण्डेल की पुस्तक का पृष्ठ 79 देखें तथा चित्र में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के समझने के लिए दबाव समूहों के वर्गीकरण का प्रसंग देखें।

सामाजिक विकास की स्थिति के अनुसार समूहों के विकास की सततता

दबाव समूहों का वर्गीकरण

राजनीतिवैज्ञानिकों के द्वारा दबाव समूहों का वर्गीकरण जिन आधारों पर किया है उनमें समूहों के लक्ष्य, उनके संगठनों की प्रकृति, उनके अस्तित्व की अवधि, उनके कार्यक्षेत्र आदि प्रमुख हैं। लक्ष्यों की दृष्टि से दबाव समूह लोकार्थी (Altruistic) तथा स्वार्थी (Self-seeking) होते हैं। गौ-सेवा संघ, भारत सेवक समाज, सर्वोदय या अन्य ऐसे ही संगठन जो वर्ग या व्यक्ति विशेष के हितों के लिए न होकर सब के हितों के लिए होते हैं, लोकार्थी समूह कहलाते हैं तथा व्यापारी संघ, श्रमिक संघ आदि जैसे वे संगठन जो अपने-अपने वर्गों के हितों की साधना करते हैं, स्वार्थी संगठन कहलाते हैं। संगठन की प्रकृति के आधार पर समूह औपचारिक या अनौपचारिक (Formal or informal) तथा प्राकृतिक (Natural) या ऐच्छिक (Voluntary) कहे जाते हैं। औपचारिक समूह वे समूह होते हैं जिनके संगठन का कोई संविधान आदि होता है तथा संगठन के संविधान आदि से रहित समूह अनौपचारिक समूह कहलाते हैं। प्राकृतिक, समूहों की श्रेणी में वे समूह आते हैं, जिनका संगठन स्वयंमेव बनता है तथा ऐच्छिक समूह वे होते हैं जिनका संगठन बनाया जाता है। प्राकृतिक समूहों में जातीय संगठन तथा ऐच्छिक समूहों में व्यापारिक व श्रमिक समूहों जैसे संगठन आते हैं। अस्तित्व की अवधि को दृष्टि से समूह अल्पकालिक (Ephemeral) एवं दीर्घकालिक कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार कार्यक्षेत्र के आधार पर जो समूह अत्यन्त सीमित क्षेत्र में कार्य करते हैं, उन्हें स्थानीय (Local) तथा जिनका क्षेत्र अखिल देशीय होता है उन्हें देशव्यापी (Country wide) समूह कहते हैं। स्थानीय समूहों में दीर्घा समूह (Lobby groups) जैसे समूह आते हैं, क्योंकि उनका कार्यक्षेत्र प्राय: व्यवस्थापिका तक ही सीमित रहता है तथा युवक कांग्रेस, विद्यार्थी संघ, अध्यापक संघ जैसे वे समूह जिनका प्रयास सारे मतदाताओं को प्रभावित करना होता है, देशव्यापी समूह कहलाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दबाव समूहों का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया जा सकता है। पर सभी विचारकों ने सभी आधारों पर उनका वर्गीकरण किया हो ऐसी बात नहीं है। इस बात को हम ब्लोण्डेल तथा आमण्ड द्वारा किये गये वर्गीकरणों से देख सकते हैं।

ब्लौण्डेल का वर्गीकरण

ब्लोण्डेल ने दबाव समूहों का वर्गीकरण उनके निर्माण के प्रेरक तत्त्वों के आधार पर किया है।[1] उनके अनुसार वे समूह जिनकी स्थापना के मूल में व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्ध होते हैं, सामुदायिक समूह कहे जाते हैं तथा वे समूह जिनकी स्थापना के पीछे किसी विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति प्रेरक तत्त्व होता है, संघात्मक समूह कहे जाते हैं। ब्लौण्डेल में इनमें से प्रत्येक को पुन: दो प्रकारों में विभाजित किया है। उनके अनुसार सामुदायिक समूह रूढ़ (Customary) और संस्थात्मक (Institutional) होते हैं तथा संघात्मक समूह

---

1. Jean Blondel, *op. cit.*, chapters 5 and 6.

संरक्षणात्मक (Protective) व उत्थानात्मक (Promotional) होते हैं। इस वर्गीकरण को निम्न प्रकार तालिकाबद्ध किया जा सकता है—
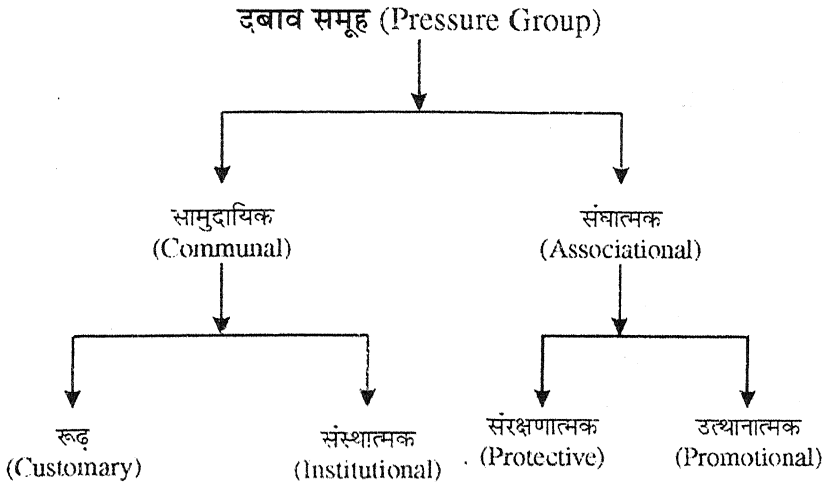
(1) सामुदायिक (Communal) समूह—सामुदायिक समूह के निर्माण के मूल में लोगों के सामाजिक सम्बन्ध होते हैं। लोगों के साथ रहने से उनमें कुछ सामाजिक सम्बन्धों, रागात्मक लगावों एवं सामान्य दृष्टिकोणों की उत्पत्ति हो जाती है तथा उनके आधार पर उनमें सामुदायिक एकता की भावना का विकास हो जाता है। धीरे-धीरे इस प्रकार की सामुदायिक एकता के कारण लोग स्वतः ऐसे समूहों के बन्धनों में बँध जाते हैं, जिनके सदस्य स्वतः एक दूसरे के सुख-दुःख के भागीदार बन जाते हैं। इन समूहों में से अनेक का संगठन अनौपचारिक होता है तथा उनमें से अनेक बहुधा औपचारिक रूप से संगठित होते हैं तथा दोनों ही अपने सामुदायिक हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसा करने में वे आन्तरिक व्यवस्था एवं बाह्य तत्त्वों से अपनी सुरक्षा का प्रयास भी करते हैं तथा शासन से अपनी रक्षा व उन्नति के लिए कुछ अपेक्षाएँ करते हैं। इस प्रकार, इन संघों का सामान्य हित यह होता है कि इनके सामुदायिक हित की साधना हो। सामान्यतः इसी बन्धन से उनके सदस्य समूह के बन्धन में बँधे रहते हैं। पर उनके बन्धन का इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कारण वह रागात्मकता होती है जो उनके सदस्यों में पाई जाती है। जातियों, प्रजातियों, पड़ौस आदि के समूह इसी श्रेणी में आने वाले समूह हैं। भारत में अनेक जातियों के ऐसे संगठन हैं।

(क) रूढ़ या प्रथागत (Customary) समूह—सामुदायिक समूहों का एक प्रकार रूढ़ या प्रथागत समूहों का होता है। जिन समूहों की कार्यप्रणाली तथा उनके सदस्यों

के पारस्परिक व्यवहार में सामाजिक प्रथाओं, रूढ़ियों व रीति-रिवाजों का प्राधान्य होता है, उन्हें रूढ़ या प्रथागत समूह कहा जाता है। जातियों, प्रजातियों आदि के सामुदायिक समूह इसी प्रकार के समूह होते हैं। ब्लोंडेल के अनुसार इस प्रकार के समूह मानव समाज के विकास की प्रारम्भिक स्थिति के द्योतक हैं तथा ज्यों-ज्यों समाज का विकास होता है और व्यावसायिक वैविध्य में वृद्धि होती है, उन समूहों का महत्त्व कम होता जाता है, यद्यपि वे पूर्णत: समाप्त नहीं होते हैं। पश्चिमी औद्योगिक देशों में भी धर्म एवं प्रजाति समूह अब भी काफी सक्रिय हैं।

(ख) संस्थात्मक (Institutional) समूह—सामुदायिक-समूहों का दूसरा प्रकार संस्थात्मक समूहों का होता है। कुछ संस्थाओं के सदस्यों में साथ-साथ रहने से कालान्तर में सामाजिक सम्बन्धों के अतिरिक्त रागात्मक सम्बन्ध भी विकसित हो जाते हैं तथा ऐसे समूह किन्हीं विशिष्ट उद्देश्यों के न होते हुए भी अपने सदस्यों के सामान्य हितों की सिद्धि का प्रयास करते हैं। ब्लोंडेल के अनुसार ऐसे सामाजिक समुदायों को संस्थात्मक समूह कहते हैं। समाज में वृद्धजन कल्याण समितियों, सैनिक कल्याण परिषदों, कर्मचारी संरक्षण परिषदों आदि के रूप में जो समूह पाये जाते हैं उन्हें हम इस श्रेणी में रख सकते हैं।

(2) संघात्मक (Associational) समूह—ये वे समूह होते हैं, जिनका अपना एक विशिष्ट लक्ष्य होता है तथा यही विशिष्ट लक्ष्य इन समूहों की स्थापना व उनके अस्तित्व का मूल होता है। इसी को स्पष्ट करते हुए ब्लोण्डेल ने लिखा है कि "इन समूहों का एक लक्ष्य होता है जो न्यूनाधिक निश्चित होता है। परन्तु जिस सीमा तक उनका लक्ष्य होता है, यह लक्ष्य एक ऐसा साधन बन जाता है जिसके माध्यम से राजनीतिक व्यवस्था में समाज की माँगों का प्रवेश होता है। निस्सन्देह माँगों की दिशा का निर्धारण किसी माँग के विषय में समूह-विशेष के दृष्टिकोण द्वारा होगा। यह भी सम्भव है तथा समूह सिद्धान्त के अत्यधिक अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतिपादनों से निकाले जाने वाले आशावादी निष्कर्षों के बावजूद भी वस्तुत: निश्चय है कि कुछ माँगों का निर्माण एक दिशा में होगा और विरोधी दिशा की माँगों को कुचल दिया जाएगा।"[1] संघात्मक समूहों को वस्तुत: माँगों के साथ चलना पड़ता है। इन समूहों की एक विशेषता यह है कि औद्योगिक विकास के साथ-साथ वे प्रचुरता से बढ़ते हैं। उनमें परस्पर प्राय: विरोध करने की प्रवृत्ति भी होती है, यद्यपि कुछ बिन्दुओं पर उनमें सहयोग भी हो सकता है।

---

1. "These have an aim, which may be more or less specific, but to the extent that they have an aim, this is a means by which community demands are channelled into the political system. Admittedly, the direction of the demand will be defined by the standpoint of the group in relation to that demand: conceivabley (and indeed almost certainly despite the optimistic conclusions which might be drawn from the most extreme version of group theory) some demands will be formulated only in one direction and demands in the contrary direction will be repressed." —Blondel, *op. cit.*, pp. 64-65.

(क) संरक्षणात्मक (Protective) समूह—संघात्मक समूहों का एक प्रकार संरक्षणात्मक समूहों का होता है। इन समूहों का लक्ष्य विशिष्ट होते हुए भी साधारणत: व्यापक व सामान्य होता है क्योंकि वे अपने सदस्यों के सामान्य हितों की रक्षा करते हैं। विविध श्रमिक संघ (Labour Unions), व्यावसायिक संगठन (Business Chambers) तथा व्यापार संघ इसी प्रकार के समूहों के उदाहरण हैं। श्रमिक संघ (Labour Unions) इनमें सबसे अधिक समान्य प्रकृति के होते हैं, क्योंकि इनका लक्ष्य केवल स्थानीय श्रमिकों के लिए सेवा की शर्तों (Conditions of Services) सम्बन्धी सुविधायें प्राप्त करना ही नहीं होता, वरन् बहुधा वे राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रमिक हितों पर होने वाले विचार-विमर्श व प्रदर्शन आदि में भी भाग लेकर श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

(ख) उत्थानात्मक (Promotional) समूह—किसी विशेष विचार या दृष्टिकोण के प्रचार तथा उस दृष्टि से समाज को उन्नत बनाने के लक्ष्य को लेकर जिन समूहों का गठन किया जाता है, उन्हें हम संघात्मक समूहों के उत्थानात्मक प्रकार के अन्तर्गत रख सकते हैं। निरस्त्रीकरण, विश्व शान्ति, सार्वभौमिक मताधिकार (विशेष कर पश्चिमी देशों में) नारी स्वातन्त्र, गौ-संरक्षण आदि के लिये बनाये गये संघों को हम उत्थानात्मक समूहों में रख सकते हैं। उत्थानात्मक संघ संरक्षणात्मक संघों की अपेक्षा अधिक विशिष्ट लक्ष्यों को लेकर बनाये जाते हैं तथा उनके लक्षित विषय यदि बहुत ही अधिक विवादग्रस्त न बन जायें, तो इस प्रकार के संघ अपने लक्ष्यों की पूर्ति की दृष्टि से अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

आमण्ड का वर्गीकरण

ब्लोंडेल की तुलना में आमण्ड[1] द्वारा प्रस्तुत समूहों का वर्गीकरण अधिक सरल व साधारण प्रकार का है। आमण्ड ने इन समूहों को दबाव समूहों के बजाय को "हित समूह" कहा है तथा उनकी चारित्रिक विशेषताओं को उनके वर्गीकरण का आधार बनाया है। इस आधार पर उसने समूहों को (1) संस्थात्मक (Institutional) (2) असंघात्मक (Non-Associational) (3) प्रदर्शनात्मक (Anomic), और (4) संघात्मक (Associational) चार प्रकार का माना है। नाम विभेद की दृष्टि से आमण्ड के वर्गीकरण की तुलना यदि ब्लोण्डेल के वर्गीकरण से की जाय तो आमण्ड के वर्गीकरण में हम दो नये नाम—असंघात्मक (Non-associational) व प्रदर्शनात्मक (Anomic) देखते हैं। आमण्ड के वर्गीकरण असंघात्मक शब्द का प्रयोग उन समूहों के लिए किया गया हैं, जिन्हें ब्लोण्डेल ने सामुदायिक रूढ़ (Communal Customary) समूह कहा है। इसके बाद केवल प्रदर्शनात्मक (Anomic) समूहों का एक प्रकार ऐसा है, जो आमण्ड के वर्गीकरण का एक नया वर्ग है तथा जिसके विषय में जान लेना आवश्यक है।

---

1. G.A. Almond, "Introduction " A Functional Approach to Comparative Politics" in Almond and Coleman (ed.) *The Politics of Developing Areas* (Paper back), Princeton, 1970; pp. 33-38.

प्रदर्शनात्मक (Anomic) समूह—आमण्ड के अनुसार प्रदर्शन समूह वे समूह होते हैं जो भीड़ व प्रदर्शन आदि के रूप में अनायास प्रकट व विलुप्त होते रहते हैं। इन समूहों की कार्य प्रणाली नियोजित ढंग की नहीं होती तथा इनका रूप प्राय: अस्त व्यस्तता का होता है। अनेक अवसरों पर ये समूह नियन्त्रित व पूर्ण आयोजित भी होते हैं। फिर भी वे प्राय: सीमाओं व निश्चित प्रतिमानों के भीतर नहीं रह पाते। नियोजित व अनियोजित दोनों ही प्रकार से इन समूहों के माध्यम से हितों का प्रकाशन एवं उनकी साधना के प्रयास किये जाते हैं। अपने उग्र रूप में ये समूह प्राय: मर्यादा के बाहर हो जाते हैं और कभी-कभी वे स्वयं कानून निर्माण एवं उनके पालन कराये जाने का कार्य अपने हाथों में ले लेते हैं। ऐसा ये समूह इस कारण से सरलता से कर लेते हैं, क्योंकि वे अपने ढाँचे एवं कार्यों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके उन्हें परिस्थितियों के अनुकूल बना लेते हैं।

ब्लौण्डेल व आमण्ड के वर्गीकरणों की तुलना

उक्त दोनों वर्गीकरणों के अन्तर्गत समूहों के विविध प्रकारों की जानकारी के आधार पर उनकी निम्न तुलनात्मक विशेषतायें स्पष्ट देखी जा सकती हैं:

(1) ब्लोण्डेल द्वारा यथार्थ से अधिक निकट पहुँचने के प्रयास में उसका वर्गीकरण जटिल हो गया है। उसने वस्तुत: वर्गीकरण को सततता (Contunum) या क्रम के रूप में प्रस्तुत किया है। अत: हर स्तर पर उसके द्वारा प्रतिपादित समूहों के प्रकारों का रूप मिश्रित तथा उनका विवेचन यदि किन्तु परन्तु प्रधान हो गया है, यद्यपि अन्त में प्रमुख गुणों के आधार पर ही उसने वर्गीकृत श्रेणियों का नामकरण किया है। आमण्ड ने इतनी गहराई तक जाने की कोशिश नहीं की है।

(2) ब्लौण्डेल ने जिन्हें रूढ़ समूह माना है, आमण्ड ने इन्हें असंघात्मक समूह कहा है, वैसे यह अन्तर केवल नामकरण का है। इसके अतिरिक्त ब्लौण्डेल ने सामुदायिक समूह की प्रमुख श्रेणी बनाकर रूढ़ (आमण्ड के असंघात्मक समूह) व संघात्मक समूहों को उसकी उपश्रेणियों के रूप में माना है। परन्तु आमण्ड ने दोनों उपश्रेणियों को मुख्य बना दिया है तथा सामुदायिक समूह की अलग श्रेणी नहीं बनाई है।

(3) आमण्ड ने प्रदर्शनात्मक (Anomic) समूह के शीर्षक से एक अलग श्रेणी बनाई है तथा उसने संघात्मक समूहों की प्रकृति पर प्रकाश नहीं डाला है।

(4) अन्त में आमण्ड ने अपने वर्गीकरण को सामाजिक एवं राजनीतिक विकास के चरणों से सम्बन्ध करने का प्रयास किया है। उसके अनुसार अपेक्षाकृत अधिक विकसित देशों में हित प्रकाशन का कार्य अधिक विशिष्ट तथा विविध रूपों के संघात्मक समूहों द्वारा सम्पादित किया जाता है तथा ऐसी स्थिति में राजनीतिक प्रक्रियायें अधिक सन्तुलित रहती हैं और सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं के मध्य उचित सामंजस्य बना रहता है। परन्तु अर्द्ध विकसित व विकासशील देशों में यह कार्य प्राय: संस्थात्मक व असंघात्मक समूहों द्वारा सम्पादित किया जाता है, जिसके कारण राजनीतिक प्रकियाएँ उतनी सन्तुलित नहीं रह पाती, जितनी वे विकसित देशों में रहती हैं, क्योंकि अविकसित व विकासशील देशों में

सब समूह सबके लाभ के स्थान पर अपनी-अपनी आवश्यकताओं एवं लाभों की माँगों की दृष्टि से सोचते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि उसने इस स्थिति से भी आगाह किया है कि सभी विकसित एवं विकासशील देशों में निश्चित रूप से उपर्युक्त स्थितियों का पाया जाना अनिवार्य नहीं कहा जा सकता तथा उसके महत्त्वपूर्ण अपवाद भी हो सकते हैं। इसके उदाहरण स्वरूप हम फ्रांस को ले सकते हैं जहाँ प्राय: संस्थात्मक समूह राजनीतिक दलों की तरह ही हित प्रकाशन व उसकी साधना का कार्य करते हैं तथा उसके परिणामस्वरूप वहाँ की दल व्यवस्था में टूट-फूट व दल बदल अपेक्षाकृत अधिक देखी जा सकती है और वहाँ की समूची राजनीतिक व्यवस्था विखण्डित-सी रहती है।

दबाव समूहों की कार्य-प्रणाली

आधुनिक राज्यों में विशेषकर पश्चिमी प्रकार के जनतन्त्रों में दबाव समूहों का इतना प्राचुर्य व प्राधान्य है कि राज्य के प्रशासकीय अंगों का सीधा सम्बन्ध अब व्यक्तियों से नहीं वरन् समूहों से हो गया है। पहले स्पेन्सर के शब्दों में यदि ''व्यक्ति बनाम राज्य'' का सिद्धान्त माना जाता था, तो अब, जैसा वार्कर ने कहा है, स्थिति ''समूह बनाम राज्य'' की होती जा रही है। समूह-संगठनों की शक्ति इतनी प्रबल हो गई है कि एक इकाई के रूप में अब व्यक्ति का उतना महत्त्व नहीं रह गया है, जितना उन्नीसवीं शताब्दी में उपयोगितावादी व व्यक्तिवादी विचारक मानते थे। अब व्यक्ति उपभोक्ता, उत्पादक, श्रमिक, कर्मचारी आदि के रूप में अधिक तथा व्यक्ति के रूप में कम जाना जाता है तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रश्न का स्थान अब समूहों की स्वतन्त्रता के प्रश्न ने ले लिया है।

दबाव समूहों की संख्या व उनके महत्त्व में हुई इस प्रकार की वृद्धि के कारण राजनीतिक प्रक्रिया की दृष्टि से उनके क्रियाकलाप का बड़ा महत्त्व हो गया है। राजनीतिक प्रक्रिया में इन समूहों की भूमिका वस्तुत: इतनी महत्त्वपूर्ण रहती है कि शासन के समक्ष प्रस्तुत कोई भी माँग अथवा कोई भी शासकीय नीति किसी न किसी रूप में किसी एक या एक से अधिक समूहों से सम्बन्धित होती है। अत: उनसे सम्बन्धित परिणामों को अपने पक्ष में करने के लिए प्रत्येक समूह कुछ तकनीकों एवं विधियों को अपनाता है। लक्ष्य प्राप्ति हेतु अपनाई गई ये विधियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं। पहले प्रकार में वे विधियाँ सम्मिलित हैं जिनके माध्यम से कोई समूह शासकीय नीतियों को सीधे प्रभावित करने की कोशिश करता है तथा दूसरे प्रकार में वे विधियाँ सम्मिलित हैं जिनके माध्यम से कोई समूह शासकीय नीतियों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। सीधे प्रभाव डालने के लिए समूह व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और नौकरशाही से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जब प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा सफल होने की आशा नहीं होती, तब वे निर्वाचन, राजनीतिक दल एवं जनमत के माध्यमों के सहारे शासकीय नीतियों व निर्णयों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। पर दोनों ही प्रकार से प्रभाव डालने के उनके प्रयास काफी सीमा तक समूहों की सदस्य संख्या, उनके आर्थिक साधनों और लक्ष्यों की प्रकृति

आदि पर निर्भर होते हैं और उसी के अनुसार उन्हें सफलता प्राप्त होती है राजनीतिक प्रक्रिया में जिन अभिकरणों का हाथ रहता है, उनके सम्बन्ध में समूह जिस कार्य-प्रणाली को अपनाते हैं, उसके विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

दबाव समूह व्यवस्थापिका

शासन की अधिकांश नीतियों को कानून का रूप दिया जाता है। अत: दबाव समूहों का प्रयास होता है कि कानून उनके हित में बने, इसके लिए सीधा विधायकों को ही प्रभावित किया जाए। इसके लिए चुनाव में प्रचार और आर्थिक सहायता के द्वारा विधायकों को अपने आश्रित बना लेते हैं। बड़े समूह इस ढंग से एक से अधिक विधायकों को अनुग्रहीत करते हैं। इन समूहों की कृपा कभी-कभी विधायकों पर इतनी अधिक हो जाती है कि विधायकों का लगाव दलों की अपेक्षा दबाव समूहों से अधिक हो जाता है। अमेरिका के दबाव समूहों व वहाँ के विधायकों के बीच विद्यमान सम्बन्धों को हम इसके उदाहरण स्वरूप ले सकते हैं। अमेरिका में; जैसा डी.एम.बर्मन ने कहा है ''कांग्रेस (विशेषकर प्रतिनिधि सभा) के सदस्य अपने को दबाव समूहों के पंजों में दबा हुआ महसूस करते हैं। अपने दल के आदेशों के मुकाबले इन दबाव समूहों के आदेशों का उन्हें अधिक ध्यान रखना होता है। इस स्थिति की उत्पत्ति की कहानी बड़ी सरल है। कांग्रेस के सदस्य अपने चुने जा सकने की सम्भावना पक्की करना चाहते हैं। चुनाव प्रचार में धन की आवश्यकता होती है। अत: सदस्यों को सदैव धन की तलाश होती है, जो उनके दल के पास नहीं होता। विवश होकर उन्हें दबाव समूहों के पास जाना पड़ता है तथा वहाँ से धन प्राप्त करने की कीमत उन्हें चुकानी ही होती है।''[1]

विधायकों को प्रभावित करने की प्रक्रिया अलग-अलग राष्ट्रों में अलग-अलग प्रकार की हो सकती है। ब्रिटेन एवं भारत जैसे शासनों में जहाँ विधायक पर दल का प्रभाव अधिक होता है, दबाव समूह राजनीतिक दलों को ही प्रभावित करने की कोशिश करते हैं। पूरा दल प्रभाव में न आ सके तो अन्तर्दलीय गुटों या प्रभावशाली नेतृत्व को अपनी ओर किये जाने के प्रयास किये जाते हैं। उनके माध्यम से कोई नया कानून बनाये जाने या निर्माणाधीन कानून में संशोधन के प्रयास किये जाते हैं। अमेरिका जैसी अध्यक्षात्मक व्यवस्थाओं में जहाँ दल का अनुशासन उतना कठोर नहीं होता, कांग्रेस सदस्यों को निजी रूप से भी प्रभावित करने के प्रयास किए जाते हैं, जिससे वे दल की इच्छानुसार न चलकर दबाव समूहों की इच्छानुसार मतदान करें। अमेरिका में चूँकि कांग्रेस की समितियाँ अधिक शक्तिशाली हैं, अत: अनेक बार प्रस्तावित विधेयक में वांछित संशोधनों के समावेश का प्रयास वहाँ समिति स्तर पर किया जाता है। समिति स्तर पर ऐसे प्रयास संसदीय शासनों में पर्याप्त रूप में होते हैं। वस्तुत: विधायकों को समितियों में भेजे जाने का उद्देश्य ही यह

---

1. D.M. Berman, Quoted by J.C. Johari, *op. cit.*, p. 15.

होता है कि विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ मालूम हो सकें क्योंकि ऐसी प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति शक्तिशाली समूहों के माध्यम से अधिक सफलतापूर्वक होती है।

दबाव समूह और कार्यपालिका

संसदीय शासनों में और कुछ सीमा तक अध्यक्षात्मक शासनों में भी विधेयकों का प्रारूप कार्यपालिका द्वारा तैयार किया जाता है। बजट-निर्माण, कर प्रस्ताव, महत्त्वपूर्ण पदों के लिए नियुक्तियाँ आदि से सम्बन्धित विभिन्न कार्यों में भी कार्यपालिका की भूमिका प्रमुख होती है। अत: जो दबाव समूह सीधे सम्पर्क स्थापित कर पाते हैं वे कार्यपालिका के माध्यम से अपना हित साधन करवाना अधिक पसन्द करते हैं। जो समूह स्वयं कार्यपालिका को प्रभावित करने में असमर्थ होते हैं, वे प्रचार, प्रदर्शन, हड़ताल, विरोधी दलों का आश्रय आदि जैसी तकनीकों के माध्यम से अपने हित साधन का प्रयास करते हैं। व्यवस्थापिका सभाओं में सदस्यों द्वारा प्रश्नों व ध्यानाकर्षण प्रस्तावों आदि के द्वारा भी कभी-कभी कार्यपालिका को प्रभावित करने की कोशिश की जाती है। स्वयं कार्यपालिका भी विधि-निर्माण के समय विभिन्न हितों की स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं का ध्यान रखती है तथा उन्हें जानने के लिए कभी-कभी उन्हें आमन्त्रित कर उनके सुझाव भी माँगती है। ऐसा विशेषत: श्रमिकों, उद्योगपतियों, व्यापारियों और कर्मचारियों के संघों के सन्दर्भ में किया जाता है, क्योंकि ये समूह बड़े शक्तिशाली होते हैं और किसी कानून के पारित हो जाने के बाद भी वे उसके क्रियान्वय को असम्भव बना देते हैं। विभिन्न मन्त्रालयों के साथ सम्बद्ध परामर्शदात्री समितियाँ भी इस दृष्टि से बड़ी सहायक होती हैं। इस सम्बन्ध में हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक स्थिति में दबाव समूह ही कार्यपालिका को प्रभावित करते रहते हों ऐसी बात नहीं है। अनेक अवसरों पर कार्यपालिका भी आग्रह, प्रचार, दबाव आदि माध्यम से दबाव समूहों की प्रतिक्रियाओं में वांछित परिवर्तन करा लेती है।

दबाव समूह और कर्मचारीतन्त्र

प्रत्येक कानून तभी प्रभावी होता है, जब उसका क्रियान्वय पूरे व सही ढंग से हो। कानूनों का क्रियान्वय व उनका पालन कराना कर्मचारीतन्त्र का काम है। कर्मचारीतन्त्र के उच्च अधिकारी विधि निर्माण में भी भाग लेते हैं। अत: जो समूह व्यवस्थापिका अथवा कार्यपालिका को प्रभावित करने में किसी कारण से असफल रहते हैं, वे प्रशासनिक स्तर पर अपने हित-साधन का प्रयास करते हैं और इस प्रकार के व्यावहारिक रूप में कानून को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि तकनीकी ज्ञान और समयाभाव के कारण व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों में कुछ कमियाँ रह जाती हैं तथा उन्हें पूरा करने के लिए तथा उनके क्रियान्वय के लिए कर्मचारीतन्त्र द्वारा नियम व उपनियम बनाये जाते है। ऐसी परिस्थितियों में कर्मचारीतन्त्र को पर्याप्त अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। विधि निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन के सम्बन्ध में तकनीकी ज्ञान की श्रेष्ठता के कारण उच्चस्तरीय अधिकारियों की स्थिति कभी-कभी मन्त्रियों से अधिक महत्त्व की होती

है और उनके परामर्श को मन्त्री भी सहजता से टाल नहीं सकते। **जोजफ चैम्बरलेन** ने इंग्लैण्ड के कर्मचारीतन्त्र को सम्बोधित करते हुए कहा था कि "इस सम्बन्ध में मेरा सन्देह पक्का नहीं है कि आप (कर्मचारीगण) हमारे (मन्त्रियों के) बिना काम चला सकते हैं। परन्तु मैं पूर्णत: आश्वस्त हूँ कि हम आपके बिना काम नहीं चला सकते।"[1] भारत में अनेक ऐसे उदाहरण हमारे सामने हैं, जिनमें कर्मचारी तन्त्र के सहयोग के बिना योजनाएँ सफल नहीं हो पाई हैं। कर्मचारीतन्त्र का प्रभुत्व वस्तुत: सभी देशों में पाया जाता है। अत: दबाव समूह राजनीतिक ढाँचे की इस महत्त्वपूर्ण कड़ी को भी अपने पक्ष में करके अपने हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

कर्मचारीतन्त्र को प्रभावित करने के लिए दबाव समूहों द्वारा विभिन्न तकनीकों का सहारा लिया जाता है। इनमें वार्ता, परामर्श आदि शान्तिमय एवं उग्र प्रदर्शन, आतंक, घेराव, रिश्वत आदि जैसी हिंसात्मक व अवांछित तकनीकें हैं। दबाव समूहों के उद्देश्यों की पूर्ति में इसका बड़ा महत्त्व है कि किस समय कौनसी तकनीक अपनाई जाती है। दबाव समूहों के उद्देश्यों की सिद्धि तकनीकों के अतिरिक्त उद्देश्य के स्वरूप पर भी निर्भर करती है। उदाहरणार्थ जो उद्देश्य कर्मचारीतन्त्र की क्षमता के बाहर के होते हैं या जिनके बारे में विपरीत दबावों की सम्भावना होती है, उनकी सिद्धि में सफलता संदिग्ध रहती हैं।

दबाव समूह और निर्वाचन

उपर्युक्त सन्दर्भ में हमने देखा कि दबाव समूह प्रत्यक्ष रूप में अपना प्रभाव किन-किन बिन्दुओं पर डालते हैं। परन्तु कभी-कभी विपरीत दबावों या सम्पर्क सुविधा के अभाव अथवा अन्य किसी ऐसे ही कारणवश दबाव समूह प्रत्यक्ष दबाव द्वारा अपने उद्देश्यों की सिद्धि करने में असफल रहते हैं। ऐसी स्थिति में वे चुनावों के अवसर पर संख्यात्मक अथवा आर्थिक शक्ति के बल पर राजनीतिक प्रक्रियाओं को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। जाति, प्रजाति, सम्प्रदाय, वर्ग आदि की संख्यात्मक शक्ति एवं धन के बल पर सर्वप्रथम वे इस बात का प्रयत्न करते हैं कि राजनीतिक दलों, विशेषकर शासक या सम्भावित शासक दलों के प्रत्याशियों की सूची में उनके समर्थकों के नाम सम्मिलित हों। इसके लिए वे पहले दलों से आग्रह करते हैं। पर यदि दल उनका आग्रह न माने तो वे उनके विरुद्ध प्रचार करते हैं। वे निजी तौर पर समर्थन के आश्वासन द्वारा भी प्रत्याशियों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते हैं। चुनाव लड़ना ज्यों-ज्यों मँहगा हो रहा है, दबाव समूहों का महत्त्व भी उतना ही बढ़ रहा है। चूँकि प्रचार में धन का उपयोग बढ़ता जा रहा है, अत: समृद्ध दबाव समूहों का महत्त्व भी अधिक होता जा रहा हैं, क्योंकि प्रत्याशियों को उनके धन पर निर्भर होना पड़ता है तथा चुनाव जीतने पर उन्हें धनदाता समूह की इच्छा के अनुकूल चलना पड़ता है। यद्यपि यह बात ऊपर से स्पष्ट दिखाई नहीं देती फिर भी यह

---

1. "I have a shrewd suspicion that you can do without us (ministers) But I have an absolute conviction that we could not do without you."
—Citation from C.W. Boyd (ed) *Speeches* VII, p. 7.

खुला रहस्य है। अमरीका में जीवन बीमा अध्यक्षों के संघ के लिए निर्वाचित एक प्रतिनिधि ने अपने से उच्च अधिकारी को लिखा था कि 'हमारी पद्धति यह है कि चुनावों से पूर्व हम कुछ प्रत्याशियों में रुचि लेते हैं, निर्वाचित होने में उनकी मदद करते हैं और तब हम उनके अहसानमन्द हों, इसके बजाय वे हमारे अहसानमन्द होते हैं। यही सारा रहस्य है।''[1] अमरीका के जीवन बीमा अध्यक्षों के संघ के प्रतिनिधि के इस कथन से यह स्पष्ट है कि किस प्रकार दबाव समूह निर्वाचन के माध्यम से राजनीतिक स्थिति को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं।

दबाव समूह और राजनीतिक दल

दबाव समूह के सबसे अधिक घनिष्ठ एवं उलझे हुए सम्बन्ध यदि किसी अन्य समूह से होते हैं तो वे राजनीतिक दलों से होते हैं। दबाव समूहों तथा व्यवस्थापिका, कार्यपालिका या प्रशासन के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्धों को संवैधानिक एवं नैतिक दृष्टि से आपत्तिजनक माना जा सकता है। पर राजनीतिक दलों से इनके सम्बन्धों के विषय में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती है। इसका कारण यह है कि श्रमिक, युवक, नारी, दलित तथा ऐसे ही अन्य वर्गों के संगठनों में राजनीतिक दल स्वयं रुचि लेते हैं तथा बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। ये वर्ग भी अपनी ओर से राजनीतिक दलों का नेतृत्व प्राप्त करते हैं। जिससे उन्हें अनुभव, आर्थिक साधन और देशव्यापी मंच सरलता से प्राप्त हो सके। इसके अतिरिक्त कुछ दल विभिन्न दबाव समूहों से मिलकर बनते हैं। ब्रिटेन का श्रमिक दल इसका एक सर्वोत्तम उदाहरण है क्योंकि इसका निर्माण अनेक श्रमिक संगठनों के संयुक्त संघ के रूप में हुआ था। भारत में पूर्व में अस्तित्व में रही स्वतन्त्र पार्टी भी ऐसा ही उदाहरण है क्योंकि वह भी उद्योगपतियों और कृषकों के संगठनों के संयुक्त संघ के रूप में अस्तित्व में आई थी। ऐसे दल जब तक अपना स्वतन्त्र आधार नहीं खोज लेते हैं, अपने जनक संगठनों पर निर्भर रहते हैं। कुछ दबाव समूहों का संगठन राजनीतिक दलों की पहल पर बनता है। अत: ऐसे समूह अपने जनक दलों पर निर्भर रहते हैं।

दबाव समूहों व राजनीतिक दलों के सम्बन्ध में विषय में जैसा ब्लौण्डेज का मत है, सही स्थिति पारस्परिक निर्भरता की है, क्योंकि दबाव समूहों पर दलों की अत्यधिक निर्भरता अथवा दलों पर दबाव समूहों की अत्यधिक निर्भरता दोनों ही वांछित नहीं है। यह स्थिति पश्चिम के अधिकांश औद्योगिक प्रजातन्त्रों में ऐसी ही है साम्यवादी अधिनायकतन्त्रीय देशों में दबाव समूह दलों के अधीन होते है तथा वहाँ राजनीतिक दल दबाव समूहों को निर्देशित एवं नियन्त्रण करते हैं।

---

1. In this connection David Truman quotes the representative having written to his officer as under:
"........................the method is to interest ourselves in key men before they are elected, help them to be elected and then they owe us something instead of our owing them. That is the whole secret."
—Truman' *op. cit.* p. 291.

दबाव समूहों व राजनीतिक दलों के सम्बन्ध के विषय में एक बात ध्यान देने की यह भी है कि सदा ही न तो दबाव समूह राजनीतिक दलों के आश्रित रहते हैं और न राजनीतिक दल ही दबाव समूहों के आश्रित रहते हैं। समूहों की पहल से बने राजनीतिक दल अथवा राजनीतिक दलों की पहल से बने हुए दबाव समूह दोनों ही सदा पहलकर्त्ता संगठन के आश्रित नहीं रहते, वरन् धीरे-धीरे दोनों के ही अस्तित्व का महत्त्व हो जाता है तथा कालान्तर में परिणाम यह होता है कि राजनीतिक दल और दबाव समूह दोनों ही अन्योन्याश्रितता के स्थान पर पारस्परिक निर्भरता की स्थिति में आ जाते हैं। इस प्रसंग में यदि हम कुछ प्रमुख देशों की स्थिति का चित्रण करना चाहें, तो उसे हम निम्न रेखाचित्र के रूप में कर सकते हैं—

समूहों व राजनीतिक दलों के सम्बन्ध का परिवर्तन-क्रम
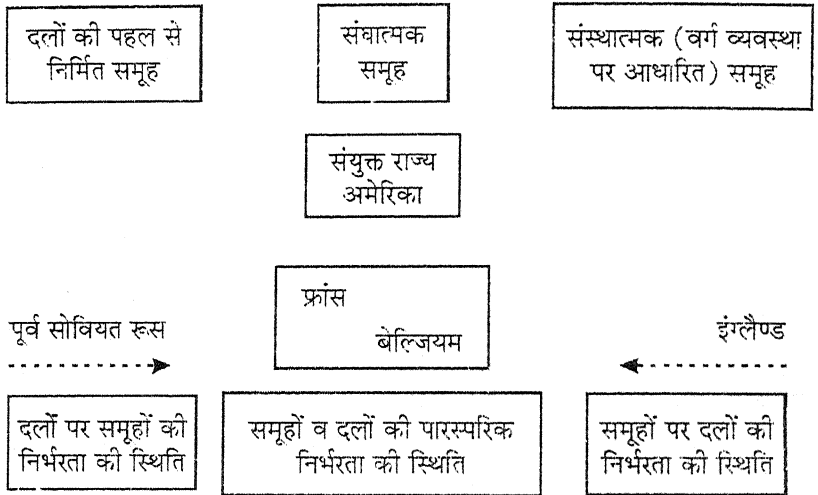
जैसा उक्त रेखाचित्र से स्पष्ट है—पूर्व सोवियत रूस एक ओर उस स्थिति के उदाहरण के रूप में है, जिसमें समूहों का निर्माण राजनीतिक दलों की पहल से होने के कारण प्रारम्भ में उनका सम्बन्ध क्रमशः आश्रित व आश्रयदाता का होता है तथा कालान्तर में उनका सम्बन्ध पारस्परिक निर्भरता का हो जाता है। इंग्लैण्ड दूसरी ओर उस स्थिति के उदाहरण के रूप में है, जिसमें दलों का निर्माण समूहों की पहल से होने के कारण प्रारम्भ में दोनों का सम्बन्ध क्रमशः आश्रित व आश्रयदाता का होता है तथा कालान्तर में उनका सम्बन्ध भी पारस्परिक निर्भरता का हो जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस व बेल्जियम

को हम उस मध्यम स्थिति के रूप में ले सकते हैं, जिसमें समूह व दल दोनों ही न्यूनाधिक रूप से लगातार पारस्परिक निर्भरता की स्थिति में रहते हैं।

दबाव समूह व राजनीतिक दलों के सम्बन्धों के विषय में एक बात और भी ध्यान देने की है कि पारस्परिक निर्भरता व सहयोग की दोनों स्थिति भी सदा नहीं रहती। दबाव समूह व राजनीतिक दल दोनों ही वस्तुतः कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में परस्पर स्वतन्त्र होकर तथा कभी-कभी पारस्परिक विरोध में भी कार्य करते हैं। कुछ परिस्थितियों में अनेक दबाव समूह किसी एक दल के बजाय दो या उससे अधिक दलों में अपना कार्य करवाते हैं तथा उसके लिए वे एक से अधिक दलों का समर्थन करते हैं। ऐसा उन देशों में अधिक होता है जहाँ शासक दल बदलते रहते हैं, क्योंकि एक ही दल से सम्बन्धित रहने पर दबाव समूह को भय रहता है कि यदि वह दल बहुमत में न आया तो उसे उपेक्षा अथवा दमन का शिकार होना पड़ सकता है। राजनीतिक जगत आजकल जितना पेचीदगीपूर्ण हो गया है तथा विविध दलों के बीच जितनी शीघ्रता से सन्तुलन बदलता है, उस स्थिति के कारण अधिकांश दबाव समूह अब दो पलड़ों में ही नहीं वरन् अनेक पलड़ों में अपने पैर रखते हैं। अमरीका में ऐसे अनेक दबाव समूह हैं जो समय-समय पर रिपब्लिकन एवं डेमोक्रेटिक दोनों ही दलों के साथ सहयोग करते हैं। भारत में भी उद्योगपतियों के संघ काँग्रेस के अतिरिक्त भारतीय जनता पार्टी, समाजवादी पार्टी, बहुजन समाज पार्टी, अथवा कभी-कभी साम्यवादियों तक को आर्थिक सहायता देते हैं।

दबाव समूह और जनमत

अन्य माध्यमों के अलावा जनमत को अपने पक्ष में करके भी दबाव समूह शासकीय नीतियों को प्रभावित करने एवं अपने हितों की पूर्ति करने का प्रयास करते हैं। शासनतन्त्र पर दबाव डालने में कभी-कभी जनमत की सहानुभूति बड़ी सहायक सिद्ध होती है। पर जनमत को अपने पक्ष में करने की युक्ति की सफलता संचार साधनों के प्रभावी उपयोग पर निर्भर करती है। **चाइल्ड्स** ने ठीक ही कहा है कि "इस युक्ति का सम्बन्ध संचार के साधनों के सर्वाधिक प्रभावी प्रयोग से है। इन संचार साधनों में सामूहिक जनसम्पर्क ही नहीं, अपितु वैयक्तिक सम्पर्क, लघु समुदायों का निर्माण, स्थानीय समाचार पत्र, विज्ञापन पट, रेडियो और दूरदर्शन केन्द्र जैसे प्रसार साधन भी सम्मिलित हैं।"[1] प्रचार या अन्य तकनीकों के द्वारा जनमत जागृत करने का अर्थ प्रायः जनमत की सहानुभूति प्राप्त करना होता है तथा कभी-कभी जनता स्वयम् भी दबाव समूहों की ओर से आन्दोलनों में भाग लेती है। अनेक बार ऐसा भी होता है कि एक दबाव समूह दूसरे दबाव समूह का समर्थन प्राप्त कर लेता है तथा सत्तारूढ़ दल पर दोनों मिलकर दबाव डालते हैं। दबाव समूहों के प्रचार अभियान के

---

1. "The device "is concerned with the most effective use of communication media, not only of mass media. but of personal contact, small groups, local papers, bill boards, radio and television-stations. Childs.

Public Opinion (Von Nortrand, Princeton : 1965) p. 245.

प्रतिकार के लिए आवश्यकतानुसार शासक वर्ग भी अपनी ओर से प्रचार के लिए कदम उठाते हैं। परन्तु शासकीय प्रयासों की औपचारिकता होने के कारण वे प्राय: समूहों के प्रयासों की तरह सफल नहीं हो पाते। शासक दल के लिए स्थिति तब और अधिक जटिल होती है जब विभिन्न दबाव समूह विविध एवं विपरीत दिशाओं में प्रचार अभियान चलाते हैं। हड़ताल, तालाबन्दी, घेराव आदि के अवसरों पर ऐसी ही स्थिति देखने को मिलती है।

समूह सिद्धान्त (Group Theory)

दबाव समूहों से सम्बन्धित विवेचन में जैसा हमने देखा, विभिन्न दबाव समूह विविध तकनीकों के माध्यम से शासन की नीतियों, विधि निर्माताओं तथा प्रशासन को प्रभावित करने के प्रयत्न करते हैं और चूँकि ऐसा सभी समूह करते हैं, अत: उनके बीच परस्पर कड़ी प्रतियोगिता रहती है। समूहों के इस प्रकार के प्रतियोगितापूर्ण क्रिया-कलाप को लेकर कतिपय राजनीतिवैज्ञानिकों ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसे 'समूह सिद्धान्त' (Group Theory) कहते हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन है कि **चूँकि प्रत्येक राजनीतिक समाज में विविध समूहों के हित विविध प्रकार के होते हैं, ये समूह शासन की नीतियों को विविध दशाओं में प्रभावित करने के लिए सचेष्ट रहते हैं; चूँकि वे दिशायें प्राय: परस्पर विरोधी होती हैं, शासन की नीतियों को प्रभावित करने के प्रयत्न में लगे हुए विविध समूहों में शासन को अपनी-अपनी ओर खींचने की प्रतियोगिता चलती रहती है; चूँकि विविध समूहों की यह प्रतियोगिता प्राय: सदा चलती रहती है और उस प्रतियोगिता के मैदान में नये-नये समूहों के उतरने की सम्भावना भी सदैव बनी रहती है, इन प्रतियोगी समूहों की कार्यप्रणाली की एक ऐसी मर्यादा बन जाती है जिसका पालन उन्हें प्राय: अनिवार्य रूप से करना पड़ता है; चूँकि इस प्रतियोगिता के कारण इन समूहों तथा शासन के बीच सत्ता का एक ऐसा सन्तुलन बन जाता है, जिसके कारण इन समूहों व शासन के द्वारा सत्ता का दुरुपयोग किये जाने की सम्भावना कम हो जाती है; तथा इस प्रकार चूँकि सत्ता का एक सक्रिय सन्तुलन** (dynamic equilibrium) **स्थापित हो जाता है, इन प्रतियोगी समूहों का अस्तित्व लोकतन्त्र के सफल क्रियान्वय के लिए उचित व आवश्यक है।**

अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी में सामाजिक संविदावाद, उपयोगितावाद, आदर्शवाद आदि जिन विचारधाराओं का प्रभुत्व रहा है उन्होंने समूहों के अस्तित्व व उनकी सत्ता को श्रेयस्कर नहीं माना है। आदर्शवाद ने यदि राज्य को पूज्य एवं सर्वश्रेष्ठ संस्था के रूप में माना तथा अन्य सब संस्थाओं को उसका साधन माना, तो शेष अन्य विचारधाराओं ने सामान्यत: राज्य की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया। व्यक्ति को प्रमुख मानने वाली विचारधाराओं के समर्थकों के लिए व्यक्ति ही राजनीतिक विश्लेपण का आलम्बन रहा। इस प्रकार उक्त विचारधाराओं में से कुछ ने यदि समूहों की उपेक्षा की तो कुछ ने उनकी भर्त्सना की। इसके उदाहरण के रूप में हम सामान्य इच्छा (General will) की अवधारणा के प्रतिपादक रूसो को ले सकते हैं, जिसने गुटों की भर्त्सना करते हुए यह

प्रतिपादित किया है कि वे चूँकि राज्य की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न व दूषित करते हैं, "सामान्य इच्छा" के अभ्युदय के लिए यह आवश्यक है कि इन गुटों पर अंकुश लगाया जाए।

विविध समूहों व समुदायों को उचित महत्त्व प्रदान करते हुए उन्हें राज्य के समकक्ष माने जाने का प्रतिपादन सबसे पहले हमें बहुलवाद में मिलता है, जिसकी एक प्रशाखा—दार्शनिक बहुलवाद (Philosophical pluralism)—के प्रणेताओं के प्रतिनिधियों के रूप में हम थामस पेन तथा ड्यूई आदि को ले सकते हैं। दार्शनिक बहुलवादियों के अनुसार, राज्य अन्य संघों व समुदायों की तरह ही एक संघ है। जैसे राज्य की अपनी स्वायत्त स्थिति होती है उसी प्रकार की स्थिति संघों व समुदायों की भी है तथा समूहों, समुदायों या संघों की तुलना में राज्य को कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं हैं। बहुलवादियों के इस प्रतिपादन का उद्देश्य स्पष्टत: राज्य के अधिकारों को सीमित कर सत्ता के दुरुपयोग की सम्भावना को कम करना था। पर अनेक आलोचकों की दृष्टि से यह प्रतिपादन समस्या का हल नहीं है क्योंकि यह प्रतिपादन यथार्थ से दूर तथा केवल कल्पना पर आधारित है। इसके अतिरिक्त, इस विचारधारा के प्रतिपादन के परिणामस्वरूप राज्य अत्यधिक पंगु हो जाता है और श्रेष्ठ मानव जीवन के निर्वाह के लिए उपयुक्त वातावरण के सृजन में उसकी भूमिका बहुत कुछ सीमित हो जाती है।

दार्शनिक बहुलवादियों के विचारों की आलोचना के बाद समूहों का औचित्य सिद्ध करने का एक पुनर्शोधित प्रयास हमें बहुलवाद की उस प्रशाखा में देखने को मिलता है जिसे विश्लेषणात्मक बहुलवाद (Analytical pluralism) कहते हैं तथा जिनके प्रणेताओं में बैंटले, ट्रूमेन, रोबर्ट डहल, लेथम आदि के नाम प्रमुख हैं। उन्होंने समूहों के महत्त्व का प्रतिपादन दार्शनिक आधार पर नहीं, वरन् समाज की वस्तुस्थिति के विश्लेषण के परिणाम के आधार पर किया है। अत: उन्हें विश्लेषणात्मक बहुलवादी कहा जाता है। औद्योगिक विकास के साथ अमेरिका में आर्थिक और व्यावसायिक संघों का विकास जिस तेजी से हुआ और शासन पर इनका प्रभाव जिस प्रकार बढ़ा, उससे राज्य व व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों की न तो वह स्थिति रही, जिसका प्रतिपादन व्यक्तिवाद ने किया था और न राज्य व समूहों के सम्बन्धों की वह स्थिति रही जिसका प्रतिपादन दार्शनिक बहुलवादियों ने किया था। पुराने सिद्धान्त वस्तुत: अप्रासंगिक प्रतीत होने लगे तथा विद्वानों ने अनुभव किया कि राजनीतिक व्यवस्था में व्यक्ति, राज्य एवं समूह तीनों की भूमिका का वह स्वरूप नहीं है, जो उनके पूर्ववर्तियों ने चित्रित किया है। राजनीतिक समाज की वस्तुस्थिति के व्यावहारिक अध्ययनों से यह स्पष्ट हो गया है कि राजनीतिक व्यवस्था के संचालन में समूहों का महत्त्व अत्यन्त विशिष्ट है क्योंकि परस्पर प्रतियोगितारत रहते हुए विभिन्न तकनीकों से वे शासकीय नीतियों को प्रभावित करते हैं। ऐसी स्थिति के होते हुए भी यदि व्यक्तिवाद को राजनीतिक व्यवस्था के विश्लेषण की धुरी माना जाता, तो उसका अर्थ यह होता कि अमरीका पारस्परिक अथवा आदिम समाज में विचरता प्रतीत होता तथा यह स्थिति चूँकि वास्तविकता के विपरीत होती, अत: समूह संगठन को वैध माने जाने की प्रवृत्ति बलवती हुई, जिसके परिणामस्वरूप

बहुलवाद की प्रतिष्ठा फिर से हुई है। पर जैसा पहले कहा गया है, इस प्रयास के पीछे आदर्श की अपेक्षा विश्लेषण द्वारा यथार्थ को परखने की चेष्टा चूँकि अधिक रही, इसलिए इसे विश्लेषणात्मक बहुलवाद की संज्ञा दी गई।

इस प्रयास के प्रथम दर्शन हमें बेंटले की कृति 'दी प्रोसिस ऑफ गवर्नमेंट' (The Process of Government) में होते हैं, जिसमें उसने यह प्रतिपादित किया है कि राज्य एवं व्यक्ति के बीच सम्बन्धों के निर्धारण में समूहों की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। यह पुस्तक यद्यपि 1906 में प्रकाशित हुई थी, परन्तु इसके बाद काफी समय तक इस दिशा में अन्य कोई विशेष प्रयास नहीं हुए। बेंटले के बाद समूह सिद्धान्त को निश्चित स्वरूप प्रदान करने का कार्य डेविड ट्रूमेन ने अपनी पुस्तक दी गवर्नमेन्टल प्रोसेस 1951 (The Governmental Process, 1951) में किया। ट्रूमेन के अनुसार जन्म से लेकर मृत्यु तक मानव विभिन्न समूहों के सम्पर्क में आता है तथा वे उसके दृष्टिकोण, उसके विश्वास और उसकी मान्यताओं के निर्धारण में बड़ी सशक्त भूमिका अदा करते हैं। ट्रूमेन के अनुसार ऐसे समूहों का रूप भले ही परिवार, मित्रमण्डली अथवा व्यावसायिक, आर्थिक या राजनीतिक समूहों का हो, सर्वव्यापी होता है। ट्रूमेन के अनुसार सभी समूह पूर्णत: संगठित नहीं होते हैं। उनमें से कुछ केवल सम्भावित (Potential) समूह होते हैं, क्योंकि अनौपचारिक व असंगठित होते हुए भी उनमें इतनी क्षमता होती है कि संकट के समय वे संगठित हो जाएं। प्राय: व्यक्ति एक से अधिक संगठनों का सदस्य होता है। औपचारिक रूप से वह कुछ ही संगठनों का सदस्य हो सकता है। पर अनौपचारिक रूप से वह एकसाथ अनेक संगठनों का सदस्य होता है। समूहों व व्यक्ति के बीच के सम्बन्धों की स्थिति वस्तुत: यह होती है कि व्यक्ति एकसाथ ही युवक, जातीय, धार्मिक, क्षेत्रीय, व्यावसायिक, भाषायी, वर्गीय, लोकार्थी, उपभोक्ता, उत्पादक आदि अनेक प्रकार के संगठनों का सदस्य होता है। इन समूहों की उसकी सदस्यता औपचारिक भले ही न हो, किसी संकट या अन्य आवश्यकता के समय उनकी सहानुभूति ऐसे संगठनों के प्रति स्वत: जागृत हो जाती है तथा समूहों की स्थिति इतनी अधिक शक्तिशाली हो जाती है कि कोई शासक या अन्य प्रभुत्वशील वर्ग दूसरे वर्गों के हितों की कीमत पर अपने हितों की पूर्ति वास्तविक तथा सम्भावित दोनों ही प्रकार के खतरे को मोल लिये बिना नहीं कर सकता है।

ट्रूमेन का मत है कि यह स्थिति ऐसी है जो लोकतान्त्रिक व्यवस्था की सुरक्षा और उसके सरल निर्वाह के लिए बड़ी सहायक है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एक से अधिक समूहों का सदस्य होता है, अत: पारस्परिक प्रतियोगितारत समूहों द्वारा खेल के नियमों के पालन में मर्यादा उल्लंघन किये जाने पर वह अपनी ओर से तीव्र प्रतिक्रिया ही व्यक्त नहीं करता, अपितु अपने स्वयं के समूह को भी वह मर्यादा का उल्लंघन नहीं करने देता, क्योंकि उसका अर्थ यह होता है कि अन्य समूहों के सदस्य के रूप में उसके अपने ही हितों को चोट पहुँच सकती है।

ट्रूमेन का प्रतिपादन है कि इस प्रकार की क्रिया व प्रतिक्रिया के प्रचलन से समूहों के पारस्परिक व्यवहार की एक ऐसी मर्यादा बन जाती है, जिसका पालन प्राय: सभी समूहों को अनिवार्य रूप से करना होता है तथा इस स्थिति के कारण किसी भी समूह व शासन

के द्वारा सत्ता के दुरुपयोग की सम्भावनाएँ न्यूनतम रहती हैं। परिणामस्वरूप कोई भी एक समूह अनावश्यक रूप से शक्तिशाली नहीं हो पाता तथा इस प्रकार चूँकि विविध समूहों व शासन के बीच शक्ति का एक सक्रिय संतुलन (Dynamic equilibrium) बना रहता है, लोकतन्त्र खूब फलता-फूलता है। ट्रूमेन ने इस सम्बन्ध में इस बात पर विशेष बल दिया है कि प्रतियोगिता यदि अमर्यादित होगी तो जनतान्त्रिक परम्पराएँ अक्षुण्ण नहीं रहेंगी, वरन् लोकतन्त्र केवल तभी सफल होगा जब समूह प्रतियोगितारत रहते हुए भी परम्परागत नियमों व सीमाओं का ध्यान रखेंगे। "अमेरिकन सिस्टम इन क्राइसिस" (The American System in Crisis) शीर्षक से 1959 में प्रकाशित अपने लेख में ट्रूमेन ने अमेरिका की स्थिति के विषय में इस सम्बन्ध में गहरी शंका व्यक्त की है, यद्यपि उन्होंने यह आशा भी व्यक्त की है कि यदि जन-सामान्य नहीं तो समूहों के नेता अवश्य प्रभुत्वशील वर्गों द्वारा सत्ता का अमर्यादित प्रयोग नहीं होने देंगे।

रॉबर्ट डहल के समूह सिद्धान्त सम्बन्धी विवेचन से प्रतीत होता है कि वह भी सिद्धान्त की उक्त व्याख्या से बहुत कुछ सहमत है। पर उसकी मान्यता यह है कि समूहों की इस प्रतियोगिता से व्यावहारिक रूप में लोकतन्त्र का निर्वाह नहीं हो पाता। डहल के अनुसार राजनीतिक शक्ति, आर्थिक साधन, सामाजिक स्थिति और लोकप्रियता ये सब समूहों को समान रूप से प्राप्त नहीं होता। कुछ वर्गों के पास यदि इनका बाहुल्य होता है, तो कुछ के पास इनका अभाव होता है। अत: सभी समूह समान स्तर पर राजनीतिक प्रक्रियाओं में भाग नहीं ले पाते हैं और समाज में लोकतान्त्रिक समानता की स्थिति नहीं हो पाती। परन्तु फिर भी डहल ने यह माना है कि सत्ता का दुरुपयोग नहीं या नहीं के बराबर होता है, क्योंकि राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि साधन किसी एक वर्ग के हाथ में केन्द्रित नहीं रहते, वरन् कुछ वर्गों के बीच बिखरे रहते हैं। विविध समूहों की प्रतियोगिता इसलिए और भी समाप्त नहीं हो पाती, क्योंकि एक निश्चित अवधि के बाद निर्वाचन के समय हर सत्तारूढ़ दल या गुट को मतदाताओं के समक्ष पुन: उपस्थित होना पड़ता है तथा मतदाताओं द्वारा अस्वीकृत किये जाने के भय से सत्तारूढ़ या अन्य प्रभुत्वशील समूह सामान्य हितों की उपेक्षा नहीं कर पाते। डहल ने फिर भी समूहों के अस्तित्व व उनके क्रियाकलाप सम्बन्धी अपना स्वयं का विश्लेषण उन्हें इतना प्रिय लगा है कि लोकतन्त्र की वर्तमान व्यवस्था को "लोकतन्त्र" के स्थान पर "निर्वाचित बहुलतन्त्र" कहे जाने के लिए उन्होंने बड़ा आग्रह किया है।

शूम्पिटर (Schumpeter) व उसके पश्चात्वर्ती विद्वानों द्वारा जिस प्रक्रियात्मक लोकतन्त्र (Process democracy) का विश्लेषण किया गया है, उसमें भी यही प्रतिपादन किया गया है कि समूहों की प्रतियोगिता के कारण समूहों व शासन द्वारा मर्यादा का उल्लंघन व सत्ता का दुरुपयोग नहीं होने पाता तथा यह स्थिति लोकतन्त्र के सफल क्रियान्वय के लिए बड़ी उपयोगी है तथा प्रतियोगिता का रूप स्वस्थ न रहने से लोकतन्त्र को भय उत्पन्न हो जाता है।

समूह सिद्धान्त के इस विवेचन से जैसा हमने देखा समूह सिद्धान्त के प्रतिपादक दबाव समूहों के अस्तित्व को लोकतन्त्र की सफलता के लिए अनुकूल मानते हैं। परन्तु उनके इस सिद्धान्त की भी कटु आलोचना हुई है। उसके आलोचकों में सी. राइट मिल्स (C. Wright Mills) व हण्टर (Hunter) जैसे अभिजात्यवर्गीय सिद्धान्तवादी विचारक तथा कार्ल फ्रेडरिक जैसे विद्वान भी हैं, जो राजनीतिविज्ञान की दार्शनिक परम्परा के विचारक माने जाते हैं। इन सबका मुख्य तर्क यह है कि विविध समूहों के बीच साधनों का वितरण समान न होने के कारण प्रतियोगिता समान स्तर वालों के बीच में नहीं होती है और कुछ वर्ग निश्चित ही अपेक्षाकृत अलाभकारी स्थिति में रहते हैं। इस खतरे के विषय में आगाह करते हुए **कार्ल फ्रेडरिक** ने लिखा है कि, ''जहाँ विभिन्न हित अत्यन्त अधिक विभक्त हैं, वहाँ इनमें से कुछ समूहों ने आगे बढ़कर शासन पर अपना नियन्त्रण कर लिया है तथा अपनी आवश्यकताओं व विचारों के अनुरूप शासन में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर लिये हैं। ऐसे प्रयासों में ऐसी अधिनायकवादी विधियों तथा शासन को ऐसी क्रूर तकनीकों का प्रयोग किया गया है जो संवैधानिक मर्यादाओं की मूल सीमाओं का ही उल्लंघन करती है।''[1] 1960 से 1969 तक के दशक के बाद की घटनाओं से उक्त आलोचनाओं के औचित्य को ही बल मिला है। विविध समूहों द्वारा अपने-अपने हितों की दृष्टि से शासक की खींचतान तथा उसके प्रसंग में शासन की ओर से की गई महान भूलें और शक्ति के दुरुपयोग की जो घटनायें सामने आयी हैं, उनसे समूह-सिद्धान्त का यदि परित्याग नहीं तो परिशोधन अवश्य ही अपेक्षित प्रतीत होता है।

❑❑❑

1. "Where the interests are sharply divided certain of these groups have proceeded to take over the government and to revolutionise it in such a way as to suit their particular needs and conceptions. Such efforts have been accompanied by dicatatorial methods—relapses into crude techniques of government which violate the fundamental premises of constitutional limitations."

—Carl J. Fredrich : *Constitutional Government and Democracy* (Oxford and I BH, Indian Ed. 1966), p. 484.

10
लोकमत

"सभी सरकारें चाहे वे कितनी ही दूषित क्यों न हों, अपनी शक्ति के लिए लोकमत पर निर्भर होती हैं।"
—ह्यूम

राजनीतिक दृष्टि से आधुनिक युग लोकतन्त्र का युग है। लोकतन्त्र से तात्पर्य लिंकन के शब्दों में जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता के शासन से होता है। लोकतन्त्रात्मक सरकार के लिए तो लोकमत अपरिहार्य है ही, अन्य प्रकार के शासनों के लिए भी लोकमत की आवश्यकता किसी न किसी रूप में पड़ती ही है, क्योंकि प्रत्येक प्रकार के शासक को शासन के संचालन में लोकमत का ध्यान रखना पड़ता है। यदि सरकार का रूप एकतन्त्र अथवा राजतन्त्र है, तो भी शासन के लिए लोकमत का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक होता है। यह जानना उसका कर्त्तव्य है कि जनता उसके शासन के बारे में क्या सोचती है, अन्यथा वह अपने शासन की त्रुटियों को दूर करने में और विरोधी प्रवृत्तियों के उत्तेजित होने से पूर्व उन्हें रोकने में सफल नहीं हो सकेगा और सम्भव है कि उसे विद्रोह का सामना करना पड़े। यदि किसी देश में विदेशी शासन है, तो उसके लिए लोकमत का ज्ञान और भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि लोकमत की नाड़ी के ज्ञान के बिना वह शासन स्थापित नहीं रह सकता। विदेशी शासन बिना लोकमत की सहायता के अधिक दिन तक नहीं चल सकता, भारत में अंग्रेजी राज्य का इतिहास इसका साक्षी है। यदि सरकार लोकतन्त्रात्मक है तब तो शासनकर्ताओं के लिए लोकमत का ज्ञान अनिवार्य होता ही है, क्योंकि लोकतन्त्रीय शासन में सरकार जनता की इच्छा के अनुसार ही चलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकमत का महत्त्व सभी प्रकार की सरकारों के लिए अत्यधिक है। यहाँ हम लोकमत क्या होता है और उसका निर्माण कैसे होता है आदि लोकमत से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करेंगे।

लोकमत की परिभाषा

यों तो लोकमत के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि जनता की राय को लोकमत कहते हैं। किन्तु इतना ही कहने से लोकमत का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो

पाता। लोकमत क्या है, इस सम्बन्ध में अनेक विचारकों ने विभिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। उदाहरणार्थ, लॉर्ड ब्राइस ने लोकमत की परिभाषा करते हुए कहा है कि "समाज पर प्रभाव डालने वाले अथवा उसके हितों से सम्बन्धित प्रश्नों के विषय में मनुष्यों की जो धारणाएँ होती हैं, उन्हीं के योग के अर्थ में साधारणतया इस शब्द (लोकमत) का प्रयोग किया जाता है। इस दृष्टि से यह सब प्रकार की भ्रान्त धारणाओं, विश्वासों, कल्पनाओं, विचारों तथा आकांक्षाओं का एक सम्मिश्रण होता है।"[1] इस प्रकार इस विचार के अनुसार लोकमत जनता का निश्चित मत न होकर जन-समुदायों की ऐसी अस्पष्ट इच्छाओं, विश्वासों, नीतियों तथा रचनात्मक आकांक्षाओं का योग होता है जिनका आधार सार्वजनिक हित साधना हो। **जिन्सबर्ग** के शब्दों में, "लोकमत का अभिप्राय समाज में प्रचलित उन विचारों और निर्णयों के पुंज से होता है, जो न्यूनाधिक निश्चित रूप से प्रतिपादित होते हैं, जिनमें से कुछ में स्थायित्व होता है और जिनको मानने वाले लोग उन्हें इस अर्थ में सामाजिक समझते हैं कि वे अनेक मस्तिष्कों द्वारा एकसाथ विचार किये जाने के परिणाम हैं।"[2] इस परिभाषा में लोकमत के स्थायित्व और उनकी सामाजिकता पर अधिक बल दिया गया है। इसी प्रकार की अन्य परिभाषाएँ भी हो सकती हैं, पर लोकमत वास्तव में क्या है, यह जानने के लिए हमें उसकी कुछ अन्य विशेषता को समझना होगा जो निम्न प्रकार हैं—

(1) लोकमत की प्रथम विशेषता यह होती है कि वह जनसाधारण का मत होता है। किसी वर्ग अथवा कुछ व्यक्तियों का मत लोकमत नहीं हो सकता।

(2) उसकी दूसरी विशेषता यह होती है कि वह विचारों के अस्थिर आवेग मात्र पर आधारित नहीं होता, अपितु वह जनता का स्थायी मत होता है। स्थायित्व लोकमत का आवश्यक गुण है और वही मत वास्तव में लोकमत हो सकता है जो प्रायः स्थायी प्रकृति का हो।

(3) लोकमत की तीसरी विशेषता लोक-कल्याण की भावना होती है। उसके आधार पर पक्षपात या द्वेष नहीं हो सकता। वह कुछ लोगों के हितों में अथवा कुछ के अहित में नहीं हो सकता। लोकमत जिसे जनता का मत कहा जाता है, जनता के हित के लिए होना चाहिए। **बेनीप्रसाद** ने कहा है "वही मत वास्तविक लोकमत होता है, जो जन कल्याण की भावना से प्रेरित होता है।" **लॉबेल** के अनुसार भी लोकमत के लिए "बहुमत

---

1. "The term is commonly used to denote the aggregate of the view men hold regarding matters that effect or interest the community. Thus understood, it is a mixture of all sort of different notions, beliefs, fancies, prejudices, aspirations." —Bryce

2. "By Public opinion is thus meant the mass of ideas and judgments operative in a community which are more or less definitely formulated and have a certain stability and are felt by the people who entertain or hold them to be social in the sense that they are the result of many a mind acting in common."

—Ginsberg : *The Psychology of society*, p. 141.

यथेष्ट नहीं है और सर्वसम्मति की भी आवश्यकता नहीं है। किन्तु मत ऐसा होना चाहिए कि चाहे अल्पसंख्यकों ने उससे सहमति प्रकट न की हो, तब भी वे उसे भय से नहीं विश्वास से मानने के लिए तैयार हों।" यह चूँकि तभी सम्भव हो सकता है, जब वह मत सार्वजनिक हित में हो; अत: लोक-कल्याण की भावना को लोकमत की एक आवश्यक विशेषता समझना चाहिए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि लोकमत सार्वजनिक मामलों पर जनता का वह मत है, जो किसी समुदाय अथवा वर्ग विशेष का न होकर जन-साधारण का हो, जो किसी क्षणिक आवेग का परिणाम न होकर स्थायी हो और जिसमें लोक-कल्याण की भावना निहित हो।

लोकमत और बहुमत

लोकमत क्या है इसे ठीक से समझने के लिए यह भी आवश्यक है कि लोकमत, बहुमत और सामूहिक मत का पारस्परिक भेद समझ लिया जाए। यदि उनमें लोक-कल्याण की भावना निहित हो, तो बहुमत और सामूहिक मत भी लोकमत का स्थान ग्रहण कर सकते हैं, पर वह मत जिसमें लोक-कल्याण का विचार नहीं होता अथवा जो अल्पसंख्यकों के हितों की उपेक्षा करता है, लोकमत नहीं हो सकता। वह केवल बहुमत होता है। इसी प्रकार यदि लोकमत सम्पूर्ण जनता के हित में नहीं होता तो वह एक समूह का मत होता है, लोकमत नहीं। लोकमत और बहुमत अथवा सामूहिक मत में ही अन्तर नहीं होता, अपितु लोकमत और सर्वसम्मति में भी अन्तर होता है। साधारणत: सर्वसम्मति उस मत को कहते हैं, जिसमें सभी एकमत हों, पर लोकमत के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सर्वसम्मत ही हो। इसी प्रकार किसी लोकमत पर सर्वसम्मति हो सकती है, किन्तु किसी विषय-सम्बन्धी लोकमत के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह सर्वसम्मत ही हो। वस्तुत: जब कोई समस्या किसी देश के समक्ष प्रस्तुत होती है, तो उस पर सभी ओर गम्भीर विचार और विशिष्ट विवेचन आरम्भ हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप उस समस्या अथवा प्रश्न के सम्बन्ध में कुछ निश्चित दृष्टिकोण और निश्चित धारणाएँ बनने लगती हैं और जनता विभिन्न समुदायों के रूप में उन दृष्टिकोणों और धारणाओं का समर्थन करने लगती है। धीरे-धीरे कालान्तर में ऐसा प्रतीत होता है कि किसी धारणा अथवा दृष्टिकोण का समर्थन जनता का बहुत बड़ा भाग करने लगता है और उसे ही हम लोकमत कहते हैं। उदाहरणार्थ, हम भारत में जमींदारी प्रथा-सम्बन्धी लोकमत को ले सकते हैं। अब से कुछ समय पूर्व भारत में जमींदारी प्रथा प्रचलित थी। पर धीरे-धीरे उसके विषय में यह धारणा बनती गई कि यह हितकर नहीं है और इसकी समाप्ति होनी चाहिए। यद्यपि अब भी कुछ इसके अस्तित्व के पोषक पक्ष हो सकते हैं, किन्तु चूँकि जनता का एक बहुत बड़ा भाग इस मत का है कि यह हितकर नहीं है, अत: यह कहा जा सकता है कि जमींदारी प्रथा भारत के लोकमत के अनुकूल नहीं है।

लोकमत का निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विशिष्ट प्रश्न अथवा समस्या के सम्बन्ध में मतों की विभिन्नता में विचार-विनिमय के परिणामस्वरूप जनता के एक बहुत बड़े भाग

द्वारा समर्थित जो मतैक्य निकलता है, उसे लोकमत कहते हैं। लोकमत के इस प्रकार के निर्माण के कुछ साधन होते हैं, जिनके योग से उसका निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति होती है। उन साधनों को हम निम्न प्रकार रख सकते हैं।

मानव तत्त्व—लोकमत के विकास और निर्माण के सबसे पहले साधन के रूप में हम व्यक्तियों की उन तीन श्रेणियों को ले सकते हैं, जो अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार लोकमत के विकास एवं निर्माण में भाग लेती हैं। ऐसे व्यक्तियों की पहली श्रेणी विधायकों, संवाददाताओं या अन्य इसी प्रकार की स्थिति के लोगों की होती है, जो मुख्यत: सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी लेते हैं। यद्यपि ये लोग अत्यन्त अल्प संख्या में होते हैं, तथापि वे ही वस्तुत: वास्तविक लोकमत का निर्माण करते हैं, क्योंकि भाषण अथवा लेखनी द्वारा सार्वजनिक मामलों में वे युक्तियुक्त ढंग से ऐसे विचारपूर्ण मत प्रस्तुत करते हैं, जो सर्वसाधारण की दृष्टि से हितकारी होते हैं और इसलिए सर्वसाधारण को स्वीकार्य होते हैं। दूसरी श्रेणी में वे व्यक्ति होते हैं, जो यद्यपि राजनीतिक चर्चा में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते तथापि सार्वजनिक मामलों को समझ सकते हैं। ऐसे लोग उपर्युक्त श्रेणी में लोगों द्वारा व्यक्त मत को मोड़ने और परिमार्जित करने में सहायक होते हैं। तीसरी श्रेणी के वे शेष लोग होते हैं जो जनता के साधारण व्यक्ति होते हैं और प्राय: अपने से अधिक चतुर लोगों के मत को ही अपना मत बना लेते हैं। इस प्रकार जनता की उक्त तीन श्रेणियाँ तीन भिन्न प्रकार के लोकमत के निर्माण और विकास में सहायक होती हैं।

समाचार पत्र—समाचार-पत्र लोकमत के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। वे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में समाचारों एवं महत्त्वपूर्ण विचारों को छापते हैं, राजनीतिक नेताओं के कथनों का उल्लेख करते हैं विधान सभा की कार्यवाहियों, जन सभाओं के कार्यक्रमों तथा सम्मेलनों तथा परिषदों के निर्णयों को प्रकाशित करते हैं। वे सरकार की आलोचना करते हैं तथा महत्त्वपूर्ण सुझाव देते हैं। वे सरकार और जनता के मध्य एक श्रृंखला स्थापित करते हैं और जनता की आवाज को सरकार तक और सरकार के निर्णयों को जनता तक पहुँचाते हैं। चूँकि वे सरकार और जनता दोनों पर नियन्त्रण रखते हैं, वे एक प्रकार से लोकतन्त्र के नियन्त्रक होते हैं। यद्यपि सभी समाचार-पत्रों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता तथापि न्यायपूर्वक, निष्पक्ष रूप से तथा देश के होकर कार्य करने वाले समाचार-पत्र देश की अमूल्य सेवा करते हैं। यदि सार्वजनिक हित से प्रेरित होकर वे कार्य करें, तो शुद्ध लोकमत के निर्माण में वे देश की अमूल्य सेवा करते हैं।

शिक्षण-संस्थाएँ—अनेक ऐसी शिक्षण-संस्थाएँ भी, जिनमें स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, शिक्षा-समुदाय तथा अध्ययन-मण्डल आदि सम्मिलित हैं, लोकमत का निर्माण करती हैं। उनका कार्य युवकों तथा युवतियों को देश का उत्तम नागरिक बनाना होता है। यहाँ उन्हें सोचना, समझना और कार्य करना सिखाया जाता है। यहीं उन्हें उस ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे वे देश की समस्याओं को समझ सकते हैं। यहीं जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण व्यापक बनता है। ये शिक्षण-संस्थाएँ व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में आधारशिला

का कार्य करती हैं और विद्यार्थियों में नागरिक-भाव और चेतना उत्पन्न करती हैं। आगे चलकर ये ही विद्यार्थी नागरिक बनकर लोकमत का निर्माण करते हैं।

रेडियो व सिनेमा तथा टेलीविजन—लोकमत के निर्माण में रेडियो और सिनेमा तथा टेलीविजन भी महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। जो कार्य पढ़े-लिखे लोगों के लिए समाचार पत्र करते हैं, वही कार्य रेडियो और सिनेमा तथा टेलीविजन अनपढ़ लोगों के लिए करते हैं। रेडियो द्वारा सूचनाएँ और टिप्पणियाँ प्रसारित होती हैं। उसी के द्वारा वार्ताएँ, वाद-विवाद तथा तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर भाषण प्रसारित होते हैं। रेडियो का महत्त्व इसलिए भी बढ़ गया है कि वह सूचना-प्रसार के साथ-साथ मनोरंजन भी प्रदान करता है। रेडियो भी जनता और सरकार के बीच में सम्पर्क का साधन होता है। यद्यपि समाचार-पत्रों की ही भाँति रेडियो का भी सही और गलत दोनों प्रकार का उपयोग हो सकता है तथा यदि रेडियो पर सरकार का नियन्त्रण हो तो सरकार उसे अपने स्वार्थ के लिए भी उपयोग में ला सकती है और लोकमत का मिथ्यारूप जनता के समक्ष रख सकती है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि लोकमत के निर्माण में इनका बड़ा महत्त्वपूर्ण योग होता है। टेलीविजन भी लोकमत निर्माण का महत्त्वपूर्ण साधन है।

रेडियो और टेलीविजन की भाँति सिनेमा भी मनोरंजन के साथ-साथ समाचार, सामान्य ज्ञान और सामान्य शिक्षा का साधन है और वह भी लोकमत का निर्माण करता है। राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित चित्र जनता के मत पर प्रभाव डालते हैं, वे जनता में सामाजिक एवं राजनीतिक मामलों के प्रति रुचि और जागरूकता उत्पन्न करते हैं। चित्र जनता के विचारों के स्तर को उठाने में समर्थ होते हैं। जनता उनसे शिक्षा ही ग्रहण नहीं करती, वरन् यह भी जान लेती है कि समाज में फैली कुरीतियों और बुराइयों को कैसे दूर किया जा सकता है। अस्पृश्यता, जाति-भेद, स्त्री उद्धार और आर्थिक विषमताएँ दूर करने से सम्बन्धित विचारधारा के निर्माण में चल-चित्रों से बड़ी सहायता मिलती है। यदि ठीक है कि वर्तमान चित्रों का स्तर साधारणत: वह नहीं होता जो होना चाहिए। सिनेमा चित्र-निर्माता चित्रों को अपने धनकोष की वृद्धि की दृष्टि से बनाते हैं। आदर्शों की उपेक्षा करके वे ऐसे चित्र बनाते हैं जो मनुष्य के नैतिक स्तर को गिराते हैं। अधिकतर चित्र काम वासना से ओत-प्रोत होते हैं और युवकों और युवतियों के मनों पर कुप्रभाव डालते हैं, पर यदि सिनेमा के चित्र ऐसे बनें जो देश भक्त, सेवा, सच्चाई और ईमानदारी का पाठ पढ़ायें और जिनका स्तर ऊँचा हो, तो सिनेमा द्वारा अच्छी नागरिकता और विशुद्ध लोकमत का निर्माण हो सकता है।

मंच—मंच भी लोकमत के निर्माण का एक उत्तम साधन है। सार्वजनिक समस्याओं पर वाद-विवाद होता है, जिससे जनता राजनीतिक शिक्षा ग्रहण करती है। सरकारी नीति की आलोचना, प्रत्यालोचना, समालोचना और उसके गुण-दोष की विवेचना होती है। ऐसे भाषणों और सभाओं से महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर जनता की चेतना केन्द्रित होती है। इसके द्वारा जनता की अनेक समस्याओं का ज्ञान होता है और विभिन्न महत्त्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में लोकमत का निर्माण होता है। सरकार के समर्थक सरकार के गुणों का उल्लेख करते हैं और उसके

विरोधी उसकी त्रुटियों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं। इस प्रकार जनता को यह अवसर मिल जाता है कि वह दोनों पक्षों को देखकर अपना मत निर्धारित कर सके। इस सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए, कि मंच के ये लाभ जनता को तभी पूर्ण रूप से प्राप्त हो सकते हैं जब जनता शिक्षित हो और उसमें इतनी योग्यता हो कि वह भावावेश और विवेक में, सत्य और असत्य में, उचित और अनुचित में भेद कर सके। उसमें विचार स्वातन्त्र्य की प्रवृत्ति होनी चाहिए और शासन की ओर से भी उन्हें उसका अवसर मिलना चाहिए।

व्यवस्थापिका सभाएँ—व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा लोकमत का निर्माण ही नहीं, अपितु उसकी अभिव्यक्ति भी होती है। इन सभाओं में जो वाद-विवाद होते हैं, उनसे जनता में राजनीतिक समस्याओं के प्रति जागरूकता उत्पन्न होती है। समाचार-पत्रों और रेडियो आदि द्वारा वाद-विवाद सम्बन्धी समाचार जनता तक पहुँचते हैं और जिन्हें अवसर है वे स्वयं बैठकों में उपस्थित होते हैं। इन सदनों में सभी प्रकार की विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व होता है। अत: यहाँ के वाद-विवाद से तत्कालीन समस्याओं के सभी पहलुओं का ज्ञान जनता को होता रहता है और उसे इस बात का अवसर मिलता है कि वह प्रस्तुत समस्याओं तथा प्रश्नों पर अपना मत बना सके। विभिन्न विचारधाराओं के अतिरिक्त विभिन्न भागों के प्रतिनिधि प्रस्तुत समस्याओं और प्रश्नों पर अपने क्षेत्र की जनता के मतों की अभिव्यक्ति करते हैं। इस प्रकार व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा लोकमत का निर्माण भी होता है और उसकी अभिव्यक्ति भी होती है।

राजनीतिक दल—लोकमत के निर्माण में राजनीतिक दलों का भी महत्त्वपूर्ण योग रहता है। आधुनिक जनतन्त्र के युग में ये दल लोकतन्त्र का प्रतिनिधित्व, निर्माण तथा प्रकाशन करते हैं। इनका मुख्य ध्येय सत्ता प्राप्त करना होता है अत: वे अपने अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। ऐसा करने के लिए राजनीतिक समस्याओं के विषय में अपने-अपने दृष्टिकोणों का वे व्यापक प्रचार करते हैं, जिससे जनता को इनके उद्देश्यों का ज्ञान हो जाए और वह इनके दृष्टिकोण को समझ ले। ये भाषणों, विज्ञापनों, लेखों तथा अन्य प्रकार के साधनों द्वारा जनता के समक्ष अपना कार्यक्रम रखते हैं तथा अपनी नीति का प्रकाशन करते हैं। इस प्रकार ये जनता की सहानुभूति प्राप्त करते हैं। ये जनता को तत्कालीन समस्याओं से अवगत कराते हैं और उनसे सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं को जनता के समक्ष रखकर उसे उनके सम्बन्ध में अपना मत बनाने का अवसर प्रदान करते हैं। किसी समस्या के विषय में किसी राजनीतिक दल द्वारा अभिव्यक्त मत का समर्थन जब जनता का एक बढ़ा भाग करने लगता है तब उस दल का कार्य लोकमत का प्रकाशन भी हो जाता है इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि लोकमत के निर्माण तथा प्रकाशन से सम्बन्धित यह कार्य राजनीतिक दल तभी अच्छी तरह से कर सकते हैं। जब ये गुटबन्दी के दलदल से बचे रहें और अपने दृष्टिकोण को संकुचित होने से बचाये रखे।

लोकमत के विकास और निर्माण के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ

लोकमत के निर्माण के उपर्युक्त साधन तभी ठीक से कार्य कर सकते हैं और लोकमत का निर्माण तभी उचित रूप से हो सकता है, जब उसके लिए कुछ आवश्यक परिस्थितियाँ विद्यमान हों। इन परिस्थितियों को संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते हैं—

(1) लोकमत के विकास और निर्माण के लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि जनता सुशिक्षित और समझदार हो और वह सार्वजनिक मामलों में रुचि लेने वाली हो। शासन से सम्बन्धित सार्वजनिक मामलों के सम्बन्ध में अपना मत बनाने के लिए आवश्यक है कि जनता को उन मामलों की पूर्ण जानकारी हो। चूँकि यह जानकारी साधारणत: समाचार-पत्रों और राजनीतिक दलों के प्रचार पत्रों से प्राप्त होती है, अत: यह आवश्यक है कि सार्वजनिक मामलों से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त करने के लिए जनता सुशिक्षित हो, प्रकाशित सामग्री को समझने के लिए सक्षम हो, तथा उसके सम्बन्ध में अपना मत बनाने के लिए विवेकशील हो, अन्यथा स्वस्थ लोकमत का विकास और निर्माण सम्भव नहीं हो सकता। अशिक्षित और नासमझ जनता नेताओं के भाषणों के वाग्जाल तथा मीठे प्रलोभनों में आ जाती है और नेताओं का मत ही लोकमत हो जाता है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि कोरी साक्षर बनाने वाली शिक्षा भी लोकमत के उचित विकास और निर्माण के लिए सहायक नहीं हो सकती। अत: शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जो जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करे और उसे अपने कर्त्तव्यों तथा अधिकाधिक ज्ञान कराये। साथ ही शिक्षा से तात्पर्य यह नहीं होता कि सभी लोग साहित्य और विज्ञान विशारद हों। ऐसा सम्भव भी नहीं है। तात्पर्य इतना ही है कि शिक्षा ऐसी हो जो जनता की सूझबूझ विकसित कर सके और इस योग्य हो सके कि सार्वजनिक मामलों को भली-भाँति समझकर उन पर अपना मत बना सके।

(2) स्वस्थ लोकमत के विकास के लिए दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि समाज में गरीबी अमीरी का अत्यधिक भेद न हो। गरीबी अमीरी के भेद की यह विषमता लोकमत के स्वस्थ विकास में दो प्रकार से बाधक होती है। एक तो जब बहुसंख्यक जनता अत्यधिक निर्धन होती है और जीवन की कठोर आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भी असमर्थ होती है तब उसका धर्म, ईमान, राजनीति सब कुछ रोटी-रोजी ही होती है। ऐसी दशा में उसे सार्वजनिक मामलों में समय देने का अवकाश नहीं मिलता और न वह इस स्थिति में होती है कि वह उन पर स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष रूप से सोच विचार कर सके। साधारणत: उसका मत सभी सार्वजनिक मामलों में वही होता है जो धनिक वर्ग का होता है, क्योंकि प्राय: वह धनी लोगों के पीछे लगती है। इसके अतिरिक्त यदि निर्धन लोगों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता भी उत्पन्न हो जाए और अपनी निर्धनता को दूर करने के लिए वे प्रयत्नशील भी हों, तो उसके परिणामस्वरूप भी स्वस्थ लोकमत का विकास न होकर केवल एक वर्ग मत का विकास होता है और वर्ग संघर्ष की प्रवृत्ति उत्तेजित हो जाती है। इस प्रकार यदि गरीबी-अमीरी का भेद किसी समाज में अत्यधिक हो, तो किसी सार्वजनिक समस्या पर एकमत नहीं हो सकते, अत: स्वस्थ लोकमत का विकास और निर्माण सम्भव नहीं होता।

(3) स्वस्थ लोकमत के निर्माण और विकास के लिए ऐसे समाचार पत्रों की भी आवश्यकता होती है, जो निष्पक्ष और ईमानदार हों—जो झूँठ को झूँठ और सच को सच, उचित को उचित और अनुचित को अनुचित कह सकें, क्योंकि समाचार-पत्रों से प्राप्त समाचारों

के आधार पर ही लोकमत का निर्माण होता है। स्वस्थ लोकमत पर समाचारों और विवेचनाओं का बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि समाचार और विवेचनाएँ समाचार-पत्रों में निष्पक्षता और ईमानदारी से दी जाती हैं, तो स्वस्थ लोकमत का निर्माण होता है। इसके अतिरिक्त समाचार-पत्रों को स्वतंत्र भी होना चाहिए। उन पर सरकारी अथवा गैर-सरकारी किसी प्रकार का अंकुश नहीं होना चाहिए। जिससे वे सार्वजनिक समस्याओं, सरकार के कार्यो, राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों पर स्वतन्त्रतापूर्वक निष्पक्ष विचार व्यक्त कर सकें। इसी प्रकार प्रेस की स्वतन्त्रता एवं निष्पक्षता स्वस्थ लोकमत के विकास एवं निर्माण के लिए भी बहुत आवश्यक है। उसका निष्पक्ष होना अत्यन्त आवश्यक है।